

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

U. G. C BOOKS

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-समाख्यया व्याख्यया च परिगतः

प्रथम उद्योत

व्याख्याकारः

डॉ० रामसागर त्रिपाठी



मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली यादवपुरी गटना बंगलौर मद्रास

द्वितीय संस्करण : १९७३
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९७९, १९८९, १९९५

© मोतीलाल बनारसीदास

बगलो रोड जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७
१२० रॉयपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४
१६ सेंट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
अशोक रावराय, पुणे ८०० ००४
चौक वाराणसी २२१ ००१

नान्दप्रकाश जैन, भातानाथ बनारसीदास, बगलो रोड,
दिल्ली ११० ००७ द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेम
ए-४५ नारायण एज-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

समर्पण

वसुसला-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी
श्रीमती कूशमती देवी की
दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त
यह अभिनव तारावती
छादर समर्पित है ।

है। अतः राजशक्तिपी का यह नयन सत्य सिद्ध होता है कि अज्ञानदर्शन नामीरी राज अस्तित्वमा के समारणित्त ये

धन्वालोच के दो भाग हैं—एक काशिकाभाग और दूसरा खरयाभाग । व्याख्या में इसे कर 'लक, समग्र 'लाक और सगर 'लाको का उदाहरण दिया गया है । व्याख्या भाग के दो नाम प्राप्त हुये हैं—धन्वालोच सङ्ख्यात्मक और काश्यालोच

साहित्य एवं टीकाओं में इस बात में वषट्क मनोहर है कि कारिकाकार और व्याख्यान
 प्रकृत हो रहे हैं। पृथक् पृथक् कतिपय विद्वानों का मत है कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार
 हैं। इसमें एक तो प्रमाण यह है कि कारिकाकार ने मङ्गलाचारण नहीं किया। इसमें प्रकृत
 होता है कि आनन्दवर्धन का मङ्गलाचारण ही ध्वनि कारिकाओं का भी मङ्गलाचारण है और इसमें
 निन्द होता है कि आनन्दवर्धन ही जननिवरण भी है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि तथा आनन्द
 दोनों में विषय भेद नहीं पाया जाता। तीसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन के समसामयिक
 अथवा इनके तत्काल बाद में व्याख्यान में अनेक नए टिप्पणियाँ आचार्य ध्वनि तथा आनन्द की
 प्रकृति का संवेदन करते हैं। महिममठ में व्यक्तिविषय में आनन्द का एक रूप में ही वर्णन किया
 है महिममठ का मत है कि ध्वनि के और आनन्दवर्धन के अलग-अलग समसामयिक थे। इस
 बात का सम्मति होना पड़ेगा। यह सचता। कदम्ब की शक्तिमुखावली में एक टीकाकार
 गया है जिसमें आनन्दवर्धन का ही ध्वनिकार माना गया है। राजनेश्वर ने भी इस पर
 उद्धरण किया है। इसका अभाव यह है कि कदम्ब और राजनेश्वर के मन में कारिकाकार और
 कृतिरत्न नहीं एक ही हैं। इसी प्रकार हमने सुनत्र नदरथ शिवराय, साहित्य और
 सुमंगल नाम इत्यादि आचार्यों ने आनन्दवर्धन का ही कारिकाकार माना है। अनेक
 पद्यों पर आचार्य कारिकाकार और कृतिरत्न का अर्थ मानने के योग्य ही है।

दूसरी ओर कहा जाता है कि आधुनिक मद्रासकरण वह समय सुरुवात का न होना ही हम बात का परिचायक है कि कलकत्ता १८५८ के तत्कालीन कृषिकार हैं। यहाँ कहानि का रिकार्ड के बर्न होना तो मद्रासकरण के तत्कालीन समय में नहीं बल्कि कलकत्ता के प्रारम्भ में दिया गया। इसमें अतिशय दृष्टि के रिकार्डों के प्रारम्भ में १८५८ का समय मद्रास मद्रास नहीं है बल्कि मद्रास के तत्कालीन मद्रास के विषय में है। कलकत्ता तथा कृषि दोनों के विषय का एकत्रितता भी कलकत्ता ही मद्रास कहा है कि दोनों काव्यों का एकत्रितता है। इसमें भी एक मद्रास का परिचायक नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि कृषि के न केवल एक विषय का समावेश कर दिया है बल्कि सब का परिचायक के भी नहीं बना जाता। समय इनके मद्रास का मद्रास का समावेश अवश्य है।

जिन छात्रों ने दाता का चक्रा का संकेत किया है उनमें कुछ ठा वेवत इना कहते हैं कि छात्र-इयन धर्म के अर्थक य । इसका कारण यह है कि नही दाता कि छात्र-इयन

प्राक्कथन

‘ध्वन्यालोक’ काव्यशास्त्र का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जो एक ओर अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों को आलोकित कर उन्हें यथार्थानुसार विन्यस्त करता है और दूसरी ओर समस्त परवर्ती साहित्य शास्त्र पर अपनी प्रकाशारमिषी विकीर्ण करता है। यह युगान्तरकारी रचना है; आलोचनाशास्त्र को नवीन दिशा प्रदान करता है और शास्त्रीयतरंगों को एक व्यवस्थित रूप देता है। लक्ष्य ग्रन्थों की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इस ग्रन्थरत्न में भारतीय साहित्य शास्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है कि इक्ष्वाकु जगत् परोक्ष सत्ता का परिचायक है और इसका उपयोग केवल इतना ही है कि उसमें हमें प्रतीयमान परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्राप्त हो जाता है। अतः जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें इक्ष्वाकु जगत् में ही सन्तुष्ट न रहकर उस परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिये। यही उक्त है जो इक्ष्वाकु को मुकाबरा की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार यदि हम भारतीय साहित्य को ठीक रूप में हृदयङ्गम करना चाहिये तो ध्वन्यालोक का आश्रय अपरिहार्य हो जाता है। साहित्यशास्त्र में तो इसका उतना ही महत्त्व है जितना व्याकरण में पाणिनि का और वेदान्त में वेदान्तभूषण का। इस ग्रन्थ के महत्त्व का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि दुर्दम आलोचक पण्डितराज ने भी सम्मानपूर्वक इसके लेखक को आलङ्कारिकमरणि का व्यवस्थापक माना है।

इस ग्रन्थरत्न की रचना विक्रम नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने की थी। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है कि कामभौर के राजा अवन्ति-वर्मा के समारम्भों में आनन्दवर्धन भी दक्ष थे। यह मान्यता दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध हो जाती है। ध्वन्यालोक में काण्डिदास, पुण्डरीक, वाण, मट्टोद्भट, मामह, मनोरम, सर्वसेन, सावराहन, अमरक और चर्मकीर्ति का नाम आया है तथा मधुमयन विषय, रत्नावली, वापस-वामराज, हर्षचरित, रामायुद्ध इत्यादि छन्दग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में वामन का भी उल्लेख किया गया है। वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्र में शिशुपालवध उत्तर रामचरित तथा काण्डवर्मा से उदाहरण दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वामनाचार्य का समय अष्टमशती का उत्तरार्ध अथवा नवमशताब्दी का पूर्वार्ध है। सोचन इत्यादि ग्रन्थों को देखने से यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नवमशताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टनायक ने हृदय-दर्पण में ध्वन्यालोक का उल्लेख किया था। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय वामन (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) और भट्टनायक (नवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) के बीच में अर्थात् नवम शताब्दी के मध्यभाग में है। यही समय अवन्तिवर्मा के राजवृत्तांत का

ब्रह्मदर्शन के जीवनवृत्त निरूपक अतिथि संकेत भी वन वन प्राप्त होते हैं : इनके सिवा का नाम मन्नेष का जो कि काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे । इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और व्यकरण को ये सभी शास्त्रों का मूर्धन्य मानते थे । इनके बनाये हुए ५ ग्रंथ सुने जाते हैं— (१) ध्वन्यालोक (२) देवीमतक (३) विम वाचष्टोका (४) अर्जुनचरित (५) धर्मोत्तमा नाम को एक विवृति । इन ग्रंथों में ध्वन्यालोक ही इनकी कीर्ति का बीज है । देवीमतक काव्यमाष्टा में प्रकाशित किया गया है । विमवाचष्टोका और अर्जुनचरित बड़ी उपलब्ध नहीं होते । ध्वन्यालोक में ही इन ग्रंथों का उल्लेख पाया जाता है । विनिश्चय टीका की धर्मोत्तर नाम की विवृति का उल्लेख जीवनवृत्त में तृतीय उद्योग के अन्त में किया है ।

ध्वन्यालोक में ४ उद्योग हैं— प्रथम उद्योग में ध्वनि विरोधी सम्भावित पक्षों का उल्लेख कर वनवर पुरा विचार किया गया है । इसी प्रसङ्ग में ध्वनि का स्वरूप बतलाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि ही काव्य का एकमात्र स्रोतक तत्त्व है तथा वनका अन्तर्भाव और नहीं हो सकता । द्वितीय उद्योग में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनिभेदों का निरूपण किया गया है और इसी प्रसङ्ग में रस का स्वरूप तथा रसवत् रथादि बलकारी से रसध्वनि के भेद रथादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है तथा विरोधी सिद्धान्तों का पूर्णरूप में खण्डन किया गया है । इसी उद्योग में गुणों का निरूपण भी किया गया है । तृतीय उद्योग सबसे बड़ा है । इसमें 'व्यंग्यक' की दृष्टि से ध्वनिभेद किये गये हैं । इसी प्रसङ्ग में रीतिवैध और वृत्तिवादी का भी विवेचन किया गया है और माह, प्रामाण्य, तार्किक, वैदन्ती रथादि के सिद्धान्तों में भी ध्वनि की आवश्यकता दिखलाई गई है । चतुर्थ उद्योग में ध्वनिसिद्धान्त की व्याख्या तथा इसके महत्त्व पर विचार किया है और यह दिखलाया है कि यदि प्रथमाधिमान हो तो ध्वनि और गुणीयुक्त व्यंग्य इन सिद्धान्तों का आशय देने से काव्यार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो सकती । ध्वनि का आशय देने से परिचित व्यंग्यार्थ भी वही प्रकार प्रतीत होना लगता है जैसे मनुमास में पुराने भी नये से जान पड़ते हैं । इसी उद्योग में यह सिद्ध किया गया है कि महाप्रकाश में भी अन्धों के रूप में एक ही रस की व्याख्या होती है जैसे महाप्रकाश में शान्त रस की व्याख्या होती है ।

ध्वन्यालोक की एक प्राचीन टीका चन्द्रिका का उल्लेख जीवन में किया गया है तथा जीवन टीका से ही चन्द्रिकाकार और अमिनवर्ण का संगेज होना भी सिद्ध होता है । किन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं होती । ध्वन्यालोक पर प्राचीनतम प्रामाणिक टीका जीवन ही है जो कि अमिनवर्णविरचित की टिप्पणी हुई है । श्री अमिनवर्ण एक महान् दार्शनिक विद्वान् थे । अतः उन्होंने साहित्यशास्त्र में प्रायः टिप्पण जैसे दार्शनिक स्वरूप दे दिया । यह उनकी महत्त्वपूर्ण तथा सत्य टीका है कि हम इसे साहित्यशास्त्र का महामाण्य मटीमार्ग कह सकते हैं

ही कारिकाकार भी थे। महिममठ ने दोनों का समान खण्डन किया है इसका भी यही आशय है कि दोनों का मत एक ही था और एक के खण्डन से दूसरे का खण्डन स्वतः हो जाता है। कुछ लोग भ्रान्त भी हैं जब इस आधार पर कि कुछ लोगों ने दोनों की एकता का प्रतिपादन किया है यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार भी थे।

साल होता है कि जो कारिकायें आनन्दवर्धन को प्राप्त हुई थीं उनकी विचारधारा न तो स्वयम्भूत थी न पूर्ण। उन कारिकाओं को आधार बनाकर आनन्दवर्धन ने एक पूर्ण, व्यवस्थित, समन्वयमूलक और निर्णायक वाक्य सिद्धान्त स्थापित किया। वृत्ति ग्रन्थ इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि परवर्ती आचार्यों ने असन्दिग्ध रूप में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिप्रवर्तक मान लिया तथा कारिकाकार सर्वथा विस्मरणावृत्त हो गये। यही कारण है कि अनेक परवर्ती ग्रन्थों में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहा गया है और कारिकायें आनन्दवर्धन के नाम तथा वृत्ति ग्रन्थ ध्वनिकार के नाम पर उद्धृत किया हुआ पाया जाता है।

प्रथम कारिका का विवेचन और विस्तरेष्य करने से स्पष्ट प्रतीय होता है कि ध्वनिकार कोई भिन्न व्यक्ति थे और उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को स्थापना किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर की थी जिसका परिचय आनन्दवर्धन को नहीं था। छोटनकार ने ध्वनिकार और वृत्तिकार के पृथक्त्व का अनेकशः निर्देश किया है। उन्होंने कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकार और वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकार शब्द का प्रयोग किया है। केवल इतना ही नहीं अपितु उन्होंने कारिकाओं से व्यतिरिक्त अर्थ का भी व्याख्यान वृत्तिग्रन्थ के मौलिक चिन्तन के रूप में निर्देश किया है तथा इसमें कटुमेद का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। एक तो अभिनव गुप्त अधिक प्रबुद्ध चिन्तक हैं और आनन्दवर्धन की परम्परा से परिचित भी अधिक हैं। अतः अन्य आचार्यों की अपेक्षा उनका कथन अधिक मान्य है। इससे व्यक्त होता है कि ये दोनों व्यक्ति पृथक्-पृथक् थे।

यदि हम दोनों की सत्ता पृथक् मानी जावे तो ध्वनिकार के अनिर्दिष्ट कारिकाकार का कोई दूसरा नाम उपलब्ध नहीं होता और न उनके समय के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है। सामान्यतया हाल होता है कि ध्वनिकार दण्डी मामह वज्रट इत्यादि से अर्वाचीन और वृत्तिकार से प्राचीन आचार्य होने जिन्होंने प्राचीन परम्परा पर आधारित ध्वनिसिद्धान्त की कारिकाओं का निर्माण किया और वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने उसको व्याख्या की। ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्य और अभिनव गुप्त के प्रथम पद्य में सद्दय शब्द के आ जाने से तथा ध्वन्यालोक के पुराने नाम सद्दयानोक के आधार पर कुछ लोगों ने ध्वनिकार का नाम सद्दय होने का अनुमान लगाया है। किन्तु सद्दय सामान्यतया काव्यमरिशोल्क को कहते हैं। अतः यह शब्द ध्वनिकारक नहीं माना जा सकता।

जा सकता है कि ऐलक का प्रथम प्रवास खरलोकनाथ अवश्य है । इस व्याख्या में बहोत बात पर ध्यान रखता गया है कि लोचन का आशय पूर्णतः प्रकट हो जाये वही इस बात को भी चंगा बी गू है कि पंठकों को हमने मौलिक रचना जैसा आनन्द प्राप्त हो । यह व्याख्या एक बार उन सभ्यताओं के लिये लाभकर होगी जो लोचन का मन्त्रव्य समझना चाहते हैं और दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के वैदिकान् भी हमने रुचि ले सकेंगे जो एक सहज रूप पूर्व की साहित्यशास्त्र या अवस्था का पर्यवसाय करना चाहते हैं ।

अन्य में नामकरण पर भी प्रमाण टालना आवश्यक प्रतीत होता है । सरहज साहित्य में नामकरण में बड़ी कलात्मकता पाई जाती है । केवल काल्पनिकों में ही नहीं व्याकरण और दर्शन के ने मोरम विषयी रचनाओं में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं । उदाहरण के लिये महाभारत में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं । उदाहरण के लिये महाभारत में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं । उदाहरण के लिये महाभारत में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं । उदाहरण के लिये महाभारत में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं ।

आनन्दवर्धन ने धनि सम्बन्धी शब्द का नाम आलोक रखा था । उत्तर चन्द्रिका नाम का आधार छिपी है । अमिताभ ने देखा कि आलोक और चन्द्रिका का अनेक सम्बन्ध हो सकता है, चन्द्रिका के द्वारा आलोक का आनन्द लेना समझ में नहीं आता । आलोक का आनन्द तो लोचन के द्वारा ही लिया जा सकता है । अतः उन्होंने अपना टीका का नाम लोचन रखा ।

हमें भी अपने पक्ष के नाम में लोचन को आधार का सुन्दर तथा उपयुक्त नाम प्राप्त हो गया । समस्त व्याकरण के अनुसार तारा शब्द से मनुष्य प्रत्यय होकर तारावत् शब्द बनता है । यदि इस शब्द का मनुष्यक लिङ्ग का विशेषण बनाया जाये तो 'तारावती' बनेगा । लोचन भी दो होते हैं । अतएव तारावती शब्द विशेषण 'लोचने' का विशेषण हो जावेगा और इस शब्द का अर्थ हो जावेगा 'सुन्दर तथा मनुष्य गुणों से युक्त दा दा नेत्र' । दूसरी ओर आलोक के एकवचन में 'तारावती' शब्द निष्पन्न होकर व्याख्या का विशेषण हो जावेगा । इसी आधार पर प्रारम्भ में दो शब्द रखे गये हैं —

नेत्र तारावती दादालोचने छपते सुधी ।

आलोक तारावती बोधितुं मुनिमानसि ॥

है। जहाँ ध्वन्यालोक के दुरुह स्थानों को पूर्णरूप से स्पष्ट कर यह टीका अपने नाम को सार्थक करती है वहीं दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्र विचारधारा की दृष्टि से पर्याप्त रूप में मौलिक भी है।

अमिनवगुप्त काश्मीर के एक बहुत बड़े शैव थे। कहा जाता है कि आन भी काश्मीर के अनेक ब्राह्मण परिवारों में इनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है और इनके नाम पर मत रक्खा जाता है। इनके जीवनवृत्त का हमें इन्हीं के ग्रन्थों में परिचय प्राप्त होता है। ये वाराहगुप्त के पीत तथा चुनुल के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम था मनोरथ जो स्वयं एक कवि थे। अमिनवगुप्त ने तीन गुरुओं से शिक्षा पाई थी। लोचन टीका में इन्होंने अपने गुरु का नाम लिखा है भट्टदेन्दुराज। इन्होंने ध्वन्यालोक इहीं गुरु भट्टदेन्दुराज के पास पढ़ा था और स्थान स्थान पर लोचन टीका में बड़े गौरव के साथ इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है तथा लिखा है कि सन्दर्भ का अर्थ हमारे गुरु ने इस प्रकार बतलाया था। इनके दूसरे विद्यागुरु थे भट्टतीर्थ जिनका वसी रूप में इन्होंने नाट्यशास्त्र की व्याख्या अमिनव भारतो में स्मरण किया है। शैवदर्शन के इनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। दर्शन तथा तन्त्रशास्त्र पर इनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर इनके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं एक है ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन और दूसरा है भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या अमिनव भारतो, जो कि लुप्तस्वरूप में ही प्राप्त होती है। कहा जाता है कि इनके गुरु भट्टतीर्थ ने काव्यकौतुक नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जिस पर इन्होंने एक विवरण लिखा। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

लोचन व्याख्या जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही अधिक क्लिष्ट भी है। इस पर कोई भी प्रामाणिक व्याख्या अब तक उपलब्ध नहीं होती। बालमिया एक साधारण टीका है जिसमें अधिकतर मनीकदोजना हो की गई है। लोचन जैसे महान् ग्रन्थ के लिये मनीकयोजनामात्र पर्याप्त नहीं हो सकती। चौखम्मा सञ्ज्ञत पुस्तकाटय से ध्वन्यालोक की दीपति नाम की एक व्याख्या प्रकाशित हुई है। इसमें प्रतिष्ठा की गई थी कि लोचन का ही सार सरल भाषा में मौलिकता के साथ प्रकट किया जावेगा। किन्तु यह टीका मौलिक अधिक है। अनेक स्थानों पर लोचन का प्रतिकूलन इस रचना में हुआ अवश्य है फिर भी इस टीका के सहारे लोचन को ठीक रूप में समझ सकना सर्वथा असम्भव है। ध्वन्यालोक की एक दूसरी आनन्द दीपिका नामक व्याख्या श्री आचार्य विवेकानन्दजी ने हिन्दी में लिखी थी। यह अधिकतर ध्वन्यालोक का ही अनुवाद था। यद्यपि इसमें स्थान स्थान पर लोचन के अंशों का भी उपादान किया गया है। किन्तु प्रत्यक्ष व्याख्या न होने के कारण इससे लोचन को पूर्णरूप से समझने की आशा ही नहीं की जा सकती।

भरतुन ग्रन्थ लोचन को ठीक रूप में समझाने के लिये लिखा गया है। लेखक को संकलता कहाँ तक मित्ती है इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे किन्तु इतना कहा

और व्यञ्जना का भेद (१०५), धनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना (१०७), महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना (१०९), वेदान्तिनों और वैष्णवियों का लक्षणतावाद और व्यञ्जना (११०), दूसरे प्रमाण और व्यञ्जना (११४) 'अमधार्मिक' विश्वक मट्टनायक की भ्राति और उसका लण्डन (११५), 'अमधार्मिक' के शब्दों की व्यञ्जना (११८), वाच्य तथा वस्तु व्यञ्जना के हिमेद के दूसरे उदाहरण (११९), अलङ्कार तथा रस व्यञ्जना का वाच्यार्थ से भेद (१२०)।

४—ज्ञाप्य में व्यञ्जना के महत्त्व का ऐतिहासिक उदाहरण	१४२
५—'मानिपाद्' की विस्तृत व्याख्या	१४५
६—प्रतीयमान की काव्यात्मता की स्वसवेदनसिद्धि	१५४
७—प्रतीयमान अर्थ को सिद्ध करने के दूसरे प्रमाण	१५७
८—प्रतीयमान की सुस्पष्टता और उसका महत्त्व	१६१
९—प्रतीयमान के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ का उपयोग	१६६
१०—ध्वनि की परिभाषा	१७१
११—परिभाषा के प्रकाश में विभिन्न विरोधी मतों का निराकरण	१७२
१२—विभिन्न अलङ्कारों के द्वारा ध्वनि के आश्रयान्तर कर लिये जाने का निराकरण	१८१

समाप्तेष्वि मे ध्वनि सन्निवेश का निराकरण (१८३), आश्रय के विभिन्न रूपों में ध्वनि के सन्निवेश का निराकरण (१८९), दीर्घक और अल्पवृत्ति इत्यादि में व्यञ्जना के गण्य होने का उदाहरण (१९१), अनुकूलनिमित्त विरोधोक्ति में व्यञ्जना के सन्निवेश का निराकरण (१९६), पर्यायवाचक के द्वारा ध्वनि गण्य नहीं है। लक्षणों (२०३), अपहृति और दीर्घक में व्यञ्जना के सन्निवेश न हो लक्ष्मण का निवेदन (२११), लङ्कार अलङ्कार पर विचार (२१४), अमधुनियोगावर विचार (२२२), विविध अलङ्कारों में व्यञ्जना के सन्निवेश का उपसंहार (२२३), आश्रयान्तर पर विचार (२२४), आवाधकार पर विचार (२२४), ध्वनि और अलङ्कार इत्यादि का सङ्ग्रह (२२८)।

१३—वैयर्थ्यकारणों का खोट और ध्वनि की सम्पूर्णता	२३१
१४—ध्वनि के विभिन्न अर्थ और उनके क्षेत्र	२५०
१५—अभाववादीयों के निराकरण का उपसंहार	२५१
१६—ध्वनि के प्रमुख दो भेद	२५४
१७—अविच्छिन्नवाच्य का उदाहरण	२५७

व्याख्या नागवनी सेव चन्द्रिकाच्छावहारिणी ।

श्यामेवाम्मान् रससाक्ष रञ्जयेत्लब्धलोचनान् ॥

अर्थात् 'तिस प्रकार' अनेकल पुनर्लियोवाले नेत्रों को अनेक बुद्धिमान् व्यक्ति प्राप्त नहीं करना तबतक वेद 'य' मुनिके भा कि बड़ा प्रकाश विद्यमान है उस प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता उमा प्रकार अनेक महदय नागवनी व्याख्या के साथ लोचन का अध्ययन नहीं करता तबतक वह शास्त्रज्ञ होने लुके भा ध्वन्यालोक का आशय ठीक रूप में समझ नहीं सकता । यह नागवनी व्याख्या चन्द्रिका नामक टीका के सौन्दर्य का अपहरण करनेवाली है । तिस लक्षण लोचन टीका प्राप्त कर ली है उन्हें नया हमें यह ऐसी ही आनन्द देने-वाणी हो जैसे बादलों की सुन्दरता से शोभित होनेवाला अथवा चाँदनी के सौन्दर्य को परामूर्त करनेवालों का श्यामा (पीछेगा) आगमवालों को आनन्द देती है अथवा वाराहती (नक्षत्रों से भरी हुई) चन्द्रिका का चमक से शून्य श्यामा (काली रात) सङ्कटों को आनन्द देती है ।

अन्त में मैं डा० नगेन्द्र जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिसकी प्रेरणा से प्रस्तुत रचना सम्भव हो सकी है ।

वसन्त पञ्चमी

संवत् २०१९

रामसागर त्रिपाठी

तारावती

लित किया करती है। इसी लिये दुर्गासप्तशती में अन्तःकरण में विद्यमान अनेक भावों के रूप में उसके दर्शन किये गये हैं। ज्ञान तो उस सत्ता का प्रत्यक्ष रूप है। 'सत्य ज्ञानमनन ब्रह्म'। यही कारण है कि श्रुतियों की कृति वेदमन्त्र उस महातत्त्व का निरञ्जसित माने गये। वेदलक्षणा ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण में तो साधारण श्लोक की भी ईश्वरीय निरञ्जसित ही माना गया है—'अस्य महतो मृतस्य निरञ्जसितमेतद् बहुभेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद इतिहास पुराण विद्या उपनिषद् श्लोका सूत्राभ्यनुन्यास्थानानि, अन्त्यैवेतानि सर्वाणि निरञ्जनिजानि'। अत एव यह स्वाभाविक था कि प्रशस्तरचना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य में उस महानिजि का अनुशीलन किया जाये। इसी उद्देश्य से ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण करने की परिपाटी प्रतिष्ठित है। मङ्गलाचरण के अनेक रूप हैं—(१) उस महानिजि की प्रणतिपूर्वक स्तुति का लिये प्रेरित करना। इसे ऋग्वेदमन्त्रात्मक मङ्गल कहते हैं। (२) परिशीलकों की मङ्गलाशंसा करते हुए उनसे अपनी पचना स्थापित करना। इसे आशीर्वादात्मक मङ्गल कहते हैं। (३) पराशक्तिमयन्त्र किसी वस्तु का निर्देश कर परमात्मा की ध्यायना की ओर ध्यान दिखाना। यह वास्तुनिर्देशात्मक मङ्गल कहा जाता है। (४) प्राचीन आचार्य 'वृद्धि' 'निर्द्ध' इत्यादि माङ्गलिक शब्दों के प्रयोगमात्र की ही मङ्गलाचरण मानते थे (५) कहीं कहीं केवल 'अयं' शब्द का प्रयोग ही मङ्गलाचरणपरक माना गया है। मङ्गलाचरण के प्रयोग के विषय में मतभेद हैं। कुछ लोग मङ्गलाचरण का उद्देश्य विष्णुविद्या मानते हैं, दूसरे लोग इन्द्रसमाप्ति की ही मङ्गलाचरण के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं। कतिपय आचार्य विष्णुविद्यापूर्वक प्रवसमाप्ति की मङ्गलाचरण का प्रयोजन मानकर दोनों मतों का सामान्य स्थापित करते हैं। मङ्गलाचरण अपने मङ्गल के लिये भी किया जाता है और शिष्यों को मङ्गलाचरण की परम्परा बनाने रखने का उपदेश देने के लिये भी। त्रिग ग्रन्थों में मङ्गलाचरण होते हुए भी ग्रन्थसमाप्ति नहीं होती इनमें विष्णुवाङ्मय की कल्पना कर ली जाती है और त्रिग जामिनी के ग्रन्थों में मङ्गलाचरण में होते हुए भी प्रवसमाप्ति देखी जाती है इनमें आन्तरिक मङ्गलाचरण की कल्पना कर प्रतिगता का निर्वाह किया जाता है।

आचार्य भी अमिताभगुप्त 'काव्यलोक' ग्रन्थ की 'लोचन' शब्द काव्याख्या करने के मन्त्र्य से ऐसे उदाहरण का प्रमाण कर रहे हैं जिसका अर्थ ग्रन्थ के विषय के अनुसृत है :—

'मङ्गली सारावती का तत्त्व विवक्षित ही रहा है अर्थात् सारावती रूप में विद्यमान है। यह सारावती का तत्त्व ऐसे सम्मन्त्र-दिन की रचना करता है जिसकी मुलता ब्रह्मा की का बनाया हुआ यह दुर्लभमान जगत् अभी नहीं कर सकता। इस काव्यजगत् की सभी वस्तु अर्थात् होती हैं। ब्रह्मा का बनाया हुआ जगत् नियमों से व्यवहृत तथा परवत् होता है, जबकि काव्य जगत् सर्वत्र स्वतन्त्र तथा नियमों से सर्वथा विनिर्मुक्त होता है दुर्लभ जगत् में रात्रि में सूर्य और दिन में चन्द्र प्रकाशित नहीं हो सकते जब कि काव्यजगत् में रात्रि का प्रकाश सूर्य तथा सूर्य की मुखचन्द्र रात्रि दिन एक भा प्रकाशित रहता है। काव्यजगत् के लिये ये नियम सर्वथा अर्थहीन हैं। ब्रह्मा की सृष्टि कर्म की सृष्टि का सगुण अनुकरण करने की चेष्टा काशी है,

विषय-सूची

१—मङ्गलाचरण

१

मङ्गलाचरण की उपयोगिता (१), उसके प्रकार (२), छोवन के मङ्गलाचरण की व्याख्या और उसमें लोक तथा काव्य के वैज्य का निर्देश (२), छोवनकार का स्वपरिवर (३), आलोचकार के मङ्गलाचरण पर विचार (५), आलोचकार के मङ्गलाचरण में तीनों प्रकार की ध्वनियों का अध्ययन (६) ।

२—ग्रन्थ का अनुबन्ध चतुष्टय और ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ

११

ग्रन्थ का अनुबन्ध चतुष्टय (११), ध्वनिकार के व्यक्तित्व पर विचार (१२), काव्यशास्त्रीय प्राक्तन सम्प्रदायों में ध्वनि के मूठ की खोज (१३), ध्वनि की काव्यात्मता तथा तद्विषयक बादविवाद (१६), 'ध्वनिरिति' में इति शब्द के अन्वय पर विचार (१७), मयम कारिका का संज्ञित पदकृत्य (२०), अभाववादविषयक सम्भावना का अर्थ (२२), विरोधी पक्षों के तीन वर्ग (२४), अभाववाद के तीन विकल्प (२५), मयम अभाव विकल्प गुप्तालङ्काराभ्यतिरिक्तत्व का निरूपण (२६), द्वितीय अभावविकल्प मवादमात्रत्व का निरूपण (३५), तृतीय अभावविकल्प गुप्तालङ्कारान्तर्भाव का निरूपण (३६), द्वितीय अभावविकल्प मवादमात्रत्व का निरूपण (३८), तृतीय अभावविकल्प गुप्तालङ्कारान्तर्भाव का निरूपण (३९), अभावविकल्पों का वनसंहार (४२), मच्छिन्नादी पक्ष का निरूपण (४५), अशक्यवक्तव्यतावादीपक्ष (४६) विरोधी पक्षों का वनसंहार (४४), विरोधी पक्षों पर सश्लिष्टकटाक्षनिर्देश (४४), रचना प्रयोजन का वनसंहार (४७), आनन्दशब्द के विभिन्न अर्थ, रसपरता, प्रयोजन परता, व्यक्तिकरता (४६) ।

३—ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका

६३

काव्यात्ममूल अर्थ के दो रूप बाध्य और प्रतीयमान (६३), प्राक्तन आचार्यों द्वारा किये हुये बाध्य विवेचन का निर्देश (६८), प्रतीयमान अर्थ की बाध्यव्यतिरिक्तता (७०), प्रतीयमान अर्थ की विरूपता (७३), रसव्यञ्जना की मुख्यता (७४), वस्तुव्यञ्जना का बाध्य से भेद (७७), 'अयं धार्मिक ?' का संज्ञित पदकृत्य (७६), तात्पर्यवृत्ति में व्यञ्जना के समावेश का निराकरण (७९), अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता (८१), छटाणा में व्यञ्जना की आवश्यकता (८६), अन्वितार्थमिषानवाद और व्यञ्जना वृत्ति (९२) 'पपर. शब्द. स शब्दार्थ' और 'सोऽपमिथोरेक दोषदीर्घतरो व्यापार' इन वाक्यों पर विचार (९४), काव्यप्रकाशकार के अनुसार ध्वनि की सिद्धि (९७), काव्यप्रकाशकार के अनुसार छटाणा

ध्वन्यालोक

स्वेच्छाक्रेसरिण स्वच्छस्वच्छायावासितेन्द्रव ।

ग्रावन्ता यो मधुरिपो प्रपन्नार्तिच्छिदो नखा ॥

[(अनु०) स्वेच्छा मे हो केमरी का रूप धारण करने वाले तथा मधु (दानव)—मयन भगवान् विष्णु के मुख जो कि अपनी निमग्न छाया (कान्ति) से हनु की व्याप्त में डालने वाले हैं तथा शरणागतों के ॥ स आर दैव को काटने वाले हैं, आप सब व्याख्याताओं और अंताओं की रक्षा करें ।]

लोचनम्

स्वयमग्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातधोतृणाम
विघ्नेनाभीष्टप्याख्याध्वन्यलक्षणफलसम्पत्तयः समुचिताशी प्ररूपनद्वारेण परमेश्वर
साम्मुख्य करोति धृत्तिकार —स्वेच्छेति ।

[धृत्तिकार (आनन्दवर्धन) स्व निरन्तर परमेश्वर नमस्कार का सम्पत्ति से कृतार्थ हुआ भी व्याख्याताओं तथा श्रोताओं के अभीष्ट व्याख्यात का सुनने की पूर्ति के लिये समुचित आशीर्वाद प्रकट करने के द्वारा परमेश्वर के साम्मुख्य (वर सम्पादन) कर रहा है—स्वेच्छा' इत्यादि श्लोक के द्वारा ।]

तारावती

करता रहा है और एक के चरचरमलों के निरन्तर बैठकर मैंने समस्त शास्त्रों का मलीमति अध्ययन किया है ।) इस प्रकार सभी शास्त्र मरे दुःख में निराश्रय हो गये हैं और ये शास्त्र भोताओं के हृदयों के लिये खिचकर तथा आनन्ददायक हैं । (जिस प्रकार कमलों में किसी वस्तु को बसा देने से उसमें सुगन्ध आने लगती है, उसी प्रकार एक के चरचरमलों में लोचनकार का शास्त्र वासित होकर धूमि को बिखेरने लगा है ।) महा नाथ अभिनवगुप्तवाद है । (कहा जाता है कि शास्त्रों में अधिक प्रकट होने के कारण इनसे इनके सहस्रांशों बरते गये और इनका नाम बाद-वर्तियों ने उन्नत रख दिया था । इन्होंने उन वराधि को नष्ट-पूवक स्वीकार कर लिया और मुसलमानों का पर्वोत्तरवाद अपने नाथ के साथ आकर लिया ।) मैं अपने 'लोचन' की नियोजना के द्वारा परिकल्पित अनुरणित कण्ठ पुत्र काव्यलोक का लोगों के सामने खुल कर रहा हूँ । (लोचननियोजना' के कई अर्थ हो सकते हैं—(१) यन्त लगाना (२) दान के योग के द्वारा (३) लाचन व्याख्या के द्वारा (४) नेत्र गहा कर । जैसे किसी वस्तु को नेत्र गहा कर देखा जाता है वैसे ही लोचन का समुक्त रूप में काव्यलोक को रस कर रहा है । 'अनुगन्त' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार वस्तु बचने के बाद उससे एक प्रतिबिम्ब निकलती है और वह विन्मुख पट्टाका के समान ही होती है वही प्रकार मैं जो कुछ कहूँगा वह सब ध्वन्यालोक की प्रतिबिम्बित होगा । मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहूँगा । 'वर्धित' का अर्थ यह है कि ध्वन्यालोक की पूरी व्याख्या तो सम्भव नहीं है । यदि मैं उसका कुछ भाग ही बतल कर सका तो मैं अपने को बन्ध समझूँगा । (आनन्दवर्धन ने ध्वनि

- १८—विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण २५९
 १९—विवक्षितान्य पर वाच्य में लक्षणा की सम्भावना पर विचार २६०
 २०—मन्त्रि और ध्वनि का विभेद २६२

लक्षणा और ध्वनि पर्वार्थ नहीं हो सकते (२६४), लघुणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती, इस विषय पर विचार (२६५), लक्षणा के लक्षण न हो सकने का उदाहरण (२८१), लक्षण की व्याप्ति (२८२), 'अभिनेयाविनामृतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' पर विचार तथा इस प्रसंग में इस प्रतीति पर विचार (२८८), लक्षणा सभी ध्वनि भेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती (२९८)।

- २१—अशक्यवत्तत्त्वता आदिषों के मत का निराकरण ३००
 २२—लोचन में द्योत का उपमंहार ३०१

छोचनम्

चरणम्, तच्च तत्प्रतिद्विगद्विध्यापसरणादिना भवतीति इत्यद्वयं प्राणी विषयक्षितम्, नित्ययोगिनश्च भगवतोऽसम्प्रोहाध्यवसाययोगिवेनोत्थाहप्रतीतेर्वाररसो ध्वन्यते । नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामभ्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात् सातिशयशक्तता कर्तृत्वं सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य स्थिति रित्करणपेक्षाविरहः, भुरिपोरिस्थनेन तत्त्व सदैव जगत्प्रासापसारणोद्यम

अपने विरोधी विध्न इत्यादि के अपसारण इत्यादि के द्वारा होता है अतः उन्हा ही प्राण कहना यहाँ पर सम्योह है । नित्य उद्योग में लगे हुये भगवान् के सम्प्रोह रहित अध्यवसाय में लगे रहने के कारण वस्तुस्थिति की मूर्तिविहाने से बीर रस ध्वनित होता है । मछों के महार का उपकरण होने से और महार द्वारा रणा क्रिये जाने में मछों के भिन्न न होने से कारण होने के कारण कर्तृत्व के द्वारा (अर्थात् महार में मत्त करण होते हैं तथापि कर्ता में प्रयोग किया गया है इसलिए) साविशेषशक्तिव की सूचना मिलती है और ध्वनित होता है भगवान् का व्यतिरिक्त करण को अपेक्षा का अभाव । 'मधुरिपु' इस शब्द के द्वारा (उन भगवान्) का सदैव सत्तार के आसापसारण का उद्यम कहा गया है । किम महार के

तारावर्ती

। है जब कि आवश्यक उपकरण प्रदान कर लिये जावे । यही भाव का अर्थ है । भगवान् विष्णु जिस प्रकार निरन्तर हो नृसिंह मधु इत्यादि दानवों का महार का सत्तार के भाग में लगे रहते हैं उसी प्रकार मछों के मार्ग में जाने वाले किनो का सत्तार भी निरन्तर हो किया करते हैं । भगवान् अपनी इस क्रिया में न कभी सम्प्राप्त में पड़ते हैं और न उनके अध्यवसाय में किसी प्रकार की कमी आती है । इस प्रकार भगवान् का वस्तुस्थिति व्यक्त होता है । शास्त्र का नियम है कि विमाद इत्यादि रस के चारों अङ्गों में यदि एक भी व्यक्त हो जावे तो शेष ही दूसरे अङ्गों का भी आशय कर दिया जाता है । यहाँ पर बीर रस के रचावही भाव आत्माह की ध्वनना हुई है । अतः उसके आत्मकते मधु इत्यादि दानव, उनके साहस और इत्यादि वरापन उनकी अवहेलना इत्यादि अनुभाव और गर्व इत्यादि सत्तारी भावों का भी जीम ही समावेग हो जाता है और इनसे पुनः होकर आत्माह स्वामी भाव से पानकसंवाह से बीर रस की ध्वनि होती है ।

मछों से महार किया जाता है और महार के द्वारा रणा को जाती है । इस महार रणज क्रिया में मत्त दारोराज्यवर्ती करण है । किन्तु जनका प्रयोग कर्ता कारण में किया गया है । इस प्रकार उनकी शक्ति की अविकल्पा ध्वनित होती है । 'भगवान् विष्णु मछों से मत्त' की ध्वनि का उद्भूत नहीं करते अर्थात् मत्त रस ही मछों की ध्वनि का कारण है । यही नृ की साविशेष शक्ति है । यहाँ पर कारण के द्वारा ध्वनित होती है । कारण का महार के हाथ है, एक आत्मन्तर दूसरा बाह्य । जैसे प्रहरण क्रिया में शत्रु इत्यादि बाह्य कारण हैं और दानव इत्यादि आत्मन्तर कारण हैं । अनुपपन्न होते वह ध्वनि और निवृत्त होते

॥ श्रीमार्त्ये नमः ॥

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

(लोचन तारावती सहितः)

प्रथम उद्योतः

(लोचनम्)

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणबलां,
जगद्ग्राचप्रत्य निजरसभरास्तरयति च ।
प्रमात्प्रयोपाख्याप्रमरमुगं मासयति, तत्
सरस्वस्थास्तत्त्वं कविसहृदयार्ण्यं विजयते ॥

[जो (सरस्वती का तत्त्व) कारणरस के बिना (हो) अपूर्व वस्तु की रचना और विस्तार बिना करता है, पाषाणरस नीरस जगद् को अपने रस की अधिकता में सात्विक बना देता है; क्रमशः प्रतिभा और अभिव्यक्ति के प्रसार से उस जगद् को रमणाव बना देता है वह कवियों और सहृदयों में मञ्जोभाति पूर्ण रूप से स्फुरित होने वाला सरस्वती का तत्त्व विजय होल हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्तमान है ॥१॥]

तारावती

भानन्दाद्वैतमध्यमं दिशन्मार्गमनश्वरम् ।
प्रथयन्तो जगन्मुक्त भारती सा धियेऽस्तु नः ॥ १ ॥
सर्वशास्त्रप्रदं मद्रं नरया धीचन्द्रनेखरम् ।
ध्वन्यालोकावलोक्यार्थं कुर्मस्तारावतीमिमाम् ॥ २ ॥
नैव तारावतीं यावद्वलोचने लभते मुधीः ।
मालोकं तावदादित् वीक्षितुं ध्रुववानपि ॥ ३ ॥
व्याख्या तारावतीं सेयं चन्द्रिकाच्छायहारिणी ।
ध्यामेवास्मान् रसज्ञाश्च रञ्जयेत्स्थब्धलोचनान् ॥ ४ ॥

परोक्षसत्ता की अनुभूति और अन्तस्तत्त्व की सम्पन्न एकता मातृदोष विधारसम्भना के मेरुदण्ड हैं । इत्यन्त जगद् के पीछे ऐसी शक्ति अन्तर्निहित है जो क्षेत्रन विश्व की समस्त गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती है और उसी की मेरुणामयी सदृच्छा मानवजीवन को सद्भा-

१. मिया चन्द्रन्ति, धियं चन्द्रयन्ति वेति श्रीचन्द्राः । चदेरक् । तेषु सेखरम् विष्णुं शोभा-
सम्पन्नं मगयन्तं दिवं तदाख्यं गुरुं च ।

लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाद्भक्त्याधिवासद्वयस्तुऽभिनवगुप्तपदामिधोऽहम् ।

यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुरयामि काव्यालोक स्वलोचननिर्गोजनया जनस्य ॥

[भट्टेन्दुराज के चरणवर्णों में जिसने अधिवास किया है । (और इसी कारण) जिसका शास्त्र रूप हो गया है । इस प्रकार का अभिनवगुप्तवाद की अभिधा (नाम) वाला मैं करने छोचन की निपावना के द्वारा अत्यन्त स्वल्प भी अनुरणित (प्रतिध्वनित) बरते हुये छोगों के सामने काव्यालोक (नायक ग्रन्थ) को स्फुट कर रहा हूँ ।]

सारावली

किन्तु वहाँ एक कभी नहीं पहुँच सकती । ब्रह्मा की सृष्टि में न राम जैसे आदर्श पुरुष होते हैं और न सीता जैसा परिपरायण महिलाएँ । यही काव्यसृष्टि की अपूर्वता है ।) भारती काव्य जगत् के समस्त पदार्थों को विना ही किसी कारण के अंग के उत्पन्न करता है । (इन्हीं अंगों में जिसने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें समवाय असमवाय और निमित्त कारणों का सहयोग और सहकार अपेक्षित होता है । किन्तु काव्य जगत् में कर्मल (नायिका के मुख कमल) की उपस्थिति विना ही अल के ही सबूतों है । भारती केवल नवीन अंगों की रचना ही नहीं करती अपितु इन्हीं अंगों के विभिन्न पदार्थों को भी जानमान् काटती है ।) वैसे ठा सत्तार पाश्र्वाय वत् नीरस है किन्तु जब कवि उसमें अपना हाथ भर देता है तब वे ही नीरस और निम्नतर पदार्थ सरस तथा सारवान् प्रगोष्ठ होने लगते हैं । (विभाव इत्यादि के रूप में काव्यजगत् में सन्निविष्ट होकर तुच्छ से तुच्छ वस्तु महत्त्वपूर्ण हो जाती है और नीरस से नीरस वस्तु सरस बन जाती है ।) इस सरस्वती-नक्ष के दो भाग हैं एक मस्या अर्थात् कविमनिमा और दूसरा उदाहया अर्थात् वर्णन करने का शक्ति । (इन्हें ही हम आधुनिक भाषा में अनुमृति और अभिव्यक्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं ।) पहले मस्या और फिर उदाहया इस क्रम से जब सरस्वती के तन्त्र का प्रसार होता है तब काव्यजगत् बड़ा हो मनोरम हो जाता है और उससे सारा काव्यजगत् जगमग उठता है । इस तन्त्र के दो छोर हैं एक है कवि और दूसरा सङ्ग्रह । (कवि का काम है निर्माण करना और सङ्ग्रह का काम है विचार करना ।) हाँ ही दो में उसकी प्रविष्टा होती है । इस प्रकार सरस्वती-तन्त्र सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान हो रहा है । वहाँ पर सरस्वती-नक्ष का अर्थ धनिकाव्य भा हो सकता है । यह तन्त्र भी वैश्व प्रकाशमय होने के कारण अमरगति का प्रकाशन करता है और प्रकाश को मनोरम बनाना है । अतः यह अमरगति है । जिसका बहने से नमस्कार भक्त होता है । अतः वस्तु निम्न में बनना तन्त्र की अभिव्यक्ति होती है और प्रायः काव्य जगत् के सामय बनने में दिग्दर्शक का साम्य ही निमित्त वा मङ्गल है । इस प्रकार महानुरणन में ही प्राय का अन्तराल विचार भी बनता दिखाना है ।

अब लोचनचर अना परिचय दे रहा है—' मैंने भट्टेन्दुराज नामक अपने गुरु के चरण कमलों के किछ निराम किया है । (अर्थात् मैं निरन्तर करने गुरु के चरणकमलों की प्रशंसा

सारावती

बालचन्द्र निरन्तर आवास का अनुभव करता है। इस प्रकार यह उपेक्षा भी होगई। ये नष्ट नहीं हैं किन्तु १० बालचन्द्र ॥ इस अपहनुति की भी व्यञ्जना होती है (यहाँ पर नष्ट नहीं किन्तु बालचन्द्र इस अपहनुति के कारण मानो चन्द्र भी बन होता है वह उभरा हाती है। अतएव इन दोनों का अन्तर्निमित्त सङ्ग है। इन दोनों में एक व्यञ्जकानुभवे सङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि दोनों अलग-अलग एक दूसरे के निरपेक्ष नहीं हैं। यहाँ पर चन्द्र में आवास का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतएव सम्बन्धविगर्हाति अलङ्कार भी यहाँ पर हो सकता है।) इस प्रकार हमारे गुण (सम्भवतः ॥ दुरास) ने इस लोका में वस्तु अलङ्कार और उस तीनों ध्वनियों की ध्वन्या की है।

[लाक्षणिक ने यहाँ पर उभरा तथा अपहनुति ये दो अलङ्कार लिखाने हैं। इस पर हाधितिकार ने लिखा है— कुछ लोगों ने यह पर उभरा और अपहनुति की प्रतीति का प्रतिपादन किया है। इस विषय में हम कुछ कहना नहीं चाहते क्योंकि हमें इन महापुरुषों के महत्त्व का ध्यान रहना ही है। हाँ इनका क्या वा सङ्ग है कि प्रतीकमान अङ्ग और अपहनुति भी वहीं पर स्वीकृत की जा सकती है जहाँ पर उभरा की सामग्री प्रकृतभेदिक अमृत सम्भावना तथा अपहनुति की सामग्री प्रकृत के निःकरण के साथ अपहृत की स्थापना विद्यमान हो। सङ्गों का उभरा का सम्बन्ध है। चर्चित कि कटकपना विधित्त का नाम है। वाणी नहीं होती। इस पर मरा निवेदन है कि यहाँ पर उभरा और अपहनुति वाच्य नहीं हैं किन्तु व्यञ्जक हैं। आवासित गङ्गा है। दोनों सामग्री का जुग देने के लिये पदा है। चन्द्र में आवासित धम का सम्भावना के कारण उभरा का बीज तो विद्यमान है ही— आवासित होने का कारण यह है कि चन्द्र यह सम्भवता है कि अब लगे सङ्गों को बालचन्द्र बना कर ले मुझ नहीं। यही अपहनुति का बीज है इनमें वही बन कल्पना नहीं।

यहाँ पर लेखक की मङ्गलश्रवक रति अङ्गों के और अविश्वमान और रस उभरा अङ्ग है। इस प्रकार वीर रस अमङ्ग गुणावृत्त का उभारण हुआ है। बाह्यमिषाकार ने लिखा है कि यहाँ पर उभरा अङ्ग है अङ्ग प्रथमका मङ्गल से तत्पदमात्र का प्राप्त हो ही चुका है। उसने केवल सङ्गों का आवासित किया है। अतः उभरक की मङ्गलश्रवक रति भक्त नहीं होती। प्रत्यक्ष का मङ्गल रस सम्भवता इसी बात से सिद्ध है कि उसने मङ्गल बनाने से पहले मङ्गलचरण नहीं किया और उसने मङ्गल मङ्गल की रचना कर दी जो कि मङ्गल रति से ही सम्भव थी। इस पर मरा निवेदन यह है कि एक तो यह बात सिद्ध नहीं है कि मङ्गल तथा अमङ्गल दोनों एक व्यक्ति हैं। दूसरी बात यह है कि मङ्गलों में मङ्गल चरण व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जाता है जिससे उसकी परम्परा बनो रहे और जिनको उसका उभार प्राप्त हो जाये। जिन मङ्गलों में मङ्गलचरण नहीं भी होता है उनमें भी मङ्गल से बर्तमान मङ्गलचरण की कल्पना की ही जाती है। अतएव मङ्गलों के आत्म में मङ्गलचरण न करने से मङ्गलचरण का अभाव सिद्ध नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मङ्गल

लोचनम्

(४) मधुरिपोर्नगा वो युष्मान् व्याख्यातृद्योतु स्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्, सम्बोधनसारा हि युष्मदर्थ, त्राण चामीष्टलाम प्रति सहायका

[मधुरि के नख तुम सब लुगो की अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें, क्योंकि सम्बोधन के योग्य वही हैं। और निम्न-देह युष्मद् (व) के अर्थ का सार हो है सम्बोधन। त्राण का अर्थ है अभीष्ट लाभ के प्रति सहायक का आचरण और वह

सारावली

की टीका का नाम 'आ वालोक' ही रखा था। बाद में ध्वनि का कारिकाओं को निकाल कर उसे ध्वन्यलोक कहा जाने लगा।)

उत्तम पुरुष के त्रिया में प्रयोग करने से हो 'अहम्' का अर्थ आ सकता है। फिर भी 'अहम्' का पृथक् प्रयोग किया गया है। इससे चर्चित होता है कि—'मैं अपने मन्द पाणिन्द के कारण इस ग्रन्थ की व्याख्या करने का सबका अधिकारी हूँ।' 'सुट्ट कर रहा हूँ' कहने का आशय यह है कि टीकाकारों ने आज तक हम ग्रन्थ की यथाश्रुत व्याख्या हा की है इसे रचना नहीं कर पाये। यह कार्य मैं करूँगा।

अब आलोचक के मङ्गलाचरण पर विचार किया जा रहा है। मङ्गलाचरण पर विचार दो दृष्टिकोणों से हो सकता है—ग्रन्थकार के दृष्टिकोण से तथा व्याख्याताओं और श्रोताओं के दृष्टिकोण से। (ग्रन्थकार स्वयं तो बिना बाध में रहे हुये निरन्तर ही परमात्मा का नमस्कार करते रहते हैं, उस नमस्कार की सम्पत्ति से वे शून्य हो गये हैं। (अतएव ग्रन्थकार को अपने दृष्टिकोण से मङ्गलाचरण की कोई आवश्यकता नहीं।) तथापि व्याख्याताओं और श्रोताओं का आशीर्वाद हमीन्धिये द रह है कि व्याख्याकार तो निमरहित होकर अभीष्ट व्याख्या करने का फल प्राप्त कर सकें और श्रोता लाभ निमरहित होकर सुनने का फल प्राप्त कर सकें। इसीलिये ज्वित आशीर्वाद को प्रकट करते हुये ग्रन्थकार ने इस मङ्गलाचरण में व्याख्याताओं और श्रोताओं के लिये परमस्वर की अनुकूलता सम्पादित की है।

'मधुरिपो मगशान् विष्णु के नख तुम्हारी सबकी अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें। (यहाँ पर 'तुम्हारी' शब्द का अर्थ व्याख्याता और श्रोता 'हमीन्धिये' लिया गया है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ उन्हीं को सम्बोधित करके ता बनाया है।) क्योंकि वे ही सम्बोधन के योग्य हैं। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि मङ्गलाचरण में सम्बोधन का प्रयोग यहाँ है ? इसका उत्तर यह है कि) 'व' शब्द युष्मद् शब्द का रूप है। युष्मद् के अर्थ का सार हो है सम्बोधन। जिसकी शोचोक्ति नहीं किया जाता उसके लिये युष्मद् शब्द का प्रयोग हा ही नहीं सकता।

रक्षा करने का आशय यह है कि वरन्ध की निद्रि के लिये सहायता की जाये। सहायता की जा सकती है अभीष्ट लाभ के विरोधी विन्तों के दूर करने इत्यादि के द्वारा। वह तभी सम्भव

तारावती

प्रकार वह स्वच्छाया का विगम हो जावेगा । यद्यपि अभिनवगुप्त की भाषा में धर्मपरक को धर्मपरक मानने की प्रवृत्ति नहीं करनी पड़ती है तथापि दृढ़ मानने में निर्मलता गुण का प्रयास विगम रूप से हो जाता है । वह आगोवांगमयक मद्रत्ताचरण है और व्याख्याताओं तथा श्रोताओं का समीकृत्यारम्भादयकप्रवृत्ति के लिये आगोवांग दिया गया है । इससे प्रचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रचकार का निरन्तर मन्त्र-पूजन अभिव्यक्त होता है । यहाँ पर कुछ लोगों का उक्तया हुआ एकाग्र मानना ठीक नहीं कि जब तो वह अभिनवगुप्त है, दूसरे वस्तु में प्रचकार की एतत् परमात्मिक सिद्ध नहीं होती । एक बात यह भी है कि यहाँ पर अभिधावृत्ति से आगोवांगमयक मद्रत्ताचरण है और व्यक्ततावृत्ति से इष्टदेवतानमस्कारात्मक मन्त्र भी कहा जा सकता है ।]

अब प्रधानतया वन वस्तु का स्वरूप बतलाते हुये प्रयोगन रूप में प्रयोगन के प्रयोजन और उससे सम्बन्धित प्रयोजन का अवसामर्थ्य से प्रवृत्ति करते हुये इस प्रयोजन वन वस्तु का बयन दिया जा रहा है ।

[प्रथम का विषय है ध्वनि का स्वरूप । प्रयोगन है सङ्घर्षों को ध्वनि के स्वरूप का दान करा देना । उस प्रयोगन का प्रयोजन है सङ्घर्षों का प्रत्यक्ष । इस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं हम शब्द व अर्थ के द्वारा प्रथम का विषय बतलाया गया है । सङ्घर्ष मनोवाच के लिये हम वन के वन के द्वारा प्रयोगन का प्रयोजन बतलाया गया है । स्वरूप दानरूप प्रयोगन का अवसामर्थ्य से प्राप्त कर दिया जाता है । इस प्रकार वाक्यार्थ होने के कारण विषय का उक्त्यप्रधान है । एकाग्रमान्य होने के कारण प्रयोगनप्रयोजन मीन और आशेषान्य होने के कारण प्रयोगनप्रयोजन दाना हो प्रयोजन है । सङ्घर्षप्रयोजन इस निरर्थक के अधिकारी है और विद्वान् व विद्वान् प्रयुक्त रचना से सम्बद्ध । 'युधि' (विद्वान् के द्वारा) वन में बहुवचन के प्रयोग से व्यक्त होता है कि शब्द का आत्मा ध्वनि है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक न नया विद्वान् अनेक विद्वान् ने किया है । अनेक विद्वान् जिस सिद्धान्त का निरन्तर प्रतिपादन करते आये हैं उसका न तो प्रतिषेध ही सम्भव है और न उसकी वरणा हो की जा सकती है । अतएव उसका निरूपण निश्चय आश्वय है । याने प्रयुक्त रचना का अनुवचनप्रयुक्त है

[ध्वनिप्रकार का अर्थ है सवर्ण रहस्य ।] ओं तथा काणं महोत्पद्यते वृत्तिप्रकार आनन्दवर्धन से उपर्युक्त मान्य है और हा० दण्डुन ने उन्हें आनन्दवर्धन से अभिन्न माना है । सङ्घर्ष साहित्य जगत् में अपना ही छिपा हुई प्रत्यक्ष पर स्वयं वृत्ति व्यपश टीरा छिपने की एक प्रवृत्ति रही है । किन्तु प्रयुक्त प्रकरण पर विचार करने से प्राप्त होता है कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिप्रकार नहीं है । आनन्दवर्धन ने पिछले समय से पड़ी अती हुई ध्वनिप्रवृत्ति की वृत्ति का ही व्याख्या मान्य का है । पहली बात यह है कि आनन्दवर्धन ने जो मद्रत्ताचरण दिया है उसपर ध्वनिप्रवृत्ति की प्रयोजन संख्या नहीं बड़ी गई है । प्रयोजन संख्या

(जीवनम्)

उन । कादृशस्य मधुरिषा ? स्वेच्छया कसरिण । स्वेच्छया मधुरियो न तु कमपारतन्त्र्येण, भाष्यम्यदायच्छया, अपि तु विनिष्टदानवहननाचिततया विध्वंसपरिप्रदोचिचादेव स्वाकृतनृसिंहरूपस्यत्वर्थम् । कादृशा नत्वा ? प्रपन्नानामार्तिं ये उन्दिन्ति, नरानां हि छेदकरत्वमुचितम्, आतं पुनश्छेदयन्मन्त्रान्प्रथममभावनायमपि तदायानां नरानां स्वेच्छानिर्माणोचिचयान् सम्भाव्यत एवति भाव । अथवा त्रिगुणकण्ठा हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योक्त्वशकर इति म एव धम्नुः प्रपन्नानां भगवद्कसरणानां अवानामार्तिकारिबान्मूर्तैर्वातिस्त मधुरिषु का ? आ स्वेच्छा से हा वसरा बने न कि कमपारतन्त्र्य से और नहा दूसरे का इच्छा से और तु विनिष्ट दानव क मरने के योग्य उस प्रकार की इच्छा के प्रहण करने में वचन होने के कारण नृसिंहरूप का बिहाने स्वयं स्वीकार किया, (यदा पर) यह अर्थ है ।)

[किम प्रकार के नख ? आ कि गरमागतों को दीनता को काट बाँटते हैं, निस्तदेह मत्तों का (दूसरी वस्तु का) काट डकटना उचित है किन्तु नखों के प्रति दीनता का छवत्त्व (अर्थात् दीनता का मत्तों के द्वारा बाँटा जा सकता) असम्भव है तथापि भगवान् के भाग्योक्त स्वेच्छानिर्माण के आचिन्त्य के कारण सम्भावना का ही आ सकती है । अथवा तीनों छोटों का बन्धक हिरण्यकशिपु विश्व का उन्नेश (उन्नीहन) करनेवाला है अतः वही वस्तु गरमागतों अर्थात् स्वभाव भगवान् की शरण में आये हुएों के अन्दर आति तारावती

कि भगवान् का ध्वनितक कारण की को भयेगा नहीं । मत्तों के कट काटने में उनके नख ही पर्याप्त हैं । 'मधुरिषु' शब्द से ध्वनि निकलती है कि 'भगवान् समार के प्राप्त का अपनान करने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं ।'

भगवान् ने नृसिंहरूप न ता कर्म की परतन्त्रता से ही धारण किया और न किसी दूसरे की इच्छा से । किन्तु देवताओं से भी अथवा महान् जनों के सहार के लिए उपयुक्त नृसिंहरूप को अपनी इच्छा से ही स्वीकार किया । 'इच्छा' शब्द से भगवान् के कमपारतन्त्र्य का अभाव ध्वनित होता है और 'स्व' शब्द से दूसरे की इच्छा का अभाव ध्वनित होता है । ये सब वस्तुध्वनि हैं ।

काटने का कान नख का है ही किन्तु दुस्रो को काट सकता मत्तों के विषे असम्भव है । किन्तु भगवान् ने स्वेच्छा से ही नृसिंहरूप धारण किया है अतएव सर्वगतिमय होने के कारण मत्तों का आतिच्छेदन उपयुक्त हो जाता है अथवा मत्तों का आतिच्छेदन असम्भव है अतः अभिवेग्य का बाध हो जाता है और अति शब्द की छापया हिरण्यकशिपु में हो जाती है । इससे यह स्पष्टता निकलती है कि हिरण्यकशिपु वेतोदराक सभी व्यक्तियों का सबसे अधिक दुःखायक है । (हिरण्यकशिपु दुःख देने वाला नहीं, किन्तु भगवान् दुःख

तारावती

जिसके विभिन्न स्वभाव की बात कह दे उसका अनुसन्धान किया जा सकता है। आनन्दवर्धन से पहले आलोचनाग्रन्थ में तीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे—काव्य के क्षेत्र में अलङ्कार तथा रीतिसम्प्रदाय और भाट्ट के क्षेत्र में रससम्प्रदाय।

अलङ्कारसम्प्रदाय का प्रथम उपग्रन्थ प्रसिद्ध मामह का 'वा-यालङ्कार' है। इस ग्रन्थ के व्यवस्थित प्रतिपादन को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह किसी पूर्ववर्तिनी परम्परा पर आधारित है। मामह के मत से काव्य-व्यक्ति के निमित्त अलङ्कार प्रयोग में एक प्रकार का उक्ति वैविध्य अपेक्षित होता है जिसका सम्पादन कविप्रतिभा से किया जाता है। मामह का मत है उक्तिवैविध्य ही काव्य का प्राण है और उक्तिवैविध्य का प्राण है वक्रोक्ति। मामह ने कहा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनवयार्यो विभाष्यते ।

यतोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

अर्थात् काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति को तथा पार्श्व जागो है, इस वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ विभाजित किया जाता है। कवि को वक्रोक्ति के लिये ध्यान करना चाहिये, क्योंकि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के बिना नहीं हो सकता। परन्तु आचार्यों ने वदन्त के अनुकरण पर पड़ती भ्रमोत्पत्ति वदन्त के विशेष प्रकार के अलङ्कार को ही वक्रोक्ति माना और आज के साहित्यशास्त्र में वदन्त को वक्रोक्ति ही माना जाता है। किन्तु मामह का वक्रोक्ति इसमें भिन्न है। वक्रोक्ति को परिभाषा करते हुए मामह ने लिखा है—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।

अर्थात् अर्थ और शब्द की विलम्बगता ही वाच्य के मत में वक्रोक्ति है। किसी बात को पुनः फिर कर कहने से विलम्बगता या जानी है जिसका मामह काव्य का जीवन मानते हैं। शब्द ही है कि यहाँ पर मामह ध्वनि की सीमा तक पहुँच गये हैं। मामह की यही वक्रोक्ति आगे चलकर मुन्शे व वक्रोक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तन में कारण हुई और यही भक्तिसम्प्रदाय की भी बीज कहना जा सकता है।

अलङ्कार का निरूपण करने वाले दूसरे आचार्य हैं दण्डी। उन्होंने अपने 'काव्यदर्पण' में अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना है। यह अतिशयोक्ति भी शब्दभेद से मामह की वक्रोक्ति ही है। आनन्दवर्धन ने ऐसा सर्वत्र वक्रोक्ति' से ऐसा कर अर्थ किया है यह वदन्त अतिशयोक्ति' और वक्रोक्ति' का अर्थ किया है 'सामान्य अलङ्कार'। अब मामह और दण्डी दोनों के देखस्य की रचना की जा सकती है। इन प्रकार मामह के समान ही दण्डी ने भी ध्वनिभिधान का बीज अन्तर्निहित है।

अलङ्कारसम्प्रदाय के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं वदन्त और वदन्त। वदन्त ने मामह का ही अनुकरण किया है। वदन्त इस सम्प्रदाय के अग्रज महत्त्वपूर्ण तथा अग्रज आचार्य हैं।

लोचनम्

आयासने तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायात्वप्रतीतिर्हृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते । आयासकारित्वं च नरानां सुप्रसिद्धम् । भरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम् । किञ्च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चाबलोस्य बालचन्द्रः स्वामनि खेदमनुभवति तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽर्मा प्रपञ्चार्तिनिवारण-कुशलाः; न स्वहानति व्यतिरेकालंकारोऽपि ध्वनितः; किञ्चाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैराग्यदाकारयोगान् समस्तजनाभिलषणीयतामाजनमववम्, अद्य पुनरेव-विधा मत्ताः, दश बालचन्द्राकाराः सन्नापातिच्छेदनपुञ्जलाश्चेति तानेव लोको बाष्पेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामिवाकल्पयन्बालेन्दुराविरतायासमनुभवती-वेत्युत्प्रेक्षापटुतिष्वनिरपि, एवं वस्तुवस्तुकारमभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्-गुमिर्ष्यान्त्यामा ।'

की प्रतीति तथा अद्भुतप्रतीति ध्वनित होगी है और नाखूनों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है, और वह आयासकारित्व भरहरि के नाखूनों का विशेष रूप में प्रतिपादित किया गया है; और भी उनकी स्वच्छता और कुटिलता को देखकर बालचन्द्र अपनी आमा में खेद का अनुभव करता है । 'स्वच्छ तथा कुटिल आका' के योग के समान होने पर भी ये नख शरणागती के दुःख निवारण में कुशल हैं, मैं तो नहीं हूँ' यह व्यतिरेकालङ्कार भी यहाँ पर ध्वनित किया गया है । और भी 'मैं पड़ने अरेला हो असाधारण निर्ममता तथा हृदय की मिस्र प्रकार के योग से सभी लोगों की अभिलाषा की योग्यता का प्राप्त था, फिर आज ये हम प्रकार के बालचन्द्राकार तथा सन्तुष्टों के अतिविच्छेदन में कुशल दस नाखून हैं, हमलिये उन्हें ही लोक बाष्पेन्दु से अधिक सम्मान के द्वारा देखेगा, मुझे नहीं' यह सनसते हुए बालचन्द्र निरन्तर मानों आयास का अनुभव करता है यह वप्रेक्षा और अपटुति ध्वनि भी होती है । हम प्रकार, बन्धु, अन्धकार और हम के नेत्र से तन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या इस श्लोक में हमारे गुणगानों के द्वारा की गई है ।]

नारावती

सिद्ध है । और वह मगवान् के नखों में विशेष रूप से दिखाया गया है । दूसरी बात यह है कि नखों की स्वच्छता तथा कुटिलता देखकर बालचन्द्र अपने अन्दर खेद का अनुभव करता है कि 'स्वच्छता तथा कुटिलता तो दोनों में सन्तान है; परन्तु मगवान् के नख शरणागती की अति के कुशल में समर्थ हैं, तुम में यह शक्ति विद्यमान नहीं है ।' इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है । इसके अतिरिक्त चन्द्रा समझता है कि 'अभी तक भरनो असाधारण निर्म-लता तथा हृदयमयी अद्भुति के योग से समस्त ध्वनियों की अभिलाषा का प्राप्त मैं हो या अब तो हम प्रकार के बालचन्द्राकार १० नाखून विद्यमान हैं और ये सन्तान को नष्ट करने में भी कुशल हैं (यदि मैं विदेशियों को सन्तान देने वाला हूँ ।) अतएव अब तो लोक इन्हीं को बाष्पेन्दु के योग्य महान् सम्मान के साथ देखेगा, मुझे कोई नहीं मानेगा' मानों यह सनसते हुए

ध्वन्यालोक

शुभे काव्यतत्त्वविद्धि, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सञ्ज्ञितः, परम्परया यः समागतात्पूर्वं सम्यक् वा समन्तात् ग्नातः प्रकटित, तस्य सहृदयजनमनः-प्रकाशमानस्याप्यभात्रमन्ये जगदु । तदभाववादिना धामी विवर्णा. सम्भवन्ति ।

[(अनु०) शुभ शब्द का अर्थ है काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् । (क्यों कि काव्य शास्त्र में वन्ही की सम्मति महत्वपूर्ण हो सकती है ।) इन विद्वानों के द्वारा ध्वनि इस सशराली जो काव्य को आत्मा परम्परा से पहले ही समाझात की गई थी अर्थात् (सम सम्यक्) मठी प्रकार (वा समन्तात्) चारों ओर से सभी दिशाओं में विचार करके प्रकट की गई थी, यह ध्वनि यद्यपि सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान हो रही है फिर भी दूसरे लोगों ने (असहृदय व्यक्तियों ने) उसका अभाव कहलाया था । उसका अभाव कहलानेवालों के ये (अग्रिम प्रकरण में वर्णन किये हुये) विवर्ण सम्भव हो सकते हैं ।]

लौचनम्

काव्यात्मशब्दमक्षिपानाद् शुभशब्दोऽत्र काव्याभावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति काव्यतत्त्वविद्धिरिति । भास्मशब्दस्य तत्रशब्देनार्थं विवृण्वानः

काव्यशब्द शब्द के सञ्ज्ञित होने से शुभ शब्द यहाँ पर काव्याभावबोध निमित्तक है (अर्थात् शुभ शब्द से यहाँ पर काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् ही अभिप्रेत है) इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं (व्याख्या कर रहे हैं) शुभ अर्थात् काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों के द्वारा । भास्मशब्द के अर्थ

तारावली

प्रयोग किया था जिसका अभाव यह है कि उस काव्य नहीं होते किन्तु निमावादि विभिन्न संस्कारों के द्वारा उनकी निष्पत्ति होती है । इस प्रकार अन्धकार, रीति तथा उस चीजों पूर्ववर्ती सम्प्रदायों ने ध्वनि सम्प्रदाय की सीमा का तथो अवलोकन किया था यद्यपि सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सम्प्रदाय का आरम्भ नहीं हुआ था ।

प्रस्तुत चारिका पर विचार करने से अवगत होता है कि ध्वनिकार के समय में ध्वनि सिद्धान्त विद्वम्बुष्टी में चर्चा का विषय बना हुआ था और जिस प्रकार विशिष्ट दिनों में छायावाद को नवीन सिद्धान्त मानकर साथ उसका प्रतिपाद ही किया जाया था तथा उसकी हसी उर्झा जाओ थी उसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को भी विरोधियों के विरोध का ध्वनि साधना करना पड़ा था । ध्वनि विरोध का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उस समय के लक्षण-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में इस सिद्धान्त को मानवृत्त कर सञ्ज्ञित नहीं किया, मानो यह सिद्धान्त इस योग्य था ही नहीं कि उन आचार्यों के ग्रन्थों में स्थान पा सकता । ध्वनिकारने विरोधियों के समस्त प्रतिपादों की मीमांसा कर ध्वनि विराध को हीन अंगियों में रिक्त किया — एक ही ने होग है जो ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार करना नहीं चाहत । दूसरे ने होग है जो ध्वनि की सत्ता के अन्दर सर्वनिष्ठ करते हैं और तीसरे ने होग है जो ध्वनि की सत्ता

ध्वन्यालोक

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति युधैयं समाज्ञातपूर्व—

स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।

केचिद्वाचा स्थितमविषये तत्त्वमनुस्तदीय

तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

[अनु०] [काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् पहले से ही यह व्याख्या करते आये हैं कि काव्य की आत्मा ध्वनि है । कतिपय विद्वानों ने उस ध्वनि का सर्वथा अभाव बननाया है । दूसरे आचार्य कहते हैं कि वह ध्वनि स्पर्शगम्य है । कुछ लोगों ने कहा है कि ध्वनि का तत्त्व कभी वाणी का विषय हो ही नहीं सकता । इस प्रकार के वैमर्श होने के कारण सहृदय मनस्वी के उद्देश्य से हम उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं ।]

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधद्प्रधानतया प्रयोजनप्रयोजन सरसम्बद्धं प्रयोजन च सामर्थ्यान् प्रकृत्यन्नादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मैति ।

[अब प्रधानतया अभिधेय स्वरूप का अभिधान करते हुये अभिधानतया प्रयोजनप्रयोजन और उसमें सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये आदि वाक्य को यह रहे है (व्याख्या कर रहे हैं)—काव्यस्यात्मा इत्यादि ।]

छारावती

ने केवल आशुबाँद दिया है, उसमें भगवान् की भक्ति नहीं है । भगवान् से भक्तों को रक्षा करने की प्रार्थना स्वयं ब्रह्मण्य भक्ति की परिचायक है । अब यहाँ पर भी रस अहमान है । अज्ञाभाव ध्वनि ही है ।

‘निर्’, ‘स्’, ‘आम’ इत्यादि शब्दों का अन्वय प्रधान क्रिया से ही होता है—यहाँ ‘स्वेच्छा’ शब्द प्रधान क्रिया से अभिधेय न होकर ‘केमरी’ इस सदा शब्द से अन्वित हुआ है । अतएव यहाँ पर अभिधेयतमम्बध नामक दोष प्रतीत होने लगता है । किन्तु ‘स्वेच्छा’ शब्द के विशेष रूप से व्यञ्जक होने के कारण इस दोष का निराकरण हो जाता है । यद्यपि छाया शब्द का सवास होने पर उसमें ननुषक छिद्र हो जाता है तथापि यह निदम वही पर छाया होता है जहाँ पर छाया शब्द का अर्थ आतव का अभाव हो । अन्वय ‘विभाषासेनामुराष्टाया साधनिगहनम्’ इस सूत्र से विकृत होता है । यद्यपि यहाँ पर हस्त होकर ‘आवसित’ के ‘आ’ से दोष होने पर भी काम चल सकता है तथापि यह सनाधान मानना ठीक नहीं । क्योंकि ‘स्वेच्छाया’ इस अभिधेय श्रुत को व्याख्या से उसका सङ्गति नहीं बैठती । अभिधेयश्रुत ने स्वच्छ शब्द को धर्मरक (स्वच्छतावाचक) मानकर स्वच्छाया से उसका द्रव्य सनाधान माना है । किन्तु दाधितिकार के अनुसार ‘स्वच्छ’ शब्द धर्मरक भी माना जा सकता है और इस

लोचनम्

एतद्विवृणोति—संज्ञित इति । वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्यैव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत सारभूतम् । नह्यमपथा बुधास्तादृशमानेपुरित्वमिमादेन विवृणोति-सहृदयेत्यादिना । यच्च तु शुद्धतरम् । इतिशब्दो मिश्रकर्मो वाक्यार्थ-परामर्शक, ध्वनितल्लभ्योऽर्थः । काव्यस्यात्मेति यः समागता इति । शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थः इति का सङ्गतिः । एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं

यथा का वोग नहीं हो सकता । [इसी का विवरण दे रहे हैं—‘संज्ञित’ यह शब्द । वास्तव में यह सञ्ज्ञानार्थ से ही नहीं कहा गया है; अपितु ध्वनिशब्दका वाच्य है ही प्रत्युत यह सबका सार-भूत है । अन्यथा [य] वोग वैसी वस्तु को जानाता नहीं करते, इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं—‘तस्य सहृदय’ शब्दों के द्वारा । यह तो अधिक बखित है—‘एहि’ शब्द भिन्न रूप वाला (होकर) वाक्यार्थ का परामर्शक हो जाता है । ध्वनि लक्षणवाला अर्थ काव्य की आत्मा (होता है) ‘यह’ को कहा गया है यह (अर्थ इस वाक्य का हो जाता है ।) निस्सन्देह यदि पदार्थ शब्द माना जावेगा (क्योंकि यदि ‘ध्वनिरिति’ का अर्थ ध्वनि शब्द दिया जावेगा) तो ध्वनि सङ्गवाला अर्थ यह कहने पर (अन्य को) सङ्गति ही क्या होगी ? इस प्रकार निस्सन्देह ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा होता है यह कहा हुआ हो जावेगा जैसे

वाराहवी

वास्तविकता यह है कि वहाँ पर ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल सङ्ग के लिए ही नहीं किया गया है किन्तु उसका वाक्यार्थ भी अभिप्रेत है । क्योंकि ध्वनि शब्द का वाक्यार्थ विषयान्तर है ही और एतना ही नहीं अपितु वही तत्तत् समस्त वाक्यार्थ का सार है । नहीं तो विद्वान् लोग तत्तत् प्रकार के (सारहीन) शब्दों को प्रकाशित करते ही नहीं । इसी लिये मूढकार ने ध्वनि का विशेषण दिया ‘सहृदय व्यक्तियों में प्रकाशमान’ । [वहाँ पर लोचनकार ने वाच्य की व्याख्या में ही परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों की स्थापना की है—(१) ‘ध्वनिरिति’ में इति के कारण ध्वनि शब्द स्वरूपपरक है और ध्वनि शब्द विषय का विषय है, क्योंकि अनिश्चय के कारण अर्थरसता सम्भव नहीं । (२) ध्वनि शब्द का वाक्यार्थ ही विषय का विषय है क्योंकि वह न केवल निश्चित है अपितु समस्त वाक्यार्थ का सारभूत है । इस विरोध के निराकरण के लिये लोचनकार ने अन्य को सङ्गति इस प्रकार दिखाने है ।] इति शब्द का रूप बदल कर अन्वय इस प्रकार कर लिया जाना चाहिये कि यह शब्द वाक्यार्थ का बोधक हो जावे—‘ध्वनिलक्षण अर्थ को कि काव्य की आत्मा के रूप में माना गया है ।’ इस प्रकार की वाक्यरचना से उसमें अर्थरसता या जावेगी और विरोध बतल रहेगा । यदि वस्तुही शब्दपरला वहीकार की जावेगी तो अर्थ ही जावेगा ‘ध्वनि सङ्ग’ इस अर्थ के मानने पर अन्य की सङ्गति ही क्या होगी ? इस प्रकार तो ‘ध्वनि’ शब्द काव्य की आत्मा है यह अर्थ हो जावेगा जैसे अनुकरण में ‘गविषयमाह’ में ‘गो शब्द

तारावली

टाकम के पय पर गली गइ है। दूसरी बात यह है कि अमिनवगुप्त मद्राजावरण लिखने वाले का सच ही धुनिकार कहत हैं और हम प्रकार कारिकाकार से उनके पृथक् भी ओर सङ्गन करते हैं। सहज्याना मनसि आनन्दा लम्बा प्रतिष्ठान् हम सन्मर्ग को व्याख्या में अमिनवगुप्त ने आनन्द का अर्थ आनन्दवर्धन किया है। यदि ध्वनिकार तथा आलोचकार का व्यक्तत्व एक ही होता तो आनन्द का 'लेख व्याख्यात्मक' रूप में नहीं किन्तु मूल रूप में लाया गया होता, क्योंकि ऐसी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ पय क हा अनकूट हैं। हमसे मा प्रकट होता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से मित्र कोई दूसरे व्यक्ति हैं। सबसे बड़ा बात यह है कि कारिकाकार उक्त पय में सच रूप से कहत हैं कि काय का आत्मा ध्वनि है' उस बात का एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने प्रतिपादन किया है। यही पर ध्वनिकार ने आनन्दा गद्य का प्रयोग किया है जो कि व्याख्यात्मक मौलान्तिक धातु 'म्मा' का निदानस्थान रूप है और उसके पहले आ उपास्य का प्रयोग किया गया है। हम प्रकार हम 'ग' का अर्थ होता है— विद्वानों ने सभा दिग्गजों में पर्याप्त विचार करने के बाद ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनके बाद ध्वनि का एक परम्परा सी चतुर्थी विमर्श अनुकरण अनेक परवर्तों आचार्यों ने किया और यह सिद्धान्त परत मात्रा में परंपरागत रूप में अन्तर्गत हो गया था। केवल इतने से ही ध्वनिकार का सन्तुष्ट नहीं हुआ। उन्होंने इस गद्य पर और अधिक बल देने के लिये 'सम्' उपसर्ग और 'वा' लिपि जिसका अर्थ हुआ कि इस सिद्धान्त का मन्थन मा पर्याप्त मात्रा में हुआ था। हमसे सच प्रतीत होता है कि ध्वनिकार का किसी ऐसा परम्परा का ज्ञान था जिसमें ध्वनि का ही सत्य की आत्मा माना जाता था। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने लिखा है कि इसके पहले हम विषय में कई पुस्तकें नहीं लिखीं गइ और ध्वनिकारों सिद्धान्तों का सम्भावनामात्र से उल्लेख किया गया है; इससे प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन उक्त परम्परा से अवचित थे। 'सम्मानार्थ' में 'पूर्व' गद्य भी ध्यान देने योग्य है। 'पूर्व' शब्द से बात होती है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया जाता रहा था, किन्तु ध्वनिकार के समय उक्त अर्थ था उस सिद्धान्त का प्रायः ठीक हा चुका था। इस प्रकार इस प्रकरण को पूर्वावधाना करने पर प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन से मित्र ध्वनिकार का दूसरे व्यक्ति हैं इनकी कारिकायें आनन्दवर्धन को हसगत्र हुई थीं। उनकी का व्याख्या अलोक में हो गई।

'सहज्यन प्रीत्ये' में तथा अन्ध 'सहज्य' गद्य का प्राथमिक प्रयोग देखकर कुछ लोगों ने कल्पना की है कि सम्भवतः ध्वनिकार का नाम सहज्य था। किन्तु 'सहज्य' गद्य व्यक्ति शब्द सजा के रूप में प्रयुक्त हुआ नहीं जन पड़ता, अपि तु व्याकरणिकों का यह विशेषण ही कहा जा सकता है।

त्रिष परम्परा द्वारा ध्वनिसम्बन्ध प्राचीनकाल में सम्मानित किया गया था उसका स्मरण हमें अभी तक अनुभवान नहीं किया जा सका। आनन्दवर्धन ने आचार्यों द्वारा

लोचनम्

पूर्वग्रहणेनेषं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे ॥ — सम्यगासम्भवाद् भ्नात् प्रकटित इत्यनेन । तस्येति । यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रथतनीयं का तजामावमगमावना । अत किं नुमं, अपार माधुर्यममावषादिनामितिमाव ।

यह बड़ा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यही पर नहीं हो जाता । व्याख्या में 'सम्यक् आसम्भवाद् भ्नात् प्रकटित' इन शब्दों के द्वारा की है । 'तस्य जगु'—जिस की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वही अभाव की सम्भावना भी क्या हो सकती है ? इसलिये हम क्या करें । आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है ।

सारावली

इसमें किसी को विमतिपक्ष नहीं है । विवाद या विषय केवल यही है कि बाध्यार्थ व्यतिरिक्त गम्यमान अर्थ का ध्वनि सदा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर दिया जाना चाहिये । इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी स्वरूपरता प्रतिपादित की गई है ।

सम्भव लोचन का इस व्याख्या को देस कर ही महिममह ने प्रस्तुत भास्वरचना पर आरोप किया है, तथा लिखा है कि—यहाँ पर प्रथम भेद नामक दोष है । इनके मत में 'इति' शब्द का प्रयोग 'बाध्याशब्देति' इस प्रकार होता चाहिये । क्योंकि दूसरे चरण में जो 'तस्य' का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाध्यात्ववाद और भास्वरचर-व्यवहार की स्थापना का गई है इसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिये । ध्वनि के ही अभाव इत्यादि की स्थापना करनी है । किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिससे उसके पदार्थत्व का विर्याम हो जाता है, दूसरा ध्वनि शब्द यहाँ पर है नहीं । इससे 'तस्य' का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता । किन्तु इस आरोप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या में पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है ।

कुछ शब्द में बहुवचन से व्यक्त होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो उसका प्रामादिक हो सचना भी सम्भव हो सकता था । किन्तु बहुतों का प्रामादिक हो सकना सहज नहीं कहा जा सकता । परम्परा शब्द से व्यक्त होता है कि वर्षों किसी विद्वान् पुस्तक में इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान् छेग निम्नतर इसका प्रतिपादन करते आये हैं और उनका प्रवाद अविच्छिन्न बना रहा । बहुतों से विद्वान् अनादरार्णव बहुतों का अदर से उपदेश कभी नहीं करते इसका तो अदर से उपदेश विदा गया है । यही बात 'समाप्तातपूर्व' शब्द से व्यक्त होती है । 'पूर्व' शब्द के उपदान का आशय यही है कि वह सिद्धान्त अभी समय पड़ती बार नहीं लिखा जा रहा है । इसीसे आलोचकों में व्याख्या की गई है—ठीक रूप में पारा और से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है । 'तस्य' (उपस्था) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के

चारावती

इन्होंने विवेचन के साथ अलङ्कारों के वर्गीकरण का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन आचार्यों के विवेचन में कतिपय अलङ्कार तो स्पष्ट ही व्यञ्जनामूक हैं। दूसरे अलङ्कारों के मूल में मामूली वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयाक्ति विद्यमान रहती हैं। अतएव उनकी ध्वनिप्रवणता सिद्ध हो जाता है।

रीति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं वामन। इस सम्प्रदाय का प्रथम सङ्कृत दण्डी के काव्यदर्शन में मिलता है। दण्डी ने काव्यत्व का प्रमुख साधन माना है मार्ग, जो कि रीति का ही दूसरा पर्याय है। परन्तु वामन की अपेक्षा दण्डी की मान्यता में यह अन्तर है कि वामन ने रीति का गुण पर आश्रित बनाया है और अलङ्कार को रीति का अनित्य सम्बन्धी माना है। इनके प्रतिष्ठित दण्डी ने गुण और अलङ्कार दोनों से रीति का समान सम्बन्ध स्वीकार किया है। अलङ्कारों को वामन काव्यत्व के निमित्त अनिवार्य साधन नहीं स्वीकार करत, पर उनका काव्य का शोभा सम्बन्ध मात्र मानते हैं। वामन के मत में प्रत्येक अर्थालङ्कार में अपना गमित रहती है। इसलिये इन्होंने अर्थालङ्कार समूह को उपमाप्रपञ्च—इस सामान्य नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः रीतियों का व्यवस्थापन वषट् विषय के अनुसार होता है और कोई विशिष्ट रीति वषट् विषय को जितना अधिक प्रकट कर सकती है उतनी ही वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। अब तक पदसङ्ग्रहों के द्वारा रमणीय कार्य की अभिव्यक्ति न हो तब तक वह कभी काव्यत्व की प्रमाप्ति नहीं हो सकता। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय भी ध्वनि सम्प्रदायका स्वयं अवश्य कण्ठ है। वामन का प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा की सन्निहित मानना या अलङ्कार व्यवस्था का परिचायक है।

रस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है भरत मुनि का नाट्यशास्त्र। इसकी प्रधानता नाट्य में ही मानी जाती है इसलिये कहा-कही नाट्य रस शब्द का भा प्रयोग किया जाता है। काव्य में रस की सत्ता प्रारम्भ से ही मानी आता रहा था। किन्तु आनन्द वर्धन से पहले काव्य में रस सर्वत्र गौण स्थान का अधिकारी रहा था। मामूली ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस मात्र इत्यादि का समावेश करने की चेष्टा की। दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन ने भी वहीं का पदानुसरण किया किन्तु उत्तरोत्तर रस की महत्त्व प्राप्त होता गया। दण्डी ने 'रसभावनिर्न्तरम्' कह कर काव्य में रस की अपरिहार्यता की ओर कुछ-कुछ सङ्केत दिया था। वामन ने दण्डी की अपेक्षा इसकी अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने इसका अन्तर्भाव कान्ति गुण में कर 'दीप्तरसव कान्ति' यह कान्ति गुण की परिभाषा की। इस प्रकार काव्य में इसकी अपरिहार्यता और अधिक बढ़ गई। उद्भट ने रसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया। रसको अलङ्कारों की दासता से मुक्त करने का बहुत कुछ भेद इन्हीं की प्राप्त है। इन्होंने अलङ्कार, रीति, रस और ध्वनि सम्प्रदाय के सङ्गम स्थल पर खड़े होकर विराधी मित्रान्तों को मिटाने का सुन्दर प्रयास किया। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो हमारे मूल में यह व्यञ्जना वृत्ति सर्वत्र ही रूप में विद्यमान है। भरत ने प्रारम्भ में ही रसनिर्गति शब्द का

लोचनम्

नेयमसम्भवतो युक्तं अपितु सम्भवत् एव । अन्यथा सम्भावनाभिरुपवसान्
स्याद् दूषयान्ता च । अतः सम्भावनामभिधायिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं
सम्भवन्तीत्याह । सम्भाव्यन्त इति तुल्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात् । न च
सम्भवस्यापि सम्भावना, अपितु वर्तमानतैव स्पृष्टेति वर्तमानेनैव निर्देशः । ननु
च सम्भवदस्तुमूलया सम्भावनाया यत्सम्भावितं तद्दूषयितुमशक्यमित्याह—
विकल्पा इति । न तु घस्तु सम्भवति तादृक् इति ह्येव सम्भावना, अपितु
विकल्पा एव । ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि । अतएव आचक्षीरन्
इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अर्थातपरमार्थे परंपर्यन्ति ।

करोगे । असम्भव की यह सम्भावना भी उचित नहीं है । अपितु सम्भव की ही (सम्भावना
उचित है ।) अन्यथा सम्भावनाओं और दूषणों का पर्यवसान बर्मी हो ही न सके । इसलिये
जित सम्भावना को आगे चलकर कहेंगे उसका समर्थन करने में लिये पहले ही 'सम्भवन्ति'
यह कहा है । यदि सम्भाव्यन्ते 'सम्भावना की जाति है' यह कहा गया होता तो पुनरुक्तार्थ
ही हो जाता । सम्भव की भी सम्भावना हो सकती है ऐसा नहीं कहा ग सक्ता । किन्तु
उसका वर्तमान जाना ही स्पष्ट है अतः वर्तमान के द्वारा ही निर्देश दिया गया है । सम्भव
रह्य मूलक सम्भावना के द्वारा जो वस्तु सम्भावित की गई हो उसको दूषित करना अशक्य है
यह जगज्ज्ञा करके उधर दे रहे हैं—विकल्पा इति । वस्तु तो उस प्रकार की सम्भव हो नहीं
है जिससे यह सम्भावना की गई है अपितु (ये) विकल्प ही हैं । और ये तत्त्वज्ञान में बन्ध
(कुण्ठित) होने के कारण स्फुरित भी हो सकें इसलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावना
विषयक लिङ्प्रकार के प्रयोग अतीत के तात्पर्यार्थ में परंपरित होने हैं (आशय यह है कि
जित सम्भावनाओं को कल्पना की गई है वे केवल सम्भावित मात्र ही हैं सम्भव नहीं हैं,
जितको बुद्धि तत्त्वज्ञान में कुण्ठित है वहाँ के अस्तिष्ठ में वे स्फुरित हो सकते हैं । इसी बात
को स्पष्ट करने के लिये आचक्षीरन् इत्यादि शब्दों में लिङ्प्रकार का प्रयोग दिया गया है
जिसका तात्पर्य होता है मूलक ।) जैसे—

सारावली

सकता था किन्तु अगले प्रकरण में 'आचक्षीरन्' इत्यादि विवाजों में लिङ्प्रकार का प्रयोग
दिया जायेगा । उस लिङ्प्रकार से अशक्यता की पुनर्बुद्धि हो होगी । इसलिये कर्तुं
वाच्य का प्रयोग दिया गया है अस्तिष्ठ का नहीं । 'सम्भवन्ति' में वर्तमान काल के प्रयोग
का आशय यह है कि जो वस्तु सम्भव है वह केवल सम्भावना का ही विषय नहीं हाती
किन्तु वर्तमानता ही उसमें रहती ही है ।

यही पर यह प्रश्न उद्भूत होता है कि यदि सम्भावना के मूल में सम्भव वस्तु ही हो
उसका अस्तिष्ठ किस प्रकार दिया जा सकेगा । अभी प्रश्न का उधर देने के मन्तव्य से
आशङ्ककार ने विकल्प शब्द का प्रयोग दिया है । इस शब्द का अभिप्राय यह है कि जित

लोचनम्

सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति इति शब्दः । स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याच्ये, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयामावेनार्थत्वायोगात् ।

को तत्त्व शब्द के द्वारा प्रकट करते हुए सारवत्ता तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद शब्दों से विन्मूला करिता दिखता रहे हैं । 'इति' शब्द ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतला रहा है । क्योंकि वक्तव्य अर्थ विवादास्पद होने से निश्चय न हो सकने के कारण यहां पर (ध्वनि को) अर्थ

सारावली

स्वीकार में करते हैं किन्तु वक्तव्य लक्षण बना सकना असम्भव बतलाते हैं । ध्वनिकार ने अमावसाह और अक्षयवृक्षवाह के लिए परोक्ष मूल का प्रयोग किया है और लक्षण वाद के लिए वर्तमान काल का । इसका आशय यह है कि अमावसाही तथा अक्षयवृक्षवाही ध्वनि कार के समय में अनीत की क्या बन गये थे । ध्वनिकार ने उनके विषय में केवल सुना था, ऐसे लोगों का प्रत्यक्ष नहीं किया था । लक्षण में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले लोग ध्वनि कार के समय में ही विद्यमान थे ।

अन्तुत एव में बुध शब्द के साथ वाच्यत्व शब्द का उद्गारान किया गया है । इस काव्यात्म शब्द का निष्कर्ष के कारण बुध शब्द का प्रयोग भी काव्यात्मा को जानने वाले विद्वानों के लिये ही हुआ है । इसी अभिप्राय से मूल में 'बुध' का अर्थ किया गया है काव्य उत्प्रेक्षा । यहाँ पर 'काव्यात्मा' शब्द के 'आत्मा' शब्द का अर्थ किया गया है 'उत्पत्ति' । उत्पत्ति शब्द का अर्थ है जिसका स्वरूप अभी बाधित न हो । इस प्रकार ध्वनि की साररूपता तथा दूसरे शब्दों से वक्तव्य विलक्षणता व्यक्त की गई है । [आशय यह है कि यहाँ पर ध्वनि का 'काव्यात्मा' कहा है । आत्मा का अर्थ है आत्मा के सन्तान । यहाँ पर ध्वनि और आत्मा में साधर्म्य यही है कि जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बाध नहीं होता, वही प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी बाध नहीं हो सकता । अतएव जिस प्रकार वाणिज्य में आत्मा सारमूल पदार्थ है और वक्तव्य विनेयता शब्द से बाध नहीं की जा सकती वही प्रकार काव्य में ध्वनि सारमूल पदार्थ है और वक्तव्य विनेयता शब्दों से बाध नहीं हो सकती ।]

अभिप्रेक्ष्यते ने कहा है कि 'इतिनेकेन्द्रपर्यायकस्य शब्दपर्यायत्वस्य' अर्थात् सामान्य तथा किसी वाक्य के अन्दर आने वाले शब्दों का अर्थ अभिप्रेक्ष्य होता है, किन्तु विल शब्दों के बाद 'इति' शब्द जोड़ दिया जाता है उन शब्दों का अर्थ नहीं लिया जाता अपितु शब्दपरता ही उनमें अभिप्रेक्ष्य होती है । यहाँ पर 'ध्वनिरिति' शब्द में ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग किया गया है ता कि ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को दर्शाया है । अतएव यह है कि ध्वनि का अर्थ विवादास्पद है अतएव निश्चय न होने के कारण अर्थ का उद्गारान नहीं हो सकता । अतएव स्वरूपपरता को व्यक्त करने के लिये इति शब्द लगा दिया है । इसी अभिप्राय से आलोक में 'ध्वनिरिति संचित' यह अर्थ किया गया है । किन्तु

लोचनम्

प्रकृतन बहुना । तत्र समवायक्षणेन शब्दाऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्य
व्यतिरिक्त नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदापि वा तदभिधानुपयाक्षिप्त शब्दावगतार्थ
यत्कृष्टत्वाद्भाक्तम् । तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारिण्यिव भर्तृसुग
मतद्विसु इति प्रत्य एवैते प्रधानप्रतिपत्तिप्रकाराः ।

(करते हुए) 'अर्थ' अथ का प्रतिपादक होना है यह मानकर वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य नहीं
होता अथवा हाते हुए भी अभिधानुक्त के द्वारा आश्रित (होकर) 'अर्थ' के अभाव अथ के
बल पर आश्रित किया हुआ भाक्त प्रयोग है । इसके द्वारा आश्रित न होकर के भी कहा
सही जा सकता जिस प्रकार उस बात को न जानने वाली कुमारिका में मियनम का ह्रास
(नहीं कहा जा सकता) इस प्रकार विप्रतिपादक के ये तीन प्रधान प्रकार हैं ।

सारावर्ती

श्रुतिरित इस प्रकार की गई है— 'शब्दज्ञानानुपासी वस्तुगुणा विचार्य' अर्थात् नहीं वस्तु
की सत्ता न हो किन्तु 'शब्द' मान से जिसकी प्रतीति हो जाती हो उसे विचार्य कहते
हैं । गुरुहरि ने वाक्यान्वय में लिखा है— अत्यन्तानुपायि धर्मो शब्दं शब्दं कर्ताति हि' अर्थात्
नहीं अर्थ (वस्तु) की सत्ता विलुप्त न हो किन्तु 'शब्द' का प्रयोग कर दिया जाने से
उसमें एक प्रकार का ज्ञान श्रुतिन अवश्य हो जायगा । व्याकरणों के मन में दोष एतत्
ही 'शब्द' वा विषय होता है । इस स्मरण प्रकरण का आशय यही है कि अग्रिम पृष्ठों में
जिन ध्वनि विराधी पदों की उद्घाटना की जावेगी वे वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं किन्तु अन्तः
पदों को ही बुझाया गया है । [संक्षेप में जिन ध्वनि विराधी पदों की उद्घाटना
की जा सकती है वे ये हैं— (१) यही शब्द अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है जिसका
सङ्गत प्रमाण हो गया है । सङ्गतिन अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं, अथ वाच्यार्थ त भिन्न को
व्यङ्ग्यार्थ ही हो नहीं सकता । (२) यदि वाच्यार्थ से भिन्न-कोई भी अर्थ सम्भव है तो वह
वाच्यार्थ के बल पर आश्रित किया हुआ उसका सहयोगी अर्थ ही हो सकता है । उसका
समावेग दृष्टाव्य में ही जानना उसके लिये अन्तः से व्यञ्जना कृति मानने की आवश्यकता
नहीं । (३) यदि कोई ऐसा भी अर्थ सम्भव है जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध वाच्यार्थ से
नहीं है और वह वाच्यार्थ से आश्रित नहीं किया जा सकता तो जैसे पुष्पानुद्भास का आनन्द
न जानने वाली कुमारिकाओं का उस फूल का परिचय नहीं दिया जा सकता उसी प्रकार
इस ध्वनितत्त्व का निरूपण भी संभव असम्भव है । इस विराधी के यही तीन प्रकार हैं ।
[प्रथम पद का अभाववाद की सत्ता प्रदान की जा सकती है जो कि विप्रत्ययमूलक है क्योंकि
विराधी ज्ञान पर आधारित है । दूसरे पद को मात्तानन्द कहा जा सकता है जो कि सङ्ग
मूलक है । तीसरा पद अन्तःप्रत्ययमूलक के नाम से अभिहित किया जा सकता है जो
कि सङ्गमूलक है ।]

कथक के अन्तर्गत संभव की विमर्शनी दीक्षा में जगज्ज ने १२ ध्वनि विराधी का

लोचनम्

मवेत्, गवित्ययमाहेति यथा । न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्देजनेन । युधस्थैरस्य तथामिधानं स्यात्, नतु भूयसा तद्युक्तम् । तेन युधैरिति बहुवचनम् । तदेव व्याचष्टे—परमपर्येति । अविच्छिन्नेन प्रवाहेण सैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः । न च युधा भूयासोऽनादरणीय वस्त्वादरेणोपदिशेयुः । एतत्वादरेणोपदिष्टम् । तदाह—सम्यगाम्नात्पूर्वं इति ।

‘गवित्ययमाह’ में होता है । विप्रतिपत्ति का स्थान केवल असत्य ही नहीं होता अपितु धर्मों के होने पर ही धर्म मात्र के लिये उत्पन्न हुई विप्रतिपत्ति हो जाती है—इस प्रकार के सहृदयजनों को उद्दिष्ट करने वाले बहुत अधिक अमस्तुत (विस्तार) की आवश्यकता नहीं है । किसी एक युध (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन मामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतों को यह बात (मामादिक मानना) उचित नहीं है । इसीलिये युध में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । वही व्याख्या कर रहे हैं । परम्परा के द्वारा इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक में विनाही सन्निवेश किये हुए अविच्छिन्न प्रवाह के द्वारा यह बात कही है । बहुत से युध अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते, इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया है । वही बात कह रहे हैं समाम्नात्पूर्वं यह । पूर्वशब्द के बराबर से

तारावती

का यह अर्थ हो जाता है । वही पर यह पूछा जा सकता है कि यदि ध्वनि के वाक्यार्थ की सच्चा स्वीकार कर ली जाये तो विप्रतिपत्ति हो किम बात की होगी ? इसका उत्तर यह है कि विप्रतिपत्ति केवल वही विषय में नहीं होती जिसकी सच्चा विद्यमान नहीं, अपितु धर्मों के होने पर भी धर्म मात्र में भा विप्रतिपत्ति हो जाता है । इतना पर्याप्त है । अधिक अनास्तिक कथन के द्वारा सहृदयों को उद्दिष्ट करना ठीक नहीं । [वही पर लोचनकार ने निष्कर्ष वही निकाला है कि वही ‘इति’ शब्द का कम बदल कर ध्वनि शब्द की अर्थपरता ही अभिमत होती है । ध्वनि वस्तु विद्यमान है ही फिर उसमें विप्रतिपत्ति कैसी ? इस प्रश्न का उत्तर लोचनकार ने यह दिया है कि असत् वस्तु के विषय में ही विप्रतिपत्ति नहीं होती सत् वस्तु में भी धर्म मात्र में विप्रतिपत्ति हो सकती है । जैसे शब्द की सच्चा में ही उसके निवृत्त धर्मस्थ के विषय में विप्रतिपत्ति होती है । प्रस्तुत प्रकरण में भी ध्वनिवत्त्व के विद्यमान होने पर ही विप्रतिपत्ति होती है । उसको शुभ अलङ्कार इत्यादि में सन्निविष्ट किया जाये या उसको पृथक् सच्चा ही स्वीकार कर उसे काव्यश्ला के रूप में स्वीकार किया जाये । यह है लोचन का सार ! किन्तु बालविकला यह है कि ध्वनि की शब्दपरता भी वही पर अनश्वर नहीं है । भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के लिये वगैरे वगैरे पर अभी विवाद नहीं किया गया, विवाद केवल नामकरण का रहा है । काव्य में वाक्यार्थ-अतिरिक्त अर्थ भी अभिमत होता है

ध्वन्यालोक

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरारं भावस्त्वान्यम् । तत्र च शब्दगताश्रया-
स्त्वहेतवोऽनुभासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्रोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च

[(४०) प्रथम एव—सम्भवतः यहाँ पर कुछ लोग यह कहें कि 'इसमें तो कोई संदेह
हो ही नहीं सकता कि शब्द और अर्थ काव्य के धारी हैं । इनमें शब्दगत चारता में हेतु
अनुभास इत्यादि प्रसिद्ध ही हैं । अथवा चारता में हेतु उपमा इत्यादि भी प्रसिद्ध ही हैं । वच

पारावर्ती

प्रथम एव अभावज्ञान के तीन प्रकार हैं—(१) शब्द और गान्धर्व की सीमा का अति-
क्रमण करने वाले शब्द और अर्थ हो काव्य का स्वरूप हैं । शब्द और अर्थ में शोभा का आधान
करने वाले धर्म शब्द गुण अर्थ गुण, गच्छालङ्कार और अर्थालङ्कार ही हैं । इनके अधिकृत
शोभाभावक कोई अन्य धर्म है ही नहीं जिसकी गणना हम न कर चुके हो । यह पहला प्रकार
है । (२) जिसका साहित्य पारस्व्य में अब तक विचार नहीं किया गया वह भी शोभाभावक
हो ही नहीं सकता । यह दूसरा प्रकार है । (३) यदि शोभाभावक धर्मान्तर प्राप्त भी हो
जावे तो उसका अन्तर्भाव हमारे कहे किये गुणों और अलङ्कारों में ही हो जावेगा । यह दूसरा
नाम रख देने में ही आरका कौनसा पारिध्य है । यदि कहो कि वक्तृगुणों और अलङ्कारों में
ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता तो भी विगणना के किसी अर्थ को लेकर दूसरा नाम
रखना या सज्जना है । उपमा में विधिपूर्वक के इतने प्रकार हैं कि उनकी संख्या ही निश्चय नहीं
की जा सकती । ऐसी दशा में भी (अर्थात् उपमा इत्यादि किसी अलङ्कार के प्रकार के अन्तर
ही वक्तृ ध्वनि को सन्निहित कर देने पर भी) ध्वनि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न सिद्ध नहीं
होती । दूसरा नाम रख देने से ही क्या हो जावेगा ? ध्वनि ही नहीं और भी अनेक विचित्र
ताओं की बचनता हो जा सकती है । भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने शब्दालङ्कार के रूप में
धमक और अर्थालङ्कार के रूप में उपमा को ही अग्रणी बतलाया था । अन्य अलङ्कारकारों ने
उन्हीं दो अलङ्कारों की गिना में वही के प्रथम के रूप में अलङ्कारों की इतनी अधिक संख्या
बढ़ा दी । [जिस प्रकार अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव शब्दालङ्कार धमक और अर्थालङ्कार
उपमा में ही कर दिया उसी प्रकार ध्वनि इत्यादि किसी भी नवीन कल्पना का समावेश भी
उन्हीं में हो सकता है । नया नाम बरण करने की क्या आवश्यकता ? यदि मङ्गल्य ने भी
कोई नया नाम प्रकट होगा है तो उसका भी समावेश इन्हीं दो में हो जावेगा ।] यह देखे ही
सम्माना चाहिये जैसे व्याकरण की सामान्य विधियों के अनेक विभिन्न रूप होते हैं और सबका
समाहार उसी सामान्य विधि में हो जाता है । जैसे 'कर्मध्वज' एवं से पुष्पकार बनता है ।
उसीमें नगरवार भी बन सकता है । उसमें कोई नवीनता नहीं मानी जाती ।

इस प्रकार अभावज्ञान के तीन वचन तथा लज्जापाश वचन और अशब्दलज्जापाश वचन के
पांच वचन ध्वनि विराधियों के सम्भव हैं । अन्ते प्रकरण में इहीस्त अन्तः विचार विस्तार
का रहा है

लोचनम्

न चास्माभिरमाववादिनां विरुद्धाः श्रुताः किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते; अतः परांशत्वम् । न च भविष्यद्वस्तु दूषयितु युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव । तदपि बुद्धपारोपित दूष्यत इति चेत्, बुद्धपारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः । अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टतन्त्रत्वप्रतिमानामावाच्च लिङा प्रयोगः कृतः जगदुरिति । तद्व्याख्यानायैव संभाव्यदूषणं प्रकटयिष्यति । सम्भावनापि

हमणियों के द्वारा अमाववादियों के विरुद्ध सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखाने जायेंगे । इसीलिये परोक्ष (का प्रयोग किया गया है ।) भविष्य की वस्तु में दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उपपन्न ही नहीं हुई । यदि कहो कि वह बुद्धि में आरोपित कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि में आरोपित होने के कारण ही उसमें भविष्यत्व की हानि हो जाती है । इसलिये भूतकाल के उन्मेष से, परोक्ष होने से, और विशिष्ट रूप से अग्रतन्त्र का प्रतिमान न होने से लिङ (लकार) के द्वारा प्रयोग किया गया है — 'जगदु' यह । उस (लिङ लकार) की व्याख्या करने के लिये ही सम्भावना करके दोषों को प्रकट

तारावती

लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव समझते हैं । उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है । तब, शब्द त्रिम प्रकार की वृष्टि से वर्णित हुआ है उससे व्यक्त होता है कि ऐक्य (धनिकार) का गहान् माक्षर्य है कि लोग उसका भी अभाव समझते हैं । 'उमन्' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'इम क्या करें; अमाववादियों की बहुत बड़ी गूना है ।'

'जगदु' क्रिया में अनपत्तन परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है । इस क्रिया में परोक्ष भूत का अर्थ यह है कि अमाववादियों के विरुद्ध सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके हो उनका सम्यक् किया जावेगा । भूतकाल के प्रयोग का आशय यह है कि भविष्य वस्तु का सम्यक् किया ही नहीं जा सकता । पहले वस्तु को हृदय में स्थापित कर लिया जाता है फिर उस पर विचार किया जाता है । हृदय में स्थापित कर लेने से भूतकाल आ गया और अग्रतन्त्र का प्रतिमान होता नहीं है । इसीलिये भूतकालपत्तन परोक्ष का प्रयोग किया गया है । आशय यह है कि उस धर्म की व्याख्या करने के लिये ही वस्तु की सम्भावना कर उनका सम्यक् किया जावेगा । [वस्तु परांश भूत का प्रयोग केवल सम्भावना का ही ध्येय नहीं किन्तु किसी पुरानी परम्परा की ओर भी इशारा करता है जिसका शब्द धनिकार को था, आनन्द-वर्षेन तथा अभिनव गुप्त को नहीं था ।] 'सम्भवन्ति' इस क्रिया के प्रयोग का आशय यह है कि अदम्ब्य की सम्भावना नहीं की जा सकती; अन्यथा न तो सम्भावनाओं का ही अन्त आ सकता है और न दोषों की परिसमाप्ति ही हो सकती है । इसीलिये त्रिम सम्भवित वस्तु का अधिन पक्ष में निरूपण किया जावेगा उनके लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का निर्देश किया गया है । यद्यपि यही पर 'सम्भाव्यन्ते' इस कर्तृवाच्य क्रिया का भी प्रयोग किया जा

सारावली

मूल में 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया गया है—'शब्दार्थशरीर' 'शब्द' 'काव्यम्' शब्द शब्द का अर्थ है निश्चय ही (देखें शब्द वचनद्वय कोश) शब्द शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीररूप हैं इस विषय में किसी को भी शिंका नहीं है । (अधिकतर विद्वानों ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा है—'शब्दार्थ सहितौ काव्यम्' (भामह) 'शब्दार्थौ सहितौ । पञ्चविन्द्यासारशास्त्रिणि' इत्यादि (तुलक) 'उदयोऽथ शब्दार्थौ' (मम्मट) इत्यादि । जिन आचार्यों ने केवल शब्दरूप काव्य माना है उन्होंने भी अर्थ के साहचर्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की है जैसे—'शब्द शब्दार्थस्य क्वचित्पदावली' (दण्डो) 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' (पण्डितरत्न) इत्यादि । [जब प्रश्न यह है कि क्या शब्द और अर्थ को ध्वनि कहना है या उनको किसी विशेषण को] आप शब्द और अर्थ को ध्वनि नहीं कह सकते । क्योंकि शब्द और अर्थ को एक नया नाम दे देने से क्या लाभ ? अतएव शब्द और अर्थ का विशेषण (सुन्दरता) को ही ध्वनि कहना पड़ेगा । सुन्दरता दो प्रकार की होती है (१) स्वरूप में रहने वाली सुन्दरता और सङ्कलन में रहने वाली सुन्दरता । इनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से होने वाली सुन्दरता शब्दालङ्कारों से और सङ्कलनात्मक रमणीयता शब्द गुणों से गठायें हो जाती है । इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपमात्र से रमणीयता अथवा अर्थार्थों से और सङ्कलनात्मक रमणीयता अर्थ गुणों से गठायें हो जाती है । गुण और अलङ्कारों के भेदक तत्त्व का प्रश्न भी साहित्य शास्त्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों का पूरक पूरक उल्लेख किया था । किन्तु इस बात पर प्रश्न नहीं आता कि इनका परस्पर भेदक तत्त्व क्या है ? सर्वप्रथम काव्य में अलङ्कारों से गुणों के भेदक तत्त्व की व्याख्या की । उन्होंने लिखा है कि काव्योपाया कृतीभिर्भाषा गुणः 'उदयितव्य-हेतव्यमलङ्कारा' उन्होंने दूसरा भेदकतत्त्व कहलाया निवृत्ता और अनिवृत्ता का । गुण निवृत्त भव्य होते हैं और अलङ्कार अनिवृत्त । भङ्गोद्भूत को वह भव्य नहीं माना । उन्होंने लिखा है कि लोक में तो शीघ्र अर्थात् गुण समवायवृत्ति (निवृत्त समन्वय) से रहते हैं और अलङ्कार द्वार अर्थात् सहाय वृत्ति (अनिवृत्त समन्वय) से रहते हैं, यह कहा जा सकता है किन्तु काव्य में गुणों और अलङ्कारों का भेद केवल मेधावाला है । ठाक रूप में ध्वनिवृत्तियों ने ही गुणों और अलङ्कारों के भेद की व्याख्या की । ध्वनिवृत्तियों का कहना है कि इस काव्य का जीवन है । जिस प्रकार शीघ्र अर्थात् गुण आत्मा के ही भव्य होते हैं उसी प्रकार काव्य के ओष्ठ अर्थात् भी रस के ही भव्यता भव्य होते हैं । कोमल सङ्कलना कोमल रसों के लिए अनिवार्य होती है और कठोर सङ्कलना कठोर रसों के लिये । इसके प्रतिष्ठित अलङ्कार अथ मूल शब्द और अर्थ का उपकार करने हुए उस अङ्गी आत्मामुक्त रस का उपकार करते हैं । (दे० काव्य प्रकरण ७० ८) गुण और अलङ्कारों से निम्न ध्वनि नाम को कोई बना हो ही नहीं सकती । मूल में जो सङ्कलनात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ है शब्द

लोचनम्

यदिनामास्य कायस्य यदन्तस्तद्वहिर्भवेत् ।

दण्डमादाय लोकोऽयं शुभः कार्काशं वारयेत् ॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति मूत्रप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववत्तमवनस्य सम्भावनेत्यलम्-

‘शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर होवे तो वह संसार दण्ड लेकर कुत्तों कीआँसें उसको बचाता फिरे।’

यहाँ पर । ‘यदि शरीर का इस प्रकार देखा जाना होवे तो इस प्रकार का दिखठार्ह पड़े’ इस वाक्य के अर्थ का भाव मूलकाल ही है । ‘यदि न हो तो क्या हो’ यहाँ पर भी । (इसका अर्थ यही है कि) क्या हुआ यदि पहले के समाप्त होने की सम्भावना नहीं हुई’ इस प्रकार के अमार्गिक बहुत करने की आवश्यकता नहीं । उसमें सहित की अपेक्षा से

वारावली

बस्तु की सम्भावना की गई है वह सर्वथा सम्भव नहीं है । क्योंकि है तो वह सम्भावना ही । फिर इसके छिपे ‘सम्भवन्ति’ इस क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि वस्तु धान की दिसा में जिनकी कुछ कुम्हिल रहती है उनके मस्तिष्क में ये पत्र छुटित हो सकते हैं । इसीछिपे ‘आवशीरन्’ इत्यादि क्रियाओं में छिद् का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ सम्भावना होता है और जिसका पर्यवसान ‘अतीत’ रूप वाच्यार्थ में होता है । [जिस प्रकार ‘अगस्त्य’ में बुद्ध्यासक्त होने के कारण मूलकाल का प्रयोग किया गया है वही प्रकार छिद् का पर्यवसान भी मूलकाल में ही होता है ।] जैसे ‘इस शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर भी होता तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्ते कीआँसें ही मचाया करता ।’ यहाँ पर ‘यदि इस प्रकार का शरीर दृष्टिगत हुआ करता तो इस प्रकार की करना दिखठार्ह पड़ती’ इस वाक्य का पर्यवसान मूलकाल में ही होता है । [केवल विधि वाक्यों में ही नहीं निवेश वाक्यों में भी सम्भावनाार्थक छिद् का वाच्य अतीत में ही हुआ करता है । जैसे] ‘यदि ऐसा नहीं होता तो क्या होता’ यहाँ पर भी अर्थ का पर्यवसान अतीत में ही होता है । यदि पहले कही बात समाप्त होने की सम्भावना नहीं हुई या क्या हुआ ? [क्योंकि यदि शरीर का अन्दर वैसा बाहर नहीं हुआ तो वह बात नहीं हुई कुत्ते कीआँसें शरीर को रक्षा नहीं करनी पड़ी । इस प्रकार निवेश वाक्य में भी सम्भावनाार्थक छिद् का प्रयोग मूलकाल के अर्थ में ही पर्यवसित होता है] अब और अधिक अमार्गिक वर्णन की आवश्यकता नहीं । [यहाँ पर विद्वत्पद के प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जिन पत्रों की सम्भावना की जा रही है वे पत्र परमार्थतः सम्भव नहीं हैं; केवल वस्तु धान से विमुक्त स्थिति में उनकी सम्भव मान सकते हैं । सच जैसे अतीत होने जाने किन्तु बस्तुतः अवश्य मनः की दृष्टि की वृत्ति पर विद्वत्पदना कर लेना विद्वत्पदना है । वृत्ति वृत्ति में विद्वत्पद की

लोचनम्

अनुप्रासानामेव दासमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परपत्न्यललितत्वमध्यमत्वं
स्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनाय त्रिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्तम् ।
वर्तन्तेऽनुप्रासमेदा आस्विति, यदाहु —

सरूपम्यजनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमभुजन्ति कवयः सदा ॥

पृथक्पृथगिति । परवानुप्रासा नागरिका । ममृणानुप्रासा उपनागरिका,
ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा । मध्यमकोमलपरपमिस्थर्यम् ।
अतएव वैदग्ध्यविहानस्वभावा सुकुमारपरपम्यवनितामादृश्यादिय वृत्तिप्राम्येति ।
तत्र तृतीय कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । नचेह वैराधिक्य
वृत्तिर्विबक्षिता यन जातौ जातिमयो वर्तमानस्य स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र
वर्तमानत्वम् ।

इस प्रकार—दोम कोमल और मध्यम वर्णनीय (वर्ण विषय) के उपयोगी होने के कारण
परपत्य ललितत्व तथा मध्यमत्व के स्वरूप विवेचन के लिये तीन वर्ग बनने ॥ लिये तीन
अनुप्रास जातियों को वृत्ति कहा है—वर्तमान रहने हैं अनुप्रास मेइ मिलने, वह (वृत्ति शब्द
की व्युत्पत्ति है ।) वैसा कि कहते हैं—

‘इन तीनों वृत्तियों में समान रूप वाले ध्वनियों के न्यास को यदि छोग सदा पृथक्-पृथक्
अनुप्रास (कहने की) श्रुति करते हैं ।’

पृथक्-पृथक् (का अर्थ वह है)—परव अनुप्रास वाली वृत्ति को नागरिका कहते हैं ।
कोमल अनुप्रास वाली वृत्ति को उपनागरिका या ललिता कहते हैं । नागरिका विदग्धा से
इसको उपमा दी गई है इस आधार पर । मध्य (वह होता है जो) न कोमल हो न परव
वह अर्थ है । अतएव वैदग्ध्य विहान स्वभाव वाली ककामल और अतएव प्राम्य वनिता के
सादृश्य से वह वृत्ति प्राम्या इस (नामवाली होती है) । उनमें तृतीय (प्राम्या वृत्ति)
कोमलानुप्रास (कहलाती है) इस प्रकार वृत्तियों वैराधिक्य के समान वही जाना अनर्थ
नहीं है जिससे भाति में जाति का वर्तमानत्व न हो वन पर अनुग्रह करना हो वर्तमानत्व है ।

सारावता

पर आभवासिद्ध और स्वरूपसिद्ध हेतुमात्र भी निश्चयसे या सङ्ग है । आभवासिद्ध यहाँ
पर होता है जहाँ रस का निरानुप कभाव हो । ध्वनि विराधी के मध्य में परतिका सर्वदा
अभाह होता ही है । स्वरूपसिद्ध हेतुमात्र यहाँ पर होता है जहाँ रस में हेतु का
अभाव हो । ध्वनि विराधी के मध्य में ध्वनि में चरुता होती ॥ नहीं अतएव वह स्वरूपसिद्ध
हेतुमात्र है । किन्तु प्रमाण तर्क ध्वनिचरों को ओर से दर्शित किया गया है ।
अतएव अनेकानिष्ठ हेतुमात्र ही यहाँ पर समझा जाना चाहिये । आशय यह है कि निम
प्रकार वृत्तियों और रीतियों शुष्कानुसार ध्वनिरिक्त होते हुवे भी वाक्य हेतु हो सकती हैं

लोचनम्

तत्रामावधिकल्पस्य त्रय प्रकारा — शब्दार्थगुणालङ्काराणामव शब्दार्थशोभा कारित्वान्नोक्तशब्दातिरिक्तमुन्दरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य न शोभाहनु कश्चिद-
न्याऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येक प्रकार । यो चा न गणित स शोभाकार्येव
न भवतीति द्वितीय । अथ शोभाकारो भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे बालङ्कार
शान्तमेवनि, नामान्तरकरण तु कियदिदं पाण्डित्यम् अथाप्युक्तेषु गुणत्रय
लङ्कारेषु वा नान्तर्भाव, तथापि किञ्चिद्विशेषलक्षणाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमा
विच्छित्तिप्रकाराणाममरयत्वात् । तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तशोभा एव ।
तान्मात्रेण च किं कृतम् ? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शब्दोत्प्रेक्ष्यत्वात् ।
चिन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्महत्काव्यम् एव शब्दाधालङ्कारत्वेन नृत् । तत्र प्रपञ्च-
द्विप्रपञ्चान्तरान्तरलङ्कारकारे कृतम् । तथापि 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदा-
हरणं ध्रुवा मध्य नगरादिसादा उत्प्रेक्ष्यन्ते । नावना क आः ननि बहुमान ।
एव प्रवृत्तर्पति नृतीय प्रकार । एवमकस्त्रिधा विरूप, अन्यौ च द्वाविति
पञ्च विरूपा इति तात्पर्यार्थः ।

उनके अभाव विरूप के तीन प्रकार हैं 'गद', अथ गुण और अलङ्कारों के दो शब्द और
अथ क शोभाकारक (धर्म) होने के कारण लाव और शास्त्र से भिन्न सुन्दर शब्दार्थ से बने
हुए काव्य का शोभा हनु को" अन्य (धर्म) है ही नहीं आ हम लोगों के द्वारा न
गिना गया हो—यह एक प्रकार है; अथवा जान गिना गया है वह शोभाकारो ही
नहीं होता वह दूसरा है, यदि शोभाकारो होता है तो हमारे कद हुये गुण कथका
अलङ्कार से अन्तर्भाव हो जाता है, दूसरा नाम रम्ये में तो यह किन्ता पाण्डित्य है ।
और भी यदि कहे हुए गुण और अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं होता तथापि कुछ विशेषता
का अभाव के कारण दूसरा नाम रम्यता जाना है क्योंकि उसमा विच्छित्ति के अनेक प्रकार होते हैं ।
तथापि गुण और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त का अभाव ही है । केवल उनसे ही क्या किया
गया ? और भी वैचित्र्य की उपगमा की जा सकता है । निम्नान्तर चिन्तन भरतमुनि
शब्दादिकों ने इनके अर्थ उपमा है शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में ॥ (उपमावे
॥) । उनके प्रवृत्त की दिशा का प्रवृत्त अन्य अलङ्कारकारों ने कर दिया । यह इस प्रकार—
'कर्मण्यण्' यहाँ पर 'कुम्भकार' शब्दाद उदाहरणों का सुनकर स्वयं नगरकार शब्दादि शब्दों
का रचना का जा सकती है । उनसे अनेक विषय में बहुत अधिक सम्मान देने का क्या
अवसर ? इसी प्रकार प्रवृत्त विषय में भी यह तीसरा प्रकार है । इस प्रकार एक तो तीन
प्रकार का विरूप है, अन्य दो प्रकार, हम प्रकार पाँच विरूप होते हैं, यही तात्पर्यार्थ है ।

तारावती

उक्त विरूप है । किन्तु उनका यही तीन प्रकारों में अन्तर्भाव हो जाता है । अत्र धर्म के
मुख्य विशेषी रूप में तीन ही हैं ।

छोचमम्

यथाह कश्चित्—‘लोकोत्तर हि गाम्भीर्यं वर्तन्ते धृतिर्बोधुन । इति ।’

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तया नाम्बधिकन्यापारा । अतएव व्यापारभेदाभावात् धृतिगनुमयस्वरूपा अपाति वृत्तिद्वन्द्वस्य व्यापारवाचिनाऽपि प्रायः । अनतिरिक्तत्वात् वृत्तिव्यवहारो मामहादिभिर्न कृतः । उद्धट इत्यादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नाद्यं कश्चिदधिको हृदयपथमवनानं हृदयमिप्रायणाह—गता श्रवणगोचरमिति । रातयश्चेति । तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गता श्रवणगात्रमिति ।

जैसा कि बिम्बीने कहा है—पूर्वा का भाग करने वाले (रात्रा टोप) लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं ।’

अतएव वृत्तियों अनुप्रास इत्यादि से अभिन्न वृत्तिवादी हैं । अर्थात् इनका कार्य अधिक नहीं है । अतएव व्यापार भेद के न होने से इनका स्वरूप पदक अनुमान करने के योग्य नहीं है इस प्रकार वृत्ति शब्द से व्यापारवाचा का अभिप्राय है । अतिरिक्त न होने के कारण ही वृत्ति का व्यवहार मामह इत्यादि ने नहीं किया है । उद्धट इत्यादि के द्वारा प्रयुक्त भी वसम बंद इत्यादि अर्थ हृदय पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ इस अभिप्राय से कहा है—अवग गोचरता का प्राप्त हुआ है यह रीतिवत् इति । (गणिती भा) इनमें अभिन्न वृत्तिवादी

सारावली

जैसा कि बिम्बीने कहा—‘रात्रा टोप लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं । पर वर्तमान होने का यह अर्थ है कि रात्रा शब्दों पर गाम्भीर्य का अनुप्रास होता है जिससे इनमें सभी शब्दों के निर्वाह का गति आ जाती है । इस प्रकार अनुप्रासानुप्रास मात्र ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमान होता है । अनुप्रासानुप्रास मात्र का अर्थ है—रसमिथ्यजन के सामर्थ्य का आधान करना । अर्थात् यह है कि वृत्तियों का व्यापार अनुप्रासादि से अधिक नहीं होता । [अनुप्रास का कार्य भी रसमिथ्यजन करना और उसमें सदायक होना है और वृत्तियों का व्यापार भी यही है ।] अतएव अनुप्रास के बिना वृत्तियों में स्वरूप का अनुमान ही नहीं हो सकता और नहीं अनुप्रास से भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का अभिप्राय ही किया जा सकता है । यही कारण है कि मामह इत्यादि ने वृत्ति का व्यवहार किया ही नहीं । उद्धट इत्यादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु इनमें कोई नवीनता नहीं मिलती पाव । अतएव अलोककार ने ‘इनमें से आ’ है कह कर अपनी अर्थ प्रवृत्ति की है ।

यही दण्ड नेमा इत्यादि रीतियों की भी है । व भी दण्ड और अण्डार से भिन्न नहीं कहा जा सकता किन्तु इनमें से अर्थ है । उन्में अतिरिक्त नहीं होती में ‘इनमें’ शब्द का वृत्तियों के समस्त में कार्य है अण्डार से और रीतियों के समस्त में कार्य है ‘दण्डों से’ । रीतियों माधुर्य इत्यादि दण्डों से पदक नहीं होती । [रसार्थक निर्वाचनार्थ ‘री’ से दण्ड

ध्वन्यालोकः

ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः सा अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्मीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामिति ।

संपटना भयं जो माधुर्यं इत्यादि हैं उनकी भी प्रतीति होती है । कुछ लोगों के द्वारा प्रकाशित की हुई उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ भी सुनने में आई हैं किन्तु वे उपर्युक्त अलङ्कारादिकों से पूरक नहीं कहो जा सकती । उनका भी समावेश अलङ्कारादिकों में हो जाना है । वैदर्मी इत्यादि रीतियों के विषय में भी यही बात कहो जा सकती है । अर्थात् वे भी अलङ्कारादिकों से पूरक नहीं कहो जा सकते । फिर उन सबसे भिन्न ध्वनि नाम की यह कौन सी गई बटा है ।

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना । तावद्ग्रहणेन न कस्याप्यत्र विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति । तत्र शब्दार्थो न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः ? अथ शब्दार्थयोश्चारत्वं स ध्वनिः । तथापि द्विविधं चारत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठं सङ्घटनाभिन्नं च । तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः सङ्घटनाभिन्नं तु शब्दगुणेभ्यः । पूर्वमर्थानां चारत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः । सङ्घटनापर्यवसितं स्वयंगुणेभ्य इति न गुणाव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित् । सङ्घटनाभर्मा इति । शब्दार्थयोरितिशेषः । यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारवकारि न भवति नित्यानिवृत्तयोपा भसाधुदुःश्रवाद्य इव चारवहेतुश्च ध्वनिः, तत्र सङ्घटतिरिक्त इदं व्यतिरेकी हेतुः ।

उन्ही को क्रमशः कहते हैं—शब्दार्थशरीर तावत् इत्यादि के द्वारा । ‘तावत्’ शब्द के उपादान से यह दिखलाते हैं कि इस विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है । उसमें—शब्द और अर्थ तो ध्वनि नहीं है क्योंकि केवल सज्ञा में ही क्या गुण है ? (अर्थात् शब्द और अर्थ का ही दूसरा नाम (ध्वनि) रख देना व्यर्थ है । यदि शब्द और अर्थ को (जो) चाकूत है, वह ध्वनि है, तथापि दो प्रकार की चाकूत होती है—स्वरूप मात्र में रहने वाली और संपटना में रहने वाली । उनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से उत्पन्न होने वाली चाकूत शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाभिन्न शब्दगुणों से, इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपमात्र में रहने वाली चाकूत उपमा इत्यादि से और सङ्घटना पर्यवसित तो अर्थगुणों से (गतायं हो जानी है) इस प्रकार गुणों और अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि कोई होती नहीं । ‘सङ्घटना भर्मा इति’ शब्द और अर्थ के, यह स्पष्ट है । (अर्थात् शब्द और अर्थ के सङ्घटना भर्मा भी प्रतीत होते हैं ।) जो गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त होता है वह नित्यानिवृत्त दोष ‘असाधु’ ‘दुःश्रव’ इत्यादि के समान चाकूत को उत्पन्न करने वाला नहीं होता । और ध्वनि चाकूत हेतु होती है अतः उससे व्यतिरिक्त नहीं होती, वह व्यतिरेकी हेतु है ।

लोचनम्

ननु भाभूदसौ शब्दार्थस्वभाव, मा च भूच्चारस्वहेतु तेन गुणालङ्कारस्य
तिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—अन्य इति । मन्त्रवेवम् ।
तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तवलिख्यविधित काव्यस्य दासी कश्चिदुक्तव्यम् ।
न चामौ नृत्तगीतवाद्यस्थानीय काव्यस्य कश्चित् । कवनाय काव्य, तस्य
भावश्च काव्यत्वम् । न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते ।

(पणान्तर) निम्नन्देह वह गान्ध और अर्थ के स्वभाव वाला न हो और वह वाक्ता
में भी हलु न हो इससे वह गुणालङ्कारव्यतिरिक्त हो जाये वह भाग्यवादी बरके द्वितीय
अभाववाद के प्रकार को कह रहे हैं—अन्य इति । ऐसा हो जाने तथापि नहीं होता है ध्वनि
जैसी कि गुण उत्पन्न करना चाहते हो । काव्य की वह कोई (सम्बन्धित) कही जानी चाहिये ।
काव्य की वह कोई नृत्य गीत वाद्य स्थानीय तो है नहीं । कवनीय को काव्य कहें हैं । उसकी
भाववाचक सभा है काव्यत्व । नृत्य गीत इत्यादि कवनीय होते हैं वह नहीं कहा जाता ।

सारावली

योग्यता होने के कारण सभी वस्तुओं का सङ्गत रूप में एकीकरण हो जाता है वही प्रकार
जब माधुर्य इत्यादि गुणों का समुचित वृत्ति में मिलन होता है और उनका एक सङ्गत रूप
बन जाता है तब उन्हें रीति कहने लगते हैं । इस प्रकार दीर्घ कोमल और मध्यम वयनीय
विषय के अनुसार गौ- विदुर्भ और पद्माना देव क कवियों के स्वभाव की प्रचुरता के आधार
पर रीति तीन प्रकार की बन गई हैं । [वापन ने लिखा है—“रीति काव्य की आत्मा
होती है । दिग्दिष्ट पदरचना की रीति कहते हैं । विगिष्ट का अर्थ है जिस पर रचना की
आत्मा गुण हो । रीति तीन प्रकार की होती है गौरी देव्या और पाद्माना । गौरी रीति में
आव, कान्ति गुण होते हैं । पाद्माना रीति में माधुर्य और सौकुमार्य होता है, वैदग्ध्य में
दार्ढ्य का सम्बन्ध होता है । आनन्दवर्धन से पहले वही तीन रीतियाँ काव्य शास्त्र में
प्रतिष्ठित थीं विद्वनाय ने छापी रीति का समवेग कर इनकी संख्या बार कर दी और
भास्कर ने मण्डा और अङ्गिका इन दो रीतियों को मिलाकर कुल संख्या ६ कर दी ।
इन सब रीतियों का गुणों में ही समवेग हो जाता है ।] वापियान् से जनि प्रवक्त नहीं
हूँगी और अवयव से अवयवी भिन्न नहीं होता । इस प्रकार वृत्तियों और रीतियों गुण और
अलङ्कारों में भिन्न नहीं होती । अङ्गण एक स्पर्शरेखी हेतु में कोई दोष नहीं आता । इसलिये
अलङ्कार ने लिखा है कि उनसे भिन्न ध्वनि वह क्या कहें हैं ? यहाँ पर ‘प्रतिनाम’ इस
वाक्य में नाम ‘गण’ का अर्थ यह है कि ध्वनि न तो वाक्ता का स्थान है क्योंकि वह
वाक्ता और अर्थ से भिन्न है और न वाक्ता में हेतु है क्योंकि गुण और अलङ्कार से भिन्न है ।
अङ्गण यद्यपि काव्य का आकाशमन्त्र अलङ्कार के द्वारा ही दिया जाता है । तथापि यदि
आत्मन् के उपरान्त को पुण्य दिग्गन्ता जाने की ध्वनि शब्द काव्य की अतिरिक्त बात
मान दी नहीं होना । यही नाम शब्द का अर्थ है ।”

लोचनम्

ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरेकाश्चास्त्वहेतवश्च तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरेकश्च चास्त्वहेतुश्च मविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभि-
प्रायेणाह-तदनतिरेकवृत्तय इति । नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरेकत्वं सिद्धम् । तथा

(मदन) रीतियों और वृत्तियों भी जैसे गुणालङ्कार व्यतिरेक होती है और चास्त्व हेतु भी होती है, उसी प्रकार ध्वनि भी उनसे व्यतिरेक (होते हुये) चास्त्व हेतु हो जावेगी इस प्रकार व्यतिरेक (व्यतिरेकी हेतु) असिद्ध है । इस अभिप्राय से कह रहे हैं—तदनतिरेक वृत्तय इति । वृत्तियों और रीतियों का तद्व्यतिरेकत्व (शब्द, अर्थ, वाच्य सौन्दर्य, अर्थ सौन्दर्य, वाच्य सङ्गठना सौन्दर्य, अर्थ सङ्गठना सौन्दर्य इनसे भिन्न) सिद्ध नहीं हो है । वह

सारावली

और अर्थ के सङ्गठना धर्म [यहाँ पर अनुमान प्रमाण से साध्यसिद्धि की गई है । ध्वनि पक्ष है, गुण और अलङ्कार से भिन्न न होना भाष्य है; चास्त्रा में कारण होना हेतु है । अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—ध्वनि गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होगी, क्योंकि चास्त्रा में हेतु होती है । जो जो चास्त्रा में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते ।] यहाँ पर व्यतिरेकी हेतु के द्वारा साध्यसिद्धि होगी । [अन्वय व्याप्ति इस प्रकार की बनती है—‘जो पदार्थ चास्त्रा में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते, इसका कोई उदाहरण मिल ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई चास्त्रा हेतु होता ही नहीं जो गुण और अलङ्कारों से भिन्न हो अथवा व्यतिरेकी हेतु से साध्य सिद्धि करनी पड़ेगी ।] व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—‘जो पदार्थ गुण अलङ्कारों से भिन्न होते हैं वे चास्त्रा हेतु नहीं हो सकते ।’ जैसे निम्न दोष ‘असाधु’ इत्यादि अनित्य दोष ‘दुःख’ इत्यादि गुण और अलङ्कारों से भिन्न होने के कारण चास्त्रा हेतु नहीं होते ध्वनि भी चास्त्रा हेतु है अतएव वह गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती । इसी को व्यतिरेकी हेतु कहते हैं ।

[यहाँ पर ध्वनि विरोधी ने व्यतिरेकी हेतु के द्वारा ध्वनि का अन्तर्भाव गुण और अलङ्कारों में सिद्ध किया था, पूर्व पक्षी उसमें हेतु दोष दिखला रहा है ।] वृत्तियों और रीतियों गुण और अलङ्कारों से भिन्न भी होती हैं और चास्त्रा हेतु भी होती हैं । इसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार व्यतिरेक भी हो सकती है और चास्त्रा हेतु भी हो सकती है । इस प्रकार ऊपर दिखाना हुआ व्यतिरेकी हेतु असिद्ध हो जाता है । [तर्क शास्त्रमें हेतु दोनों को हेतुभास करते हैं । हेतु यदि साध्य से भिन्न स्थानों में पाया जावे तो वहाँ पर अनेकान्तिक हेतुभास होता है । ऊपर के अनुमान में हेतु है—रसगीतना में कारण होना, वह हेतु साध्य गुण और अलङ्कारों से भिन्न वृत्तियों और रीतियों में भी मिल जाता है । अतएव वहाँ पर अनेकान्तिक हेतुभास होने से साध्य असिद्ध हो जाता है । वस्तुतः यहाँ

छोपनम्

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान शब्दाद्यौ तद्गुणालङ्काराद्वेति, प्रतिष्ठन्ते परम्प
रया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन
तत्र स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्याध्या' इत्युक्तत्वात् । ननु कस्मात्तत्काव्य न
भवतीत्याह—सहृदयेति । मार्गस्येति नृत्तगीताभिनिर्दिष्टादिप्रापस्यत्यर्थः ।
तदिति । सहृदयेत्यादि काव्यलक्षणमित्यर्थः ।

अनु ये तारशामपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः । तदभिमतत्वं
च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति ।

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार । प्रस्थान
करते हैं अर्थात् जिस मार्ग से परम्परा से व्यवहार करते हैं वैसे प्रस्थान करते हैं । काव्य
प्रकाशेति । वह मार्ग काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हें अभिप्रेत है, क्योंकि 'काव्य की
ध्या' यह कहा गया है । वह काव्य क्यों नहीं होता इसका उत्तर दे रहे हैं—सहृदयेति ।
मार्गस्येति । अर्थात् नृत्त गीत, अभिनिर्दिष्टन इत्यादि के गुण । तदिति । सहृदयसहृदयान्तर
शब्द और अर्थ से युक्त होना काव्य का लक्षण है ।

(मान) जो उस प्रकार के अपूर्व (ध्वनि तथा) को काव्य के रूप में जानते हैं वे ही
सहृदय हैं—उनका अभिमत होता हो काव्यलक्षण (में प्रवेशक) है (और वह कुछ
प्रस्थान से भिन्न के लिये ॥ होगा) यह उद्धृत कर के कह रहे हैं—नचोऽतः । निस्सन्देह वैसे

तारावती

प्रस्थान शब्द में उपसर्ग 'स्था' बाहु से लदा अर्थमें लघु शब्द होकर बना है जिसका
अर्थ होता है—देता मार्ग को परम्परा से प्रसिद्ध हो चुका ॥ अर्थात् जिस मार्ग से परम्परा
गत रूप में व्यवहार होता चला आ रहा हो । यह प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा
उनसे सम्बन्धित गुण और अलङ्कार । आगे यह है कि गुण ध्वनि की काव्य की ध्या
कहते हो अतएव काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हें वही मार्ग अभिप्रेत है और वह हो नहीं
सकता, क्योंकि सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और
अलङ्कारों को ही काव्य कहते हैं, परम्परागत रूप में है ही काव्य के मार्ग के रूप में स्वीकार
किया जाता रहा है । इनसे भिन्न यदि ध्वनि नान का कई मार्ग काव्यलक्षण है प्राधान्य में
सहायक होता है तो वह नृत्त, गीत, अभिनिर्दिष्टन इत्यादि अभिमत के प्रधान काव्य
सम्बद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ से युक्त
होना रूप लक्षण उनमें नहीं चटता ।

यही वर यह मन्त्र दिया जा सकता है कि सहृदयों के अभिमत होता हो काव्य का
लक्षण है और सहृदय वे ही होते हैं जो पहले व्याख्यान की हुई ध्वनि को ही काव्य का
रूप मानते हैं । इस प्रकार का काव्यलक्षण उक्त प्रस्थान से प्रसिद्ध मार्ग में ही लागू

सारावर्ती

उसी प्रकार धर्म भी गुणलक्षण धर्मरहित होते हुये मा चाखत हेतु हो सकता है। अधिन प्रकरण में हमी हेतुप्रस पर विचार किया जा रहा है।] वृत्तियों और गीतियों का गुण और अलक्षणों से भिन्न होना सिद्ध नहीं है। दोष कोमल और मध्यम विषयों में लागे होने के कारण अनुमास के हो कठोर, कोमल और मध्यम इन तीन स्वरूपों की विवेचना करने के मन्व्य से तीन वर्ग कर लिये गये हैं। यही तीन वृत्तियाँ हैं जो कि अनुमास की ही आश्रित ब्रह्मिणी हैं। वृत्ति गन्ध वस्तु वर्तने' धातु से क्लृप्त मय्य हाकर बनता है, जिसका अर्थ है वर्तमान होना अर्थात् जिनमें अनुमास के भेद वतमान हों उन्हें वृत्ति कहते हैं। जैसा कि उद्धृत ने लिखा है—'यदि साग सर्वदा इन तीनों वृत्तियों में धृक् धृक् ऐसे अनुमास को इच्छा करते हैं जिसमें समान रूपवत् व्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है।'।

धृक् धृक् का अर्थ है—अनुमास का प्रयोग नान प्रकार का होता है—(१) जहाँ पर अनुमास में पक्ष वचनों का प्रयोग होता है उसे पक्षा या नागरिका वृत्ति कहते हैं। (२) जहाँ पर कोमल वचनों का प्रयोग होता है उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। उपनागरिका धातु का अर्थ है नगर निवासिनी लड़ना के समान वैश्व्य पूर्व। जिस प्रकार नागरिक लड़ना करने हाथ-पाश के द्वारा आकर्षण करता है उसी प्रकार उपनागरिका वृत्ति अपनी मधुरता अथवा कोमलता से मन समुद्र के मन को आकर्षित करता है। (३) जहाँ पर न अधिक कठोर वचनों का प्रयोग हा और न अधिक कोमल वचनों का ही प्रयोग हा उसे मध्यमा अथवा प्राम्ना वृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार प्रान वनिता में किसी प्रकार का वैश्व्य नहीं होता, न उसमें सौकुमार्य ही हाता है और न शरूय ही। इसी समय के अन्धकार पर इस वृत्ति को प्राम्ना वृत्ति कहते हैं। एतन् वृत्ति प्राम्ना को एक कदिसदा कामकानुमास भी है जिसका कि मटेन्द्र बन्धु जाचारों ने प्रयोग किया है। वस्तुतः हमने कामल अनुमास होने का निश्चय नहीं है। यह केवल नाम पक्ष गया है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुमास की वर्तव्यता ही होती हैं उनसे भिन्न नहीं (ममह ने अनुमास के दो भेद किये थे—प्राम्ना अनुमास और अनुमास। सम्भवतः अनुमास से बनाका अभिप्राय उपनागरिकानुमास से था। उद्धृत ने वृत्तियों की संख्या तीन कर दी—प्राम्ना, उपनागरिका और पक्षा। इनका विचार परिचय उद्धृत ने कान्यापुर सार समग्र में दिया है।) जहाँ पर यह प्रश्न उठता जा सकता है कि वृत्तियाँ भी वर्तव्यचक होती हैं और अनुमास को भी ब्रह्मिणी कहा जाता है। वे-विष्टों का मत है कि ब्रह्मिणी में ब्रह्मिणी नहीं रहती कि वृत्तियों में अनुमास ब्रह्मिणी कैसे रह सकती है? इसका उत्तर—यहाँ पर वृत्तियों में अनुमास का वर्तमान अनुमास अनुमासक मत से ही माना जाता है।

छोचनम्

यस्त्वत्रामिषाय व्याचष्टे—जीवितभूतो हि ध्वनिस्तावत्त्वामिमम, जीवित च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तवासञ्च न कान्यमिति लोके प्रसिद्धमिति । तस्येदं सर्वं स्ववचनविरटम् । यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तर्नैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणाहमेव भवति । तस्मान् प्राक्तन एवात्रामिषाय ।

जिम्मे वही पर अभिप्राय की ध्याना की है—जीवन के रूप में ध्वनि तुम्हें अभीष्ट है और जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त हो होता है क्योंकि उसको अलङ्कारकारों ने कहा नहीं है और वह काव्य नहीं हो सकता वह । उसका वह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है । यदि निस्तदेह वत् पूर्वपक्षवादी ने उसे (ध्वनि को) काव्य का उपाण मान लिया तो उसको प्राचीनों ने नहीं कहा है अतः प्रत्युत (अपने-तक के विरुद्ध) वह उपाण के योग्य ही (सिद्ध) होता है । अतएव पहले कहा हुआ हुआ ही वही पर अभिप्राय है ।

वारावर्ती

विद्वान् उसे स्वीकार नहीं कर सकते । वही अलङ्कार के सकल वाच्य का आशय है । ऐसी दशा में कुछ लोगों की मान्यता से कोई लाभ नहीं होगा अतः ऐसे लोगों की सम्मति ही मन्व्य होगी । [वही पर अनुमान से साध्य सिद्धि की प्रक्रिया वह होगी—ध्वनि काव्य नहीं हो सकती, (प्रतिपा) क्योंकि वह शब्द और अर्थ से अतिरिक्त है (हेतु), जो कुछ वाच्य और अर्थ से अतिरिक्त होता है वह काव्य नहीं हो सकता जैसे मृग गीत इत्यादि काव्य नहीं होते (उदाहरण) ध्वनि भी उसी प्रकार की होती है (उपनय) अतएव वह भी उसी प्रकार काव्य नहीं हो सकती (निगमन) । अनुमान की दूसरी प्रक्रिया वह होगी—ध्वनि काव्यसम्बद्ध नहीं होती (प्रतिपा), क्योंकि गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त होती है (हेतु), जो वस्तुओं गुण और अलङ्कार से भिन्न होती है वे काव्य नहीं हो सकती जैसे मृग गीत इत्यादि (उदाहरण), वह ध्वनि भी उसी प्रकार की (गुणलङ्कार अतिरिक्त) है (उपनय), अतः वह भी ऐसी ही (काव्य के क्षेत्र से बाहर) है । (निगमन)

विस्ती आवाय ने वही पर कहा है—ध्वनि काव्य-जीवन के रूप में तुम्हें अभीष्ट है, किन्तु जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त होता है—क्योंकि अलङ्कारकारों ने उसका अभिप्राय नहीं किया है अतः वह ध्वन्यात्मक जीवन काव्य से भिन्न है वह वाच्य-उक्त में प्रसिद्ध है । किन्तु उनका वह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है । यदि काव्य में प्रमाण प्रकृति कानेवली छन अलङ्कार पर ही की गई और अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने उसका उपाण किया भी नहीं तो उसका उपाण करना ही चाहिये । इस प्रकार वह पूर्वेका नहीं हो सकता । अतएव पहले कहा हुआ अभिप्राय ही ठीक है । [अपने और विपक्षियों में चलना ही भेद है कि प्रथम पक्ष में कहा गया वाच्य अर्थ गुण और अलङ्कार से भिन्न

सोचनम्

सम्बन्धः । तत्पदमेनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषाम् समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योऽन्य-
मेलनक्षमत्वेन पानक इव गुह्यमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमन दीप्तललितम-
ध्यमवर्णनीयविषय गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाक्यानुपपत्त्या तदेव त्रिविध रीति-
रिच्युक्तम् । जातिश्च जातिमतो नान्या समुदायश्च समुदायमतो नान्य इति
वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित पृथासी व्यतिरेकी हेतुः । तदाह—
तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति । नैष चारत्वस्थान शब्दायंरूपत्वाभावात् । नापि
चारत्वहेतुः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति । तेनाखण्डबुद्धिममास्वापमपि काम्य-
मरोद्धारबुद्ध्या यदि विमन्यते तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिद्व्यतिरिक्तोऽर्थो
काम्यत इति नाम शब्देनाह ।

मरण गोबर हुई है यह सम्बन्ध (योचना) है । तब शब्द से यहाँ पर माधुर्य इत्यादि गुण
(छिपे जाते हैं ।) और उनके समुचित वृत्ति में अर्पण करने पर जो एक दूसरे से मेलन की
क्षमता के कारण गुह्य मरिच इत्यादि रसों के पानक के समान सङ्घात रूप में आना है (तथा
ओ) दीप्त छलित और मध्यम वर्ण विषय बाठा है गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल
के स्वभाव की मधुरता की दृष्टि से वही तीन प्रकार की रीतियाँ होती हैं वह कहा
गया है । जाति जातिमान् से भिन्न नहीं होती और समुदाय समुदायी से भिन्न नहीं
होता । इस प्रकार रीतियाँ और वृत्तियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं होती ।
इस प्रकार वह व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है । वही कह रहे हैं—उनसे व्यतिरिक्त वह कौन
सी ध्वनि है ? यह चारका का स्थान नहीं है, क्योंकि इसका स्वरूप शब्द और अर्थ नहीं है ।
नहीं ॥ वह चारक में हेतु है, क्योंकि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न है । अतएव अखण्ड बुद्धि
से आस्वादन करने योग्य भी काम्य यदि अरोद्धार (विमर्शन) की बुद्धि से विमर्क किया
जाता है तथापि वहाँ पर ध्वनि शब्दवाच्य कोई व्यतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता यह नामशब्द
के द्वारा कहा है ।

तारावली

ये स्मिन् ग्रन्थे होकर 'रीति' शब्द निम्नत्र हुआ है, जिसका अर्थ होता है प्रवाह । काम्य
के जिस तरंग में प्रवाह पर विचार किया जाता है उसे रीति कहते हैं । प्रारम्भ में दण्डी ने
काम्य के दो मार्ग बतलाये थे—वैदर्भमार्ग और गौडीय मार्ग । दोनों प्रदेशों में काम्य के पृथक्
पृथक् आदर्श थे जिनका दण्डी ने विस्तार से वर्णन किया है । आगे चलकर वामन ने रीति
को काम्य की आत्मा मान लिया, वैदर्भी तथा गौडीय रीतियों में पाञ्चालों का समावेश और
कर दिया । इस प्रकार वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं । जिस प्रकार वृत्तियों का समावेश
अनुमास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियों का समावेश माधुर्यादि गुणों में हो जाता है]
जिस प्रकार गुह्य निर्वर्ण इत्यादि मिलकर पानक रस तैयार किया जाता है और मिलने की

टीकावत्

अनु विच्छिन्नात्मसंस्कारान् काचित्तादृशीं विच्छित्तिरन्मामिदं वा नातु
प्राप्तादी नानि मायुषादायुष्कलशेनेन्द्रियेन्द्रियानाद्व्याप्त्युपगमपूर्वकं परिहरति—
वाग्विकल्पानामिति । वक्ष्येति वाक् शब्द । द्रव्यत इति वागर्थ । द्रव्यतेन्द्र-
येति वागनिघाध्याहारः । तत्र शाब्दायवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः । अमिथैवैचित्र्य-

(अन्त) निम्नलेख विच्छिन्नियों के समान होने के कारण कोई ऐसी विच्छित्त हृद
होगे के द्वारा देखो न, जो न अनुसम रूपरि में नहीं मनुष्य रूपरि उक्त हृद में
अनुसम हो सके, वह अनुसम का स्वरूप के साथ उसका उक्त दे रहे है—वग्विकल्पान-
मिति । वाक् शब्द का (स्वरूप) अर्थ है जो कहे अर्थानुसार, जो कहा जाने वह
वाक् अर्थानुसार, जिसके द्वारा कहा जाने वह वाक् अर्थानुसार अर्थानुसार । जहाँ शब्द

पारावर्ती

वाक्योन्मादक कोई शब्द है ही नहीं । उस शब्द में कहा गया है कि 'यदि इनके विषय
धर्म नाम की कोई शब्द मान की हो जाने तो जो शब्द से समझा कोई समझ सिद्ध हो
नहीं हो सकता । वह धर्म समझा नहीं हो सकता ।

यहाँ पर धर्मशब्दों का वह अर्थानुसार कहना या समझ है कि 'धर्म समझ' का
में कारण हो सकता है और वह शब्द, अर्थ तथा गुण और अर्थानुसार में अनुसम भी की या
सकती है तथा किसी ने जो धर्म शब्द का अर्थानुसार का अर्थ शब्द का जीवन नहीं
कहना है, अर्थानुसार प्रकटन करना ही चाहिये । यही अर्थ का उक्त गुण का
की अर्थानुसार की है । [इस शब्द का अर्थानुसार है कि यदि धर्म की वाक्य हेतु मान
की हो और वह शब्द अर्थानुसार और अर्थानुसार के अनुसम भी सिद्ध हो जाय तो भी धर्म
नाम की कोई शब्द शब्द नहीं हो सकता । धर्म की वाक्यहेतुओं में यह है,
अनुसम वाक्य वाक्यहेतुओं में ही उसका अनुसम का दिया जाता अर्थानुसार होता
है । वाक्यहेतुओं में ही है जिसका ऊपर अर्थानुसार दिया जा चुका है । वह नाम शब्द
उन्हीं में से यह का नाम उस शब्द का अर्थानुसार दिया जा रहा है ।] यहाँ पर वाक्योन्माद
शब्द का अर्थानुसार दिया है । 'अनुसम शब्द से शब्द शब्द होकर वह शब्द शब्द है
यदि वह शब्द यहाँ पर शब्द अर्थानुसार में मान अर्थानुसार तो समझ अर्थानुसार हो अर्थानुसार 'अनुसम' ।
अन्तर यहाँ पर वह शब्द 'अर्थानुसार' अर्थानुसार में मान माना अर्थानुसार जिससे वह शब्द का
अर्थ हो अर्थानुसार अर्थानुसार का अर्थानुसार अर्थानुसार की अर्थानुसार अर्थानुसार में कारण गुण और
अर्थानुसार ।

(अन्त) विच्छित्त के प्रकारों की समझ सिद्ध नहीं की या सकती । अन्तर हमें
विच्छित्त का कोई ऐसा प्रकार दिखाने परा जिसका अनुसम न हो वह उक्त शब्द
अनुसम रूपरि में ही हो सकता है और न मनुष्य रूपरि में ही । अन्तर धर्म नाम का

ध्वन्यालोक

अन्ये द्यु — नाम्येव ध्वनि । प्रयिद्धप्रम्यानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यवहाने, सहृदयहृदयाह्लादि सद्भायंमयवभव काव्यलक्षणम् । न चास्ते प्रम्यानव्यतिरेकिणो मार्गस्य तमम्भवन्ति । न तममयान्पातिनः सहृदयान् काव्यव्यतिरेकव्य तप्रमिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तिनाऽपि सकृद्विद्वन्मनो-प्राहितामवलम्बन्ते ।

दूसरा पक्ष— सम्भवतः दूसरे लोग कहें कि ध्वनि है ही नहीं क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार काव्य का सीमा में सन्निविष्ट नहीं हो सकता या कि प्रसन्न ग्यान (गुण, अलङ्कार, रीति वृत्ति) से भिन्न है। सहृदयों का आनन्द देनेवाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है। उक्त प्रम्यान से भिन्न और कदा मार्ग है ही नहीं जिसमें वह लक्षण पट जाता है। ध्वनि सिद्धांत के अन्दर आने वाले शब्द (उन्ने स्वीकार करने वाले) कविश्य सहृदयों को काव्यता का के ध्वनि में यदि काव्य व्यवहार प्रवृत्त भी किया जाय तो भी वह सभी विद्वानों के मन का ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् प्रमा सिद्धान्त सभी का मान्य नहीं हो सकता।

चारावती

प्रथम पक्ष में यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि न तो शब्द और अर्थ के सम्मिश्रण (उनका मेलन) होता है और न उनकी चरणा में हेतु होता है। इसमें केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ध्वनि गुण और अलङ्कारों में सन्निविष्ट नहीं हो जा सकती, उनमें भिन्न होती है। उनमें भिन्न होते हुए भी ध्वनि काव्य में रमयायना का अधन कर सकती है। इसी अर्थ को लेकर द्वितीय सम्प्रवाद की अवधारणा की गई है। इस पक्षकों का अर्थ यह है कि कोई ध्वनि ध्वनि का शब्द अर्थ और उनके चरणा हेतुओं से युक्त मन में से तब जैसी ध्वनि को अपलब्ध करना चाहत है वैसी सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि निदानवादियों का कथन है कि ध्वनि काव्य को आत्मा है। यदि ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करना है तो काव्य से शब्द और न केवल सम्मिश्रण होना ही पड़ेगा। जिस प्रकार नटक में नृत्य गीत इत्यादि के द्वारा रसमूर्ति में सहृदयता ही जाती है किन्तु काव्य से उनका कोई सम्मिश्रण नहीं होता वही प्रकार यदि ध्वनि नाम का कोई ऐसा वस्तु है जो नृत्य गीत इत्यादि के समान ही काव्य का उपकारी होता है तो उसका काव्य से कोई सम्मिश्रण सिद्ध नहीं होता। काव्य उन्ने ही कहते हैं जो कविता का विषय हो सके। काव्य शब्द 'कविता' शब्द से बना है जिसका अर्थ है शब्दों के द्वारा सौन्दर्य के रूप किसी विषय को निरूपण करना। नृत्य गीत इत्यादि काव्य का विषय हो ही नहीं सकते, जो इन्हें काव्य में सन्निविष्ट करना उचित नहीं। इसी प्रकार ध्वनि भी काव्य का विषय नहीं हो सकता, जो उसे जो काव्य से सरस नहीं किया जा सकता।

ध्वन्यालोक

तस्मात्प्रवादमात्र ध्वनि । न त्वस्य श्रोतृसम तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं
शक्यम् । तथा चाप्यन कृत एवात्र श्लोक —

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मन प्रह्लादि साकल्यकृति
भ्युपनैरचित न चैव वचनैवप्रोक्तिगुण्य च यत् ।
काव्य तद् ध्वनिना समवितमिति प्रीत्या प्रशंसन्नुचो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना शृष्ट स्वरूप ध्वने ॥

अतएव ध्वनि स्रवण प्रमाणमात्र है । उसमें अधिक पीसने योग्य कोई भी तत्त्व प्रमाणित
नहीं किया जा सकता । यही बात परु हमरे कवि ने इस प्रकार कही है—

जिसमें न तो अलङ्कार से युक्त मन को प्रसन्न करनेवाली कोई बात है जो न विविध
वचनों द्वारा रची गई है और न जिसमें बहोक्ति है जब छान उसी काव्य की प्रशंसा से ध्वनि
युक्त कह कर प्रशंसा करते हैं । नहीं पता यदि कोई पुण्यात्मा वनसे उसका स्वरूप पूछ दे
तो वे क्या कहेंगे ।

सारावली

प्रकारों का नाम क्या था यह है कि शब्द और अर्थ को विविधता से अनन्त है—इस प्रकार
यदि वह मान भी लिया जावे कि कोई ऐसा प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध
लक्षणकार आचार्यों ने नहीं लिखा है तो भी उसका समग्र सामान्य लक्षण के द्वारा हो
ही जाता है । सामान्यतया ये हैं—काव्य गोप्यकारक यों को गुण कहते हैं और उसमें
विश्वता का आधान करने वाले यों को अलङ्कार कहते हैं । शब्द पूर्ण (चमत्कार
करण) शब्द और अर्थ को अलङ्कार कहते हैं । ध्वनि ध्वनि कह कर नाचते फिरते
हैं इस वाक्य में दो बार 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है इससे सम्प्रम व्यक्त
होता है । मुख्यतः शब्द से ध्वनिवाचियों का ध्वनि सिद्धान्त विवक्षित मात्र व्यक्त होता है ।
ये नाचने वाले हैं अलङ्कार आचार्य ध्वनि सिद्धान्त को मान कर काव्य रचना करने वाले
कवि और उसको सुनकर चमत्कृत होने वाले सङ्ग । आशय यह है कि ध्वनिसिद्धान्त को
मान देने का कोई कारण नहीं । अन्य अलङ्कारों की यह रचना नहीं सुनी जाने इस
वाक्य में यह रचना का अर्थ है कि अन्य अलङ्कारों के प्रयोजन न ता स्वयं दर्प करते हैं और
न हमरे लगे ही उनकी प्रशंसा करते हैं । वाचिककाव्य शब्द का एक अर्थ यह भी हो सकता
है—प्रिया के स्पर्श करने के द्वारा के होते हैं जिनमें वाणी प्रयुक्त हुआ कहती है ।
(राजराज ने काव्य मीमांसा में यह पक्ष उद्धृत किया है—

आसमासमुन्नाहै कविमि प्रतिदिनगृहानामासऽपि ।

अद्याप्यभिन्नमुद्रा विधाति वाच्यं परिस्पन्द ॥

अर्थात् यद्यपि सप्ताह के प्रारम्भ से छेहर उदर कवि प्रतिदिन सप्ताह ग्रहण करने परने

लोचनम्

यथाहि सङ्गलक्षण करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्राविशमाण सकलदेहा
प्लादक सुकुमारविचित्रतन्तुविरचित सवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदक सुच्छेद्य
उत्कृष्ट खड्ग इति ध्रुवाण परै पट खल्वेवविधो भवति न खड्ग इत्युक्त्या पर्य-
नुयुज्यमान एव ध्रुवात् ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति सादृशेवैतन् । प्रसिद्ध
हि लक्षण भवति न कल्पितमितिमात्रं तदाह सकलविद्वदिति । विद्वांसोऽपि हि
तन्ममयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्का सकलशब्देन निराकराति । एवं हि कृतेऽपि
न किञ्चिन्कृत स्यादुन्मत्तता पर प्रकटितेति भावः ।

‘अङ्गलक्षण करूँगा’ यह कह कर ‘आतान विडान बोध्य स्वरूप वाला, वह किया जानेवाला,
सनात देह को ढकने वाला, सुकुमार, विचित्र तन्तुओं से बनाया हुआ, समेटने और फैलाने
को सहन करने वाला, न काटनेवाला किन्तु मज्जी मांति कट जानेवाला उत्कृष्ट खड्ग होता है’
यह कहते हुए दूसरों के यह कह कर आशेन किये जाने पर कि ‘इस प्रकार का वज्र होता
है खड्ग नहीं यह कहे कि मेरा अभिमत तो इसी प्रकार का खड्ग है । यह वैसा ही है ।
अर्थात् यह है कि प्रसिद्ध हो लक्षण होता है कल्पित नहीं । वही कह रहे हैं—सकल
विद्वदिति । विद्वान् भी निम्नदेह उस (ध्वनि) के सङ्केत को जानने वाले होंगे इस शङ्का
का निराकरण सकल शब्द से किया है । (क्योंकि कुछ ऐसे भी विद्वान् मिल आवेंगे जो कि
ध्वनि को मानते हों । किन्तु सबके न मानने से ध्वनि सिद्ध नहीं हो सकती ।) देना किये
जाने पर भी कुछ किया हुआ नहीं होगा किन्तु तुम्हारी वामत्तता ही प्रकटित होगी, यह
भाव है ।

तारावली

होता है । इसका उत्तर यह है कि यदि कोई विद्वान् ‘खड्ग का लक्षण करूँगा’ यह प्रतिज्ञा
करके कहने लगे कि ‘जो लम्बा चौड़ा हो, वह किया हा, देह को ढकने वाला हो, सुकुमार
हो, रंग विरंगे तन्तुओं वाला हो, फैलाना सनेटा वा सके उसे खड्ग कहते हैं ।’ दूसरे व्यक्ति
के यह कहने पर कि ‘ऐसा खड्ग नहीं ऐसा तो वज्र होता है’ वह आप्रह करता हो चला
जावे कि मैं तो उसे खड्ग ही करूँगा’ तो उस समय उसकी बात मानने को कोई तत्त्व न
होगा । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आप्रह करता हो चला जावे कि ‘मैं तो काव्य की
आत्मा को ध्वनि ही करूँगा’ तो दूसरे लोग उसकी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी
तत्त्व न होंगे । लक्षण कभी कल्पित नहीं होता यह सर्वदा स्थिर हो होता है । जो लोग
स्थिर लक्षण की ठीक रूप में व्याख्या कर सकें वे ही उस विषय के पूर्ण विद्वान् कहे जा
सकते हैं, वे ऐसी व्याख्या को कभी स्वीकार नहीं कर सकते । यही पर यह कहा जा सकता
है कि कुछ विद्वान् ऐसे भी निकल आवेंगे जो ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानेंगे । इसका
उत्तर यह है कि कुछ लोगों के मन देने से ही ध्वनि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती । सभी

धारावती

ही नहीं, चाहे द्वितीय पद्य के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारों से सिद्ध है तो वह शोभा हेतु नहीं हो सकती, चाहे तृतीय पद्य के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि को शोभाहेतु मान भी लें तो भी (अन्य नवीन अलङ्कारों के समान) उसके अधिक आर का कोई कारण नहीं, इन दोनों ही पद्यों में ध्वनि प्रवाद मान सिद्ध होती है। यद्यपि अभाव वादों की सम्भावना मात्र की गई है तथापि यह सम्भावना सर्वथा निर्मूल नहीं।

इसोक्तिवे यहाँ पर एक पद्य का उद्धरण दिया गया है, जो श्री आलोचकार के हन सामयिक मनोरथ नामक कवि का बनाया हुआ है। 'प्रसन्नमें कोई अलङ्कार युक्त, मन को प्रसन्न करने वाली वस्तु नहीं है' इस वाक्य में 'अलङ्कार युक्त' हेतु है—क्योंकि उनमें, अलङ्कार नहीं होने अतः वे मन को आनन्द देने वाले भी नहीं होते। इससे उस प्रकार के काव्य में अर्थालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। 'विचित्र वादों से रचना नहीं की गई' से अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। क्योंकि 'वाच्य' का अर्थ है उत्पन्न सङ्कल्पना, यकोत्तिमान् वाच्य का अर्थ है वाच्य और अर्थ गुणों से रहित। कुछ लोगों का मत है कि यहाँ पर 'यकोत्तिमान्' वाच्य से सभी प्रकार के अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। क्योंकि यकोत्ति अलङ्कारों का समावेशन है। और उस सापेक्ष लक्षण से रहित होने का आशय है सभी प्रकार के अलङ्कारों से रहित होना। इस विषय में मुझे केवल इतना ही कहना है कि अलङ्कारों के अभाव की बात तो पहले ही 'सादृश्य' आदि वाच्य के द्वारा ही कह दी गई, यकोत्तिमान् वाच्य का भी वही अर्थ करने पर केवल पुनराक्ति ही होगी इसका कोई समाधान नहीं किया गया। 'ध्वनि की प्रेम पूर्वक प्रशंसा करते हैं' इस वाक्य में प्रेम पूर्वक वाच्य का अर्थ है एक दूसरे की देखा देखो ! क्योंकि छोक की भेँड़वाँट होती है और जो सिद्धान्त छोक में अर्थात्तः हो जाता है उसके प्रति लोगों में प्रेम प्रसन्न हो जाता है। 'जिसी विद्वान् के द्वारा पूछे जाने पर वे उसका स्वरूप बता बतलावेंगे' इस वाक्य में 'विद्वान्' वाच्य का अर्थ यह है कि भूतों के पूछने पर ही बाद जो कुछ बतलाया जा सकता है, उन्हें प्रश्न और उत्तर आदि के द्वारा उद्धृत देकर ही प्राप्त किया जा सकता है और उसका अनपेक्षित स्वरूप बतलाया जा सकता है।

यह पद्य मनोरथ कवि का बतलाया गया है, मनोरथ कवि का उल्लेख राघवचरित में ज्ञापीठ के राज्यवाच के प्रसन्न में किया गया है। यदि वे वही ज्ञापीठ हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवन के पहले ही ध्वनिकारिकारों लिखी जा चुकी थी। सम्भव है कि अतिरिक्त गुण का प्रत्यक्ष से अभिप्राय ध्वनिकार से ही हो गया या वे कोई अन्य मनोरथ कवि हो।

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न मम्मन्त्रयेव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चिन् । कामनीयकमनत्रिवर्तमानस्य तस्योक्तिश्चेव चारुवहेतुध्वन्तर्मात्रान् । तेषामन्यतमस्यैव वा अर्हंममाक्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।

किञ्च चारुविकल्पानामानन्त्यान् मम्मन्त्रवत्यपि वा कस्मिंश्चिन् काव्यलक्षण-विधायिनि प्रमिदैरप्रदर्शिते प्रकारत्वेन ध्वनिध्वनिरिति यदेतदलीकमहृदयत्व-भावनामुकुलितलोचनैर्नृन्यते तत्र हेतुं न विद्यः । सदृशतो हि महानभिरन्यैर-कृद्धारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेवा दशा श्रूयन्ते ।

तैमरा पत्र—किर सम्मन्त्र दूरे ठेग उसके समाज को दूसरे ही रूप में बहै । (वह कह सकत है कि) ध्वनि नाम का कोई अर्थ वस्तु सम्मन्त्र नहीं है । यह ध्वनि रमणीयता का अतिरक्तता नहीं करती । अतएव उसका उक्त रमणीयता हेतुओं में ही अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये । क्योंकि उसी में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जावे तो अर्थ नाम रख देने से ही उस पर बहुत कम कहना शेष रह जावेगा ।

दूसरी बात यह है कि वक्ता के अन्तर्गत विकल्प हो सकते हैं । अतएव ऐसा कोई मूल में सम्मन्त्र भी हो सकता है । जिसका परिणाम प्रसिद्ध काव्यकलाकार भाव्यों ने न किया हो, किन्तु फिर भी झूठी सदृश्यता की भावना को लेकर बालविक्रता की ओर से अपनी भावों में दृढ़कर जो ये ठेग ध्वनि ध्वनि विच्छाडे हुये जायें किन्तु है उसमें मुझे कुछ अविश्वस्य दिखलाई नहीं पड़ता । महाना भाव्यों ने सदृशों की समस्या में अठारों के प्रकार प्रकाशित किये हैं । तथा वचन में भी प्रकाशित किये जायेंगे । इनकी यह दशा सुनरें नहीं पड़ती ।

लोचनम्

ननु भवत्वमौ चारुवहेतु, शब्दाप्यंगुलाङ्कुरान्तर्भूतश्च तथापि ध्वनिरिति-मुया भाषया ज्योतिर्मित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयाभाव-सादृश्यमन्यस्यति—पुनरपरे इति । कामनीयकमिति । कामनीयस्य कर्म । चारुवहेतु-मिति यावत् ।

(ध्वनि) निम्नन्देद यह चक्रव हेतु होने और शब्द अर्थ रूप और अठारों के अन्तर्गत भी (होने) तथापि 'ध्वनि' समझकर का उस भाषा के द्वारा 'जीवन है' यह विषय के दंग नहीं कहा गया इन अभिप्राय का अंगुलाङ्कुर के (उत्तर के रूप में) दूसरे अभाववाद को दन्दन्त कर रहे हैं—पुनरपरे इति । कामनीयकमिति । कामनीय के कर्म को कामनीयक करते हैं । अतएव यह है कि चक्रव को कुछ दन्दन्त करने में कारण ।

सारावली

उपविष्ट होता है। फिर अन्य अथवा तात्पर्य अनुपपन्न हो जाता है क्योंकि प्रवाह में बर बनाया ही नहीं जा सकता। अन्यवानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण जब वाक्य अभ्यर्पित हो जाता है और वक्ता का तात्पर्य किसी अन्य अर्थ (उत्तर) में प्रतीत होता है तब उस उत्तर अर्थ में लक्षणा कही जाती है। वास्तव में अन्यवानुपपत्ति लक्षणा का बीज नहीं है। क्योंकि यदि अन्यवानुपपत्ति ही लक्षण का बीज मानी जावे तो 'घर' शब्द में 'मगर' की लक्षणा कर देने में भी वाक्य की अनुपपत्ति जाती रहती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये। लक्ष्यार्थवाच के पहले लक्ष्यार्थोपस्थिति आवश्यक तथा अनिवार्य है, क्योंकि लक्ष्यार्थोपस्थिति के अभाव में तात्पर्यानुपपत्ति ही नहीं सकती। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) अग्रहलक्षणा या उपदान लक्षणा—जिस लक्षणा में लक्ष्यार्थ की प्रतीति के साथ लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी होती रहती है, जैसे 'छाते जा रहे हैं' 'माते जा रहे हैं' 'बौझों से दही बचाओ' इन वाक्यों में छाता और माते का जाना जाना असम्भव है। अतएव छाता का अर्थ जाना लिये हुये पुरुष और माते का अर्थ माता लिये हुये पुरुष हो जाता है। पुरुषों के साथ छाता और माता का जाना जाना भी उपपन्न ही है। इसलिये इस प्रकार की लक्षणा को अग्रहलक्षणा कहते हैं। इसी प्रकार कौझों से दही बचाओ इस वाक्य में 'कौझा' शब्द का लक्ष्यार्थ है—'दही को नष्ट कर देने वाला कोई पशु'। इन पशुओं के साथ बौझा का भी परित्याग नहीं होता। अतएव यह अग्रहलक्षणा लक्षणा है। (२) दूसरे प्रकार की लक्षणा होती है अग्रहलक्षणा का लक्ष्यार्थवाच। इसमें लक्ष्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जैसे 'गङ्गा में घर' 'कुत्तियों और मकियाँ रहती हैं' इत्यादि वाक्यों में गङ्गा और कुत्तों इन शब्दों के अर्थों का सर्वथा परित्याग हो जाता है और वस्तु 'घर' तथा 'कुत्तियों पर बैठे आदमी' यह लक्ष्यार्थ निकल आता है। यही लक्षणा की सही परिभाषा है। इसका अर्थ हम प्रकार है—एक प्रथम लक्ष्यार्थोपस्थिति, फिर तात्पर्यानुपपत्ति और बाद में लक्ष्यार्थसम्बद्ध लक्ष्यार्थ की उपस्थिति। यही घर यह ध्यान रखना चाहिये कि लक्ष्यार्थ सर्वथा लक्ष्यार्थ सम्बद्ध होता है।

लक्षणा के विषय में दो बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है—(१) किन सम्बन्धों में लक्ष्यार्थ के ध्यान पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है? और (२) मुख्य शब्द का परित्याग कर लक्षक शब्द के प्रयोग में क्या कारण है? लक्ष्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में महति गौतम ने लिखा है—

'सहचरलक्षणतदर्थमुत्तमानुपपत्तिसानीप्यबोधाभावादिपक्षेभ्यो लक्षणलक्षकानुपपत्तिरिति तुल्यकारः।'

छोपनम्

प्रकारोऽप्यमग्नयेय । प्रकारलेश इति । स हि चारुवहेतुगुणो वाऽलङ्कारो वा । स च सामान्यलक्षणो सङ्गृहीत एव । यदाहु — 'काव्यशामाया कर्तारो धर्मा गुणा तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' इति । तथा— 'वक्रामिधयशब्दोक्तिरिष्टा पाचामलङ्कृति' इति । ध्वनिध्वनिरिति । बोधस्य सम्प्रम सूचयन्ननादर दर्शयति— नृप्यत इति । तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तद्भवयोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तिमिरिति शेष । ध्वनिशब्द कोऽप्यादर इति भाव । एषा दशेति । स्वयं दर्पं परैश्च स्तूयमानत्वेत्यर्थ । वाग्विह्वला वाक्प्रवृत्तिहेतु प्रतिभाप्यापारा इति वा ।

और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार भी संख्यानीत है । प्रकार लेश इति । निम्नन्देह वह चारुत्व में हेतु गुण या अलङ्कार (दो सकृदा है ।) और वह सामान्य लक्षण के द्वारा सङ्गृहीत ही हो गया । जैसा कि कहा है— 'काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण होते हैं, उसकी अतिशयता में हेतु हो अलङ्कार होते हैं, यह तथा 'वक्र अमिधय और गन्द की वक्ति वाणी के अलङ्कार (को सकृदा) के रूप में अमोघ है यह । ध्वनिध्वनिरिति । बोध (दो बार बयन) के द्वारा सम्प्रम को सूचित करते हुये अनार शिष्टता रहे हैं— सूचन इति ।

उसका लक्षण करनेवाले, उससे युक्त काव्य की रचना करने वाले तथा उसमें उद्भूत चमत्कार वाले सहस्रों के द्वारा यह श्रवण (शब्द में) शय रह गया । भाग्य यह है कि ध्वनि शब्द में कौन बहुत अधिक आदर है ? एषा दशेति । अर्थ यह है कि स्वयं दर्प और दूसरों के द्वारा मशहू किया जाना । वाग्विह्वला इति । भववा वाणी की प्रवृत्ति में हेतु प्रतिभा व्यापार के प्रकार ।

तारावती

पुनश्च पदार्थ मानना ही चाहिये । इस मन का उत्तर पूर्व ९९ की बात मानते हुये मूल में 'वाग्विह्वलानाम् एषा दशा मूकते' इन शब्दों में दिया गया है । यही पर 'वाक् गन्ध' का प्रयोग किया गया है । यह शब्द 'वाक्' धातु से क्विप् प्रत्यय हो कर बना है । इस शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है— (१) कर्ता अर्थ में कर्त्ताणि वाक् अर्थात् वा अथ को कहें उस 'गन्ध' को वाक् कहते हैं । (२) कर्म अर्थ में— 'उच्यते इति वाक्' अर्थात् वा कहा जावे उसे 'वाक्' कहते हैं । इस व्युत्पत्ति से अर्थ का बोध हो जाता है और (३) कर्म के अर्थ में 'उच्यते अनवा इति वाक्' अर्थात् जिस स्थान के द्वारा अर्थ कहा जाने वह अनिवा व्यापार । इस प्रकार यही पर यह अभाव निश्चयता है कि शब्द की विविधता भी अनन्त प्रकार की होती है, अर्थ की विविधता भी अनन्त प्रकार की होती है और अनिवा व्यापार की विविधताओं का भी परिसंख्यान नहीं किया जा सकता । मूल के

शेषनम

मज्जते संसृते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति अभिधर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादि । तत आगतो भाषो लाक्षणिकोऽर्थः । यदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यास्सारूप्यास्समवायतः ।

वैपरीत्याक्रियायोगास्त्वक्षया पक्षधा मता ॥

भाक्त का अर्थ यह है—भजन किया जाता है वा पदार्थ के द्वारा सेवन किया जाता है अर्थात् प्रसिद्ध के रूप में उपप्रेक्षा किया जाता है, उसे भक्ति कहते हैं अर्थात् अभिधेय से तानोप्य इत्यादि धर्म समये (भक्ति से) आया हुआ भाक्त होता है अर्थात् लाक्षणिक अर्थ । जैसा कि कहते हैं—

‘अभिधेय के साथ तानोप्य से, सारूप्य से, समवाय से, वैपरीत्य से और क्रियायोग से उत्पन्न ५ प्रकार की भाक्ती गई हैं ।’

तारावर्ती

अर्थाभरण के अर्थ में तथा ‘हुण्ड’ (हुण्डों को बोनने वाला) का प्रयोग द्रष्ट के अर्थ में । इन शब्दों के प्रयोग में न तो इनके मूल अर्थ की प्रतीति होती है और न प्रयोग के कारण का ही पता चलता है । इन शब्दों का शाब्दार्थ के समान प्रयोग होता है । इस प्रकार की उत्पत्ति को तिरुदा उत्पत्ति कहते हैं ।

दूसरे प्रकार की उत्पत्ति प्रबोधनवर्ती कहलाती है, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग विशेष प्रबोधन को लेकर हुआ करता है । जैसे यदि एक गाँव के अनेक व्यक्ति किसी स्थान पर बसे जायें और उनको देख कर जो व्यक्ति यह कहने लगे ‘आब अमुक गाँव वही बरखिद है ।’ वही पर गाँव के व्यक्तियों के लिये ‘गाँव’ शब्द का प्रयोग सत्त्वा की अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के मन्वश्य में किया गया है । ‘गाँव के बहुत से लोग’ इन शब्दों से सत्त्वा की अभिव्यक्ति करने विनाश रूप में मनीष नहीं होती किन्तु व्यक्तियों के लिये ग्राम शब्द ॥ प्रयोग से होती है । अतएव सत्त्वा की अभिव्यक्ति की प्रतीति उत्पत्ति का प्रबोधन है । इसी प्रकार ‘पी पीवन है’ इत्यादि उदाहरणों में समझना चाहिये ।]

उत्पत्ति के लिये भक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है । इसी भक्ति शब्द से भाक्त शब्द बना है । भक्ति की व्युत्पत्ति कई प्रकार की हो सकती है । (२) ‘मम सेवयाम्’ वाच्य से धर्म अर्थ में सिन् प्रत्यय होकर ‘जिसका ममन वा सेवन किया जावे’ यह व्युत्पत्ति होगी अर्थात् भक्ति तानोप्य इत्यादि ऐसे धर्मों को कहते हैं जो कि उत्पत्ति की प्रतीति के निमित्त के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और स्वभाव से अपने कोष के लिये जिनका सहारा लेता है । अर्थात् भक्ता वा बोद्धा उत्पत्ति की प्रतीति के लिये जिन सामोप्य इत्यादि निमित्त रूप में प्रसिद्ध धर्मों की परीक्षणा किया करता है उन प्रसिद्ध सामोप्य इत्यादि धर्मों को भक्ति कहते हैं तथा उनसे प्राप्त होने वाला धर्म भाक्त अर्थात् लाक्षणिक अर्थ कहलाता है । अभियुक्तों का

लोचनम्

भक्त्या विमर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

भक्तिव्याप्तेरध्याप्यते न चासौ लक्ष्यते तया ॥ इति ॥

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ॥ इति ॥

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैस्तेष्वप्यादयश्च । तैरप्यायैर्नृत्तिरर्थान्तरं यस्य,
तैरप्यायैर्नृत्तिरपि शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा । गुणद्वारेण वा वर्तते
गुणवृत्तिरमुष्याऽभिधाप्यापारः । एतदुक्तं भवति ध्वनतेति वा, ध्वन्यत इति
वा ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तस्याप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो भासौ
कश्चित् । मुप्यार्थं अभिधेवेति पारितोष्यादमुक्तं एव ध्वनिः तृतीयराश्यभावात् ।

रूप भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति से स्वरूपता को धारण नहीं करती । अतिव्याप्ति
तथा अप्याप्ति के कारण यह उसके द्वारा लक्षण भी नहीं होती । किसी एक ध्वनिभेद का यह
उपलक्षण (मते ही) हो जाने ।' यह भी ।

(गुणवृत्ति शब्द के अर्थ बताये जा रहे हैं) गुण का अर्थ है सामीप्य इत्यादि धर्म
तथा तैदम्य इत्यादि उपायो से निवृत्त (शब्द) की अपर्याप्त में वृत्ति हो अथवा उन उपायो से
शब्द की श्रित्त में (अर्थ में) वृत्ति हो उसे गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् शब्द अथवा अर्थ ।
अथवा गुणों के द्वारा वर्तमान होना गुण वृत्ति कहलाता है अर्थात् अनुसृत्य अभिधा व्यापारः ।
यह बात कहो गई है—चाहे ध्वनि करने वाले शब्द को ध्वनि बने चाहे ध्वनि होने वाले
अर्थ को ध्वनि बने, चाहे ध्वनन व्यापार को ध्वनि बने, उपचरित (गुणवृत्ति) शब्द के
अर्थ व्यापार से निवृत्त यह कोई बात नहीं है । मुख्य अर्थ में अभिधा ही होती है, अतः
परिशील करने से अनुसृत्य में ही ध्वनि होती है क्योंकि कोई तृतीय राशि होती ही नहीं ।

तारावती

है उसे भाक्त कहते हैं । इस प्रकार गीत और लाक्षणिक दोनों अर्थ प्राप्त कहलाते हैं । (४)
भक्ति, भक्त भाव से किन्तु प्रयोज्य होकर भी बनता है श्रित्त का अर्थ होता है भक्त करना वा
तोषना । लक्षणा में मुख्य अर्थ को भक्त किया जाता है इसलिये इसे भाक्त कहते हैं । इस प्रकार
लक्षणा के तीनों तत्त्व मुख्य अर्थ का भक्त, निर्मित और प्रयोजन इस भाक्त शब्द में प्रयानि
गोचर हो जाते हैं । यही तीन लक्षणा के बीज हैं जिनसे उपचरित प्रयोग हुआ है ।

'तारावती' 'ध्वन्यामृतं गुणवृत्तिरिति' इन शब्दों में सामानाधिकरण्य का प्रयोग किमो
विनेत मत्तव्य से हुआ है । दो पदों का सामानाधिकरण्य सदा एक धर्म का बोधक होता
है । परा का आशय यह है कि ध्वनि गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से अभिन्न हुआ करते
हैं । ध्वनिवर्ती का कहना है कि ध्वनि और गुणवृत्ति पर भी व्यापारित होती है तथापि
गुणवृत्ति ही ध्वनि नहीं होती । यद्यपि अतिव्याप्य नम ध्वनि भेद में 'निवृत्तामान्य

ध्वन्यालोक

भाष्यमाहुस्तन्मन्य । अन्य त ध्वनिसंश्लिष्ट कान्यामान गुणवृत्तिरित्याहु ।

(अनु०) अन्य काय उसे भाव कहते हैं । अर्थात् अन्य लोग ध्वनिसंज्ञावाणी उस कान्य की आवा की गुणवृत्ति कहा करते हैं ।

लोचनम्

एवमतःभावविकल्पा शृङ्खलाक्रमणागता नवन्योन्यामभ्यस्त एव ।
तथाहि तृतायामावप्रकारनिरूपणोपक्रम पुन शब्दस्यावमवामिधाय । उपमहा
रैर्य स सङ्गच्छत ।

अभाववादस्य सम्भावनाप्राणवेन भूतत्वमुक्तम् । भाष्यवादस्वविच्छेद
पुन्यकवित्वनिर्माण भाष्यमाहुःरिति नित्यप्रवर्तमानापक्षयामिधानम् ।

इस प्रकार ये अभाव विकल्प शृङ्खलाक्रम से आये हैं एक दूसरे से असम्बन्ध हो नहीं हैं ।
यह इस प्रकार कि तृतीय अभाव प्रकार के निरूपण के उपक्रम में पुन शब्द का वही
अभिप्राय है, अतःहारा की वजह से (शृङ्खलाक्रम को मानने से) असङ्गत हो जाती है ।

अभाववाद का भाव है सम्भवना । अब उसमें भूतकल कहा गया है । भाष्यवाद या
पुन्यको में विच्छेदन रहित (रूप में आया) है इस अभिप्राय से 'भाष्यनातु' इस निष्पन्न
वर्तमान की अपेक्षा करते हुये अभिप्राय किया गया है ।

सारावली

इस प्रकार ये अभाववाद के तीन रूप हैं । ये तीनों रूप शृङ्खलाक्रम से आये हैं, एक
दूसरे से असम्बन्ध नहीं हैं । इसलिये तृतीय अभाववाद के उपक्रम में 'पुन' शब्द का प्रयोग
किया गया है और तीनों रूपों का एक ही अतःहारा किया गया है ।

अब छान्दोग्यवाद की छान्दोग्ये । पहले वज्रपा या चुका है कि छान्दोग्य में अभाववाद
और अस्वरूपत्ववाद के लिये 'अगु' और 'अनु' इन शब्दों में प्रयोग मूल का प्रयोग
किया गया है तथा छान्दोग्य के लिये 'अगु' इस वर्तमान काल का प्रयोग दिया है ।
अभाववाद और अस्वरूपत्ववाद का वन्धेन किमी विराट् पुस्तक में नहीं मिलता । अतएव
सम्भवना मात्र से ही उन रूपों का उद्घटन कर दिया गया है । यही उन रूपों के साथ
प्रयोग मूल के प्रयोग का रहस्य है । किन्तु छान्दोग्य अप्रतिष्ठित रूप में विभिन्न पुस्तकों में
मिलता है । इसलिये उसके साथ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है । अभाववाद में
मूलकाल के साथ सम्भवना व्यक्त होती है । छान्दोग्य के साथ वर्तमान काल का प्रयोग
उसके अतिष्ठित प्रवृत्ति को कहना है ।

[यहाँ पर छान्दोग्य में छान्दोग्य की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है । अब इन
रूपों में किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तब सर्व प्रथम उसके सङ्केत अर्थ की अभिव्यक्ति
होती है । जैसे 'अगु' में 'अ' इस शब्द के प्रयोग करने पर यही 'अगु' का अर्थ 'अगु']

छोवनम्

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिगुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति । अन्यो वेति । गुणालङ्कारप्रकार इति यावत् । दर्शयतेति—महोद्भूतवामनादिना । मामहेनोक्तम्—शब्दादछन्दोऽभिधानार्था इति । अभिधानस्य शब्दाभेद व्याख्येतु महोद्भूतो वामने—शब्दानामभिधानमभिधान्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति । वामनोऽपि सादृश्यरक्षणं चकोक्ति इति । मनाक् स्पष्ट इति । तैस्तावद्-ध्वनिदिगुर्भासिता यथाहिततत्पाठस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुंमतावनुबन्धितस्वरूपविवेको न कृतः, प्रत्युत्तोपाख्यत, अभग्ननारिकेलवत् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति । अत एवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति । यद्येव न योज्यत तदा ध्वनिमार्गं स्पष्ट इति पूर्ववत्तामिधानं विदम्बत ।

यह किसने कहा कि ध्वनि गुणवृत्ति होती है ? यह शङ्का करके कह रहे हैं—‘यद्यपि च’ इत्यादि । अन्यो वा इति । अर्थात् गुण और अलङ्कार का प्रकार । वामना इति । अर्थात् महोद्भूत वामन इत्यादि के द्वारा । मामह के द्वारा कहा गया—शब्द छन्द अभिधानार्थ - (काव्य हेतु है)’ ऐसा वहाँ पर शब्द से अभिधानभेद की व्याख्या करने के लिये महोद्भूत ने कहा—शब्दों का अभिधान अर्थात् अभिधा व्यापार मुख्य तथा गुणवृत्ति । वामन ने भी कहा—सादृश्य से छशणा चकोक्ति होती है ।’ मनाक् स्पष्ट इति । उन्होंने ही ध्वनि की दिशा का बर्णितन किया था । जैसा लिखा वैसा पढ़ने वालों ने तो स्वरूप विवेक करने में असमर्थ होकर उसके स्वरूप का विवेक सही किया प्रत्युत् (वे लोग) बिना दृष्टे नारिकेल के पत्त के समान यथामित श्रवण की ग्रहण करने के ही द्वारा कल्पनमय रहे हैं । इसीलिये कहते हैं—परिकल्पित करके इस प्रकार कहा है यह । यदि इस प्रकारकी योजना न की जाये तो ध्वनिमार्ग का स्वरूप किया गया है यह पूर्णतः कटना विरक्त हो जाता है ।

सारावती

व्यापार के लिये अभिधा वृत्ति का नाम लिया जाता है और अनुस्य व्यापार अथवा उपवर्तित शब्दार्थ का गुणवृत्ति के नाम से अभिहित किया जाता है । तीसरी राँग हाती ही नहीं । अतएव अनुस्य व्यापार पर आधारित ध्वनि को भी गुणवृत्ति में ही सन्निविष्ट किया जा सकता है । ध्वनि गुणवृत्ति से एकक् नहीं बही जा सकती । वही मर्कट अथवा लघुया एव है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी ने ध्वनिता गुणवृत्ति का नाम दिया है वा नहीं । इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ध्वनि शब्द का उन्नेस कर किसी भी आचार्य ने गुणवृत्ति या गुण और अलङ्कार का कोई दूसरा प्रकार प्रकाशित नहीं किया है तथापि काव्य में अनुस्य वृत्ति से व्यवहार करते हुए महोद्भूत वामन इत्यादि आचार्यों ने ध्वनि मार्ग का स्वरूप

सारावली

इसका आशय यह है कि सहचरण इत्यादि १० सम्बन्धों से जो पद त्रिस अर्थ में चल नहीं होता है उस पद का उस अर्थ में भी प्रयोग कर दिया जाता है। ये १० सम्बन्ध निम्नलिखित हैं—

(१) सहचरण—जैसे 'छवि' आ रही है' 'छाते आ रहे हैं' यहाँ पर पुरुषों के साथ छाते और छाँटो भी जाते जाते हैं। इसी सम्बन्ध से पुरुषों पर छवियों और छाँटों का आरोप कर दिया गया है। (२) स्थान (बैठना)—जैसे 'कुर्सियों शोर मचा रही है' यहाँ पुरुषों पर कुर्सियों का आरोप किया गया है क्योंकि पुरुषों का कुर्सियों पर बैठने का सम्बन्ध है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी निमित्त किसी वस्तु का होना—जैसे 'चटाई बनाने के लिये रखे हुये छत्र के लिये कोई चटाई शब्द का प्रयोग करे। (४) वृत्त या व्यवहार—जैसे 'यह रात्रा यम है' यहाँ पर व्यवहार को समानता के कारण रात्रा में यम का आरोप किया गया है। (५) मान या लौकिक सम्बन्ध—जैसे 'एक सेर चावल' यहाँ पर सेर पर चावलों का आरोप इसलिये किया गया है क्योंकि चावल सेर से तौलते गये हैं। (६) धारण करने का सम्बन्ध जैसे 'पर्वत जल रहा है' यहाँ पर पर्वत पर पर्वत का आरोप किया गया है क्योंकि पर्वत पर्वतों को धारण करते हैं। (७) सामोप्य सम्बन्ध—जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर तट के लिये गङ्गा शब्द का प्रयोग इसी लिये हुआ है क्योंकि तट गङ्गा के समीप है। (८) योग का सम्मिलनका सम्बन्ध—जैसे कृष्ण एक गुण है। किन्तु योग के कारण कृष्ण गुण का आरोप 'सादक' में कर लिया जाता है और लोग 'कच्ची सारंगी' कहने लगते हैं। यहाँ पर सारंगी पर कृष्ण गुण का आरोप योग के कारण हुआ है। (९) साधन का सम्बन्ध—जैसे 'अन्न प्राण है' अन्न प्राण का साधन है, इसी लिये अन्न पर प्राणों का आरोप कर लिया जाता है। (१०) आधिरम्य सम्बन्ध—जैसे रात्रा के किसी नीचरे के अतिमाने होने पर लोग कहते हैं 'हटो रात्रा साहब आ रहे हैं।'

उक्त समस्त सम्बन्धों को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—सादृश्य सम्बन्ध और लक्षित सम्बन्ध। किसी मूर्त मनुष्य को बैठ कहना सादृश्य सम्बन्ध है, क्योंकि अकृता मन्दरा इत्यादि गुणों के सादृश्य के आधार पर ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुणों पर आधारित होने के कारण इस प्रकार की लक्षणा को भौती लक्षणा कहते हैं। भिन्न सम्बन्धों में होनेवाली लक्षणा शुद्धा कहलाती है। इस प्रकार सम्बन्ध का दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है।

अब विचार करना है कि मुख्य शब्द के स्थान पर अनुस्य का प्रयोग होता क्यों है। भावकों ने इसके दो कारण बताये हैं (१) परम्परा और (२) कोई प्रयोजन। कुछ शब्दों का प्रयोग अनुस्य अर्थ में स्वभावतः होने लगता है। जैसे 'मन्दर' (मँड पीने पाटा) का प्रयोग विठ्ठल के अर्थ में, 'कुम्हल' (कुम्ह को घट्टप करने वाला) का प्रयोग

ध्वन्यालोक

तेनैवविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपं द्रूम ।

(अनु०) अतएव इस प्रकार के मतमें के होते हुये सहृदयों के आभा की मान्य देने के लिये हम उसके स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं ।

लोचनम्

सन्देहेनापहृयते । अद्यासचनपद्धधाना अपि रक्षयितु न जानत इति क्रमेण विषयासन्दहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम् । तेनेति । एकैकोऽप्यय विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हतुत्व प्रतिपद्यत इत्येकवचनम् । एवविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सहस्री । आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तनैव हतुना तत्स्वरूपं द्रूम इति । ध्वनिस्वरूपमभिधेयम् । अभिधानामभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयोऽप्युपाधयुत्पादकमात्र सम्बन्धः । विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञान प्रयोजनम् । शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधकभावः सम्बन्ध इत्युक्तम् ।

छिपाते है । अंतिम ल ग न छिपाते हुये भी छिपात करना नहीं जानते इस वचन से इसके विषयासन्देह और अज्ञान की प्रधानता है । तेनेति । यह एक भी विमतिरहित रूप वाक्यार्थ निरूपण में हेतुता को प्राप्त हो जाता है इसलिये एक वचन का प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार की विमतियों में इसमें निर्धारण में सहस्री है इनके बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से हम उसका स्वरूप कह रहे हैं । ध्वनिरूप अभिधेय (विषय) है ध्वनि और शास्त्र का अभिधानाभिधेय नामक (तदा) वक्ता श्रोता का ध्वन्यास ध्वन्यात्मक भाव सम्बन्ध है विमतिनिवृत्ति के द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है शास्त्र और प्रयोजन का साध्य साधनभाव सम्बन्ध है यह कहा गया है ।

तारावती

कवेरिमिश्रमहाशयगोचरं स्फुरन्तमार्गं पुनः केवलम् ।

वर्णमालां स्फुरन्तमविनिर्गन्तव्यं तूष्णीं भवन्तीत्यमरं ॥

अर्थात् कवि का अभिप्राय शब्द से गहर नहीं होता केवल आदर में ही स्फुरित होता है । जो शब्द उस अनिवचनीय आनन्द को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं और उनके रोमम्र हो उस आनन्द को बहा करते हैं हम उन्हें हाथ आक कर नमस्कार करते हैं)

ध्वनि विरामी यही सत्य, कथन है । अतरोत्तर गण बाली की बुद्धि कविक अवस्था है इनमें अभावशायी सबसे अधिक निरुक्त कवि के हैं । क्योंकि अभावशायी को ध्वनि सिद्धांत का ज्ञान ही नहीं है । अभावशायी में सबसे अधिक निरुक्त कवि के बल है जो ध्वन को सर्वथा अस्वीकार करते हैं । उनसे अच्छा न लगता है जो ध्वन का मानते हैं किन्तु उसको वाक्य से अलग कर देते हैं । उनसे भी अच्छा न लगता है जो ध्वन को वाक्य से अलग ता मानते हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव अन्वय करना चाहते हैं । किन्तु ये समस्त अभावशायी निराकर्षण में आते हैं यह वचन विपर्ययमूलक है । यद्विशय मध्यम भवती

लोचनम्

गुणसमुदायवृत्ते शब्दस्यार्थमागस्तैश्च इत्यादिमिति, तत आगतो गौणोऽर्थः । मक्ति प्रतिपाद्ये सामीप्यतैश्च इत्यादिमिति अत्रातिशयः तौ प्रयोजनरत्वेनोद्दिश्ये तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च । मुख्यस्य आर्षस्य भक्तौ शिष्यस्य मुष्यार्थवाधानिमित्तप्रयोजनमिति त्रयसंज्ञाव उपचारस्योत्तमिषु भवेति ।

काव्यामान गुणवृत्तिरिति । सामानाधिकरण्यास्यार्थं भावः—यद्यप्य-
विवक्षितवाक्ये ध्वनिभेदे 'निश्वासान्ध इवादर्श' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि
न तदामैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात् । विवक्षितान्यपरवाच्यप्रमेदादौ
अविवक्षितवाक्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वदयाम तथा च वदयति —

गुण समुदाय में रहनेवाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्षण्य इत्यादि वा अर्थ
मात्र होता है उसे मक्ति कहते हैं, उससे प्राप्त हुये गौण अर्थ को भाक्त कहते हैं । प्रतिपादनाय
सामीप्य तैक्षण्य इत्यादि में अर्थात् अधिकता का भाक्त कहते हैं । उसको प्रयोजन के रूप
में मानकर उससे प्राप्त होने वाला (अर्थ) भाक्त (होता है) इस प्रकार गौण और लाक्षणिक
(दोनों) भाक्त कहलाते हैं । और मुख्य अर्थ का भक्त (भी) मक्ति कहलाता है । इस
प्रकार मुख्यार्थ, निमित्त और प्रयोजन इन तीन का हाना उरवार बोध है यह कहा हुआ
हो जाता है ।

102252

काव्यामान गुणवृत्तिरिति । ('त भाक्तम् तथा 'त ध्वनिसंज्ञित' में) सामानाधिकरण्या
का यह भाव है—यद्यपि अविवक्षित वाक्य नामक ध्वनि भेद 'निश्वासान्ध इवादर्श'
इत्यादि में उपचार है तथापि तदाभा ही ध्वनि नहीं होती क्योंकि उनके अभाव में भी हा
जाती है । विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिभेद इत्यादि अविवक्षित वाक्य में भी उपचार
ही होता है । ध्वनि नहीं यह हम आगे बतलकर कहेंगे । उभी प्रकार (ध्वनिसार भी)
कहेंगे—

तारावती

कहना है—(१) अभिव्यक्ति से सामीप्य साक्ष्य समवाय वैरोध्य और क्रियायोग इन ५
सम्बन्धों में किसी एक से सम्बन्धित होने के कारण छान्या ५ प्रकार की होती है । (२)
शब्द का व्यवहार गुणों के समुदाय में होता है अर्थात् शब्द स्वसम्बन्ध गुणों का प्रतिपादन
क्रिया करता है । अतः शब्द का तैक्षण्य इत्यादि वा अर्थमात्र है उसे मक्ति कहते हैं
क्योंकि उस अर्थमात्र का सेवन किया जाता है । इस प्रकार गुणों के प्रतिपादन के कारण
वा 'तैष' अर्थ निकलता है उसे भाक्त कहते हैं (३) मक्ति शब्द का अर्थ अर्थात् की
अधिकता भी है, अर्थात् बहनीय अर्थ सामान्य तैक्षण्य इत्यादि के प्रति अर्थात् की अधिकता ।
[जैसे 'वशा अग्नि है' में वश्या की शक्तिरिक्ता का कथन करने से वश्या की विशेष अर्थात् है ।
यहाँ पर सन्धीय शब्द का प्रयोग प्रमादवश हो गया है; क्योंकि सामीप्य इत्यादि तो निमित्त
है, वैरोध्य प्रयोजन नहीं हो सकते ।] इस मक्ति को प्रयोजन के रूप में उद्धृत भी अर्थ होता

शोधनम्

अथ ध्वन्यप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमन प्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह—तस्य हीति । विमतिपदपतितस्येत्यर्थः । ध्वने, स्वरूपं छल्लयतां सम्वन्धिनि मनमि आनन्दो निवृत्त्यात्मा चमत्कारपरपर्यायः । प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्य पदवैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्पेमान छमतामिति प्रयोजन सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः ।

अब मोठा के बन्दर रहने वाले प्रयोजन, प्रयोजन के प्रतिपादक 'सहृदयमन प्रीतये' इस भाग की व्याख्या के लिये यह रहे हैं—'तस्य हि इति' अर्थात् विमति के पद में पड़े हुये (ध्वनिस्वरूप) का ध्वनि के स्वरूप को छल्लित करने वाला के सम्बन्धी मन में आनन्द (प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जाने) । आनन्द ऐसा, जिसकी आत्मा है दुःखों से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि तथा जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार है । प्रतिष्ठा का अर्थ है विपर्यास इत्यादि से उपहत (व्यक्तियों) के द्वारा उन्मूलन न हो सकने में बाध गिरता । (आनन्द प्रतिष्ठा को) प्राप्त हो जाने इस प्रयोजन के सम्पादन के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है, यह सङ्गति है ।

तादावली

अस्तु प्रथम भाग मोठाको के इष्टिकोण से प्रयोजन है—विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप को समझ देना । उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयमन प्रीति । इसी भाग की व्याख्या करने के लिये आठोक्तकारने 'तस्य हि ... आनन्दो ह्यमर्ता प्रतिष्ठाम्' यह भाग लिखा है । इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'ध्वने स्वरूप एतावतां भवति आनन्दो ह्यमर्ता प्रतिष्ठाम्' । आनन्द का अर्थ है निवृत्तिमयक ताव जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार भी हो सकता है । 'प्रतिष्ठा को प्राप्त हो' का आशय यह है—ऐसी गिरता को प्राप्त हो जाने जिसका उन्मूलन विपर्यास इत्यादि के द्वारा उपहत बुद्धि वाले (अभाववादी इत्यादि) न कर सकें । 'प्राप्त हो' का आशय यह है कि प्रयोजन को पूरा करने के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है ।

'तेन तत्स्वरूपं ज्ञम्' इस वाक्य से यह अर्थ आ जाता है कि विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप का निर्वचन करना अस्तु रचना का प्रयोजन है । किन्तु यह प्रयोजन मुख्य नहीं है अर्थात् मुख्य प्रयोजन प्रीति ही है । स्वरूपज्ञान का प्रयोजन प्रीति का अङ्ग मात्र है । इन दोनों प्रयोजनों में वही पर एकाग्रता हो जाती है । मूलक गुण भाव से स्पष्ट होकर प्रयोजन शब्द निष्पन्न हुआ है । 'प्रयुद्धे प्रयोजनोक्तिं वा प्रयोजनम्' । अर्थात् जो प्रयुक्त करे वा प्रयोजन करे उसे प्रयोजन कहते हैं । आशय यह है कि प्रयोजन का प्राप्त हो यह है कि विवेचनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करे वा प्रीति करे । तिसरे कारण परिसीटक किमी विवेचनीय वस्तु के परिसीटन की ओर उन्मुख होता है उसे ही

ध्वन्यालोकः

यद्यपि ॥ ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिमिगुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकार प्रकाशितः तथापि अमुर्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाह् स्फुटोऽपि न लभित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्त-
मन्ये' इति ।

(अनु०) यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न और ही कोई प्रकार बतलाया है । तथापि अमुर्य वृत्ति से कानों में व्यवहार दिलवाने हुये उत्तरक—ध्वनि वचन का कुछ सङ्केत अवश्य किया या जिसको प्रवचन आचार्यों ने नहीं लक्षित कर पाया तथा उन्होंने भी लक्षण नहीं बनाया था । यदा कल्पित कर बड़ा गया है 'उत्ते कुछ लोग ध्वनि बतलाते हैं ।'

सारावर्ती

स्वार्स' इत्यादि स्थानों पर लक्षणा का सहारा लिया जाता है तथापि लक्षणा ही ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि विविधान्तरावाच्य इत्यादि ध्वनिमेदों में बिना ही लक्षण के ध्वनि हो जाती है । अविवक्षितवाच्य में लक्षणा होती है किन्तु केवल ध्वनि ही नहीं होती यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी । (दे० पृ० उद्योत की १४ वीं तथा १९ ॥ कारिका 'मन्वालक्षणे तथा' और 'कस्य चिन्उपलक्षणम्') ।

[आलङ्कारिक लोग दो प्रकार की लक्षणा मानते हैं शुद्ध और गौणी । किन्तु मोमासक लोग गौणी वृत्ति को लक्षणा से पूर्वक मानते हैं । ऊपर दिलखाया जा चुका है कि मक्ति शब्द से जहाँ लक्षणा के तीनों वाच्य गतार्थ हो जाते हैं वहाँ गुणवृत्ति का समावेश भी मक्ति शब्द में हो जाता है । जो लोग ध्वनि का लक्षणा में सम्मिलन करते हैं उनका मतव्य यह है कि जहाँ कहीं शब्दवाच्यार्थस्वतंत्रिक किसी अन्य भव का प्रतीति होता है उस सबका समावेश मक्ति लक्षणा या गुणवृत्ति में ही हो जाता है । दूसरी बात यह है कि ध्वनि की समस्त विशेषतायें गुणवृत्ति शब्द में भी विद्यमान हैं ।] गुणवृत्ति शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) गुण शब्द का अर्थ है सामान्य शब्दादि लोप्यता इत्यादि ध्वनि । इन उदाहरणों से जिस शब्द की दूसरे अर्थ में वृत्ति या व्यवहार हो उस शब्द की गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् लक्षण शब्द । (२) इन उदाहरणों से जिस अर्थान्तर में शब्द का व्यवहार हो वह लक्षणार्थ अथवा । (३) गुण के द्वारा वर्तन करना या व्यवहार करना अर्थात् अनुसृत्य अभिवा (लक्षणा) व्यापार । इसी प्रकार ध्वनि शब्द के भी तीन अर्थ हो सकते हैं— १) जो ध्वनित हो अर्थात् शब्द; (२) जो ध्वनित किया जाये अर्थात् व्यञ्जनाध्यार । (३) जिस प्रक्रिया के द्वारा ध्वनित किया जाये अर्थात् व्यञ्जना व्यापार । इस प्रकार ध्वनि और गुणवृत्ति इन दोनों शब्दों में एक से अर्थ हो निकलते हैं और ध्वनि शब्द के तीनों अर्थ गुणवृत्ति शब्द से भी गतार्थ हो जाते हैं । आखिर यह है कि शब्द के दो ही व्यापार होते हैं मुख्य और अनुसृत्य । मुख्य

तारावती

प्रयोजन कहते हैं। पाठक ध्वनिस्वरूपज्ञान के लिये प्रस्तुत रचना के अध्ययन में प्रवृत्त होगा और श्रोता के लिये स्वरूपज्ञान में प्रवृत्त होगा। यही इन दोनों की एक-वाक्यता है।

यहाँ पर आठोक्तकार ने स्वरूप शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुये ध्वनि विरोधी पक्षों सिद्धान्तों का निराकरण करने पर एक सूक्ष्म दृष्टिगत किया है। वह ध्वनि समस्त सत्त्ववियों के वाक्य हैं। उपनिषद्भूतप्रधान तत्त्व है—अतः वह कोई नहीं कह सकता कि वह बोधे से विचारको द्वारा अवलम्बित अलङ्कारों का हो नया प्रकार कल्पित कर लिया गया है। 'वह तत्त्व ध्वन्य रमणीय है' इससे लक्षणा पत्र का स्पष्टछेद हो जाता है। 'गद्गा में पर' बादक निह' इत्यादि लक्षणा मूलक वाक्यों में कोई रमणीयता नहीं होती जबकि ध्वनिकाव्य आत्यन्त रमणीय हुआ करता है। 'एक नया नाम रख देने से क्या लाभ !' इस कथन का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'वह तत्त्व भगवन्तत्वाकाव्यों का उपनिषद्भूत है। कुछ लोग कहते थे कि 'उस ध्वनि काव्य का अन्तर्भाव गुण अथवा अलङ्कार में कर दिया जाना चाहिये।' इन्हीं लोगों का प्रतिवाद करने के लिये आचार्य ने लिखा है—कि उसका निराकरण सूक्ष्म से सूक्ष्म कवि मुक्ति ने भी कभी नहीं कर पाया।

कतिपय आचार्यों ने वह वह कर उसे सामयिक बलप्रताप था कि 'कतिपय सद्गुणों के मान देने मात्र से ध्वनि का स्वरूप गिरता को प्राप्त नहीं हो सकता। इन लोगों का निराकरण करने के लिये कहा गया है—रामायण महाभारत प्रभृति समस्त सत्काव्यों में ध्वनिका आदर किया गया है। और आदि कवि तक ने उसकी प्रतिष्ठा की है। अतएव ध्वनि केवल कतिपय सद्गुणों की मान्यता का विषय नहीं है।' चौबरी पत्र यह था कि 'वह ध्वनि बाणी का विषय नहीं हो सकती।' इस बात का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'कतिपय आचार्य उसका निरूपण लक्षणा के द्वारा करना चाहते हैं।' 'लक्ष' धातु से धनू प्रत्यय हो कर लक्ष बनता है। 'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्।' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षित किया जाये उसे लक्ष कहते हैं अर्थात् लक्षण। इस लक्ष की निश्चय प्रत्यय द्वारा किया बनाई गई है। लक्ष या लक्षण के द्वारा किसी वस्तु का निरूपण करना 'लक्षयितुम्' अर्थ है। उसका धनुःप्रशब्द रूप बना है 'लक्षयितुम्' अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करने वाले।

['लक्षयितुम्' का उक्त व्याख्या पर श्री महादेव साहू ने दिव्याञ्जन टिप्पणी में लिखा है—'यहाँ पर कारण में धनू दुर्लभ है क्योंकि लघु प्रत्यय के द्वारा उस का रूप हो जाता है। किन्तु महामाध्यकार ने 'उपदेशेऽजनुनासिक' इस सूत्र में उपदेश शब्द की श्रुति में कारण में धनू माना है। इसी आधार पर लक्ष धातु से बाहुल्य का आशय लेकर कारण में धनू किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा मान्य पड़ता है कि 'लक्षयितुम्' का सौधा अर्थ

ध्वन्यालोकः

केचिपुनलक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदय-
संवेद्यमेव समाख्यातवन्तः ।

(अनु०) कुछ लोगों की बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे ध्वनि के तत्त्व को वाणी की शक्ति से बरे सहृदयहृदयसम्बन्धमान ही बतलाते हैं ।

बोधनम्

शालीनबुद्धय इति अग्रगण्यमतस्य इत्यर्थः । एते च त्रय उत्तरोत्तरं मध्य-
बुद्धयः । प्राप्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा । मध्यमास्तु तद्वत्त्वं जानाना अपि
शालीन बुद्धय इति । अर्थात् अग्रगण्य मतिवाले । ये तीनों उत्तरोत्तर मध्य बुद्धि वाले हैं ।
पहले के लोग (अमाशवादी) सर्वथा विपर्यस्त हो गये अर्थात् विपर्यय धान से युक्त हैं और
वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ हैं । बीच के लोग उसके रूप को जानते हुए भी सन्देह से उसे

वारावती

अवश्य किया था । मानह ने काव्य हेतुओं का परिगणन कराते हुये लिखा था 'शब्द, छन्द
अभिधान, इतिहासाभिध कथा, लोकोक्ति और कला ये काव्य के हेतु होते हैं । (१-९)
इस कारिका में शब्द और अभिधान दोनों शब्दों का पूर्वक् पूर्वक् उपादन हुआ है । अतएव
इन दोनों शब्दों के भेद की व्याख्या करते हुये मट्टोद्भट ने लिखा—'अभिधान शब्द का
अर्थ है शब्दों का अभिधा व्यापार । वह दो प्रकार का होता है—मुख्य तथा गुणवृत्ति ।'
मानह ने भी लिखा था—'सादृश्य में होनेवाली लक्षणा को वक्तोक्ति कहते हैं । इस प्रकार
मानह ने अभिधान शब्द के द्वारा उस ध्वनि मार्ग का कुछ स्पष्टीकरण किया था । उन्होंने
कैवल्य ध्वनि की दिशा का उल्लेख नहीं किया था । किन्तु व्याख्याता लोगों ने जैसा पढ़ा था
उसका जैसे का जैसा ही अर्थ कर दिया । वे उसके स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ थे;
अतएव उन्होंने उसका स्वरूप नहीं समझ पाया । अब वे हो लोग उसे व्याख्या दे रहे हैं ।
बिना प्रकार कोई व्यक्ति नारियल की बाहरी कठोरता को ही नारियल की वास्तविकता समझ
जावे उसे हीनतर उसके आन्तरिक-वास्तविक स्वाद को जानने की चेष्टा न करे । वही दशा
उन व्याख्याताओं की हुई जिन्होंने जैसा सुना था जैसा ही ग्रहण कर लिया उसके रहस्य को
जानने की चेष्टा नहीं की । मानाव यह है कि पुराने व्याख्यातों ने इस बात की ओर सदैव
किया था कि ध्वनि और लक्षणा एक ही तत्त्व हैं । व्याख्याताओं की अज्ञानता के कारण
इसकी ठीक व्याख्या नहीं हो सकी । इस सन्दर्भ की देसी हो योजना करनी चाहिये;
नहीं तो पूर्व पत्र के प्रकरण में 'ध्वनि' के स्पर्श की बात बहना ठीक नहीं होगा ।

पापवा पत्र असाध्यलक्षणावादियों का है जिनकी बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार
है कि वे कहते हैं इस ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता । सुकुमार का अन्तर्भाव है—'उनकी
बुद्धि मग्न नहीं ।'

(असाध्यलक्षणावादियों का मति निमग्नचित्त पत्र से भी व्यक्त होता है—

ध्वन्यालोक

तस्य हि ध्वने. स्वरूपं सकलकविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसी-
मिरपि चिन्तनकाव्यलक्षणविधादिनां बुद्धिमिरनुन्मीलितपूर्वम्, यद्यपि रामायण-
महाभारतप्रभृतिभि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्ष्यतां महद्दयानामानन्दो
मनसि लभतां प्रतिष्ठापिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

(अनु०) उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व
है तथा यह तत्त्व अत्यन्त रमणीय है। यद्यपि आचार्य लोग प्राचीन काल से ही काव्य
लक्षण करते चले आये हैं। किन्तु हम ध्वनि का उन्मूलन कभी भी दृष्टम से दृष्टम बुद्धि ने
भी नहीं कर पाया। रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध व्यवहार वाली उस
ध्वनि का लक्षण बनाकर जो लोग निरूपण करना चाहते हैं। उन सङ्ग्रहों के हृदयों में
आनन्द पूर्ण प्रतीक्षा तथा निरंतरता को प्राप्त होवे।

वाराणसी

के हैं। एवं कि वे ध्वनिको समझते तो हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव वेसे ग्यान पर धार देने हैं
जहाँ उमका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। यह पक्ष सन्देहमूलक है। अशक्यवक्तव्यावहारी
उसका अन्तर्भाव नहीं करना चाहते किन्तु उनको लक्षण बनाना नहीं आता। अतः
वे पूर्वोक्त दोनों पक्षों से अन्धे हैं। यह पक्ष अज्ञान प्रधान है। वहाँ पर 'तेन' ॥ शब्द में
'तत्' शब्द का तृतीया का एक वचन है। 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त तीनों वादों का समूलन
हो जाता है। तृतीया से हेतुभा सिद्ध होती है और एक वचन से सिद्ध होता है कि विरोधियों
का प्रत्येक वाक्यार्थ प्रत्येक ध्वनि निरूपण में हेतु है। अतएव यह है कि 'ध्वनि का
स्वरूप बनाना ही' इस वाक्य का तीनों वाक्यों के साथ सम्बन्ध होता है। 'कुछ लोग ध्वनि
का अभाव कहनाते हैं' इसलिये हम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं 'कुछ लोग उसे
स्थाना इति के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं' इस लिये हम उसका स्वरूप बनानाते हैं।' इस
प्रकार हम वाक्यार्थ का तीनों के साथ सम्बन्ध होगा।

'इस प्रकार की विमर्शियों में' इसमें निर्धारण (बहुते में एक ही अर्थ में) में सतनी
है। इन विमर्शियों में जो एक भी प्रकार है उसके कारण ध्वनि के स्वरूप को व्याख्या की
जा रही है। यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप विषय है। सङ्ग्रह अधिकारी हैं। वैमन्य के निराकरण
के साथ ध्वनिस्वरूप दान प्रयोजन है। शास्त्र और प्रयोजन का साधक साध्यमात्र सम्बन्ध
है। शास्त्र साधक है प्रयोजन साध्य अथवा ध्वनि और शास्त्र का अधिभावकविशेष मात्र
सम्बन्ध है। ध्वनि अधिभाव है और शास्त्र अधिभावक है। इसी प्रकार वक्ता और श्रोता का
श्रुतादक-श्रुताप मात्र सम्बन्ध है। वक्ता श्रुतादक है और श्रोता श्रुताप, यही आलोच
कर का अनुवर्ण नदृष्ट है।

लोचनम्

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम । तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्र
द्वारेण सहस्रहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनद्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः ।
यथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिव सन्निबन्धविधायिनाम् ।

आस्त एव निरातङ्ग कान्त काव्यमयं वपु ॥ इति ॥

यथा मनसि प्रतिष्ठा एवविधमस्य मन सहस्रदयकप्रवर्ती एवत्यय ग्रन्थ-
कृदिति यावत् यथा 'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति स्वनामप्रकटीकरण
श्रोतॄणां प्रतृप्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्याम ।
एव ग्रन्थकृत कवे श्रोतुश्च मुख्य प्रयोजनमुक्तम् ॥ १ ॥

आनन्द इति । आनन्द यह ग्रन्थकार का नाम है । इससे वे आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र
के द्वारा सहस्रदयो के हृदयों में प्रतिष्ठा अर्थात् देवमन्दिर को समान न सह होनेवाली स्थिति
का प्राप्त हों, यह भाव है । जैसा कहा गया है—

'स्वर्ग को गये हुये भी अन्ध निराश के बनानेवालों का कमनीय काव्यमय दारिद्र्य
आनन्दरहित विद्यमान ही रहता है ।'

जिस प्रकार (सहस्रदयो के) मन में प्रतिष्ठा हो इसप्रकार का अनर्थ मत है, आशय यह
है कि यह ग्रन्थकार निस्सन्देह सहस्रदयकप्रवर्ती है । जैसा 'युद्ध में अर्जुन को वही प्रतिष्ठा है ।'
यह अपने नाम का प्रकट करना (बहुत बड़ी) सम्भावना का विरासत उत्पन्न करने के द्वारा
प्रवृत्ति का अर्थ है । यह ग्रन्थ के अन्त में हम कहेंगे । इस प्रकार ग्रन्थकार, यदि और श्रोता
का मुख्य प्रयोजन कहा गया है ॥ १ ॥

छायावती

चतुर्वर्गपञ्चास्वादमप्यतिक्रम्य तदिदम् ।

काव्यामृतासेनान्धमनसो विप्रवृत्ते ॥

यही आनन्द शब्द का अर्थ है । 'आनन्द' आनन्दवर्धनाचार्य ग्रन्थकार का भी नाम
है । इसप्रकार हमका आशय यह है कि आनन्दवर्धनाचार्य सहस्रदयो के हृदयों में वही
प्रकार प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जिस प्रकार देवताओं के मन्दिरों में देवताओं की अग्रण्ड प्रतिष्ठा
होती है । कहा भी है—

आशय यह है कि ग्रन्थकार का मन तथा वह शास्त्र हम प्रकार का है इसकी प्रतिष्ठा
सहस्रदयो के मन में हो सके । अर्थात् ग्रन्थकार निस्सन्देह सहस्रदयकप्रवर्ती है । प्रतिष्ठा का
अर्थ है अग्रविद्ध सम्मोहपूर्ण स्थिति । जैसे—अर्जुन को युद्ध में बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है ।'
यह हम प्रायः के अन्त में कहेंगे कि यहाँ पर ग्रन्थकार ने अपना नाम इसलिए लिखा है कि
सहस्रदयो के हृदयों में ग्रन्थकार के प्रति सम्मान की भावना तथा आशय युद्धि उत्पन्न हो जाये

लोचनम्

प्रयोजन च नाम तत्त्वम्पादकवस्तुप्रयोनृताप्राणतयैव तथामवतीत्याशयेन प्रीतये तत्स्वरूपं त्रम इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम् । तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाण सङ्क्षेपेण तावत्पूर्वादिरिति विकल्पपञ्चकोदरण सूचयति—सकलेश्यादिना । सकलेश्यान्देन सत्त्वविशब्देन ॥ प्रकारखेरो कस्मिन्निचिदिति निराकरोति । अति रमणीयमिति भाषाद्वयविवेकमाह । 'नहि सिंहो बद्ध' 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र रम्यता काचित् । उपनियतशब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम् । अणोपसीमिरित्यादिना गुणलङ्घारान्तभूतत्वं सूचयति । अथ चेत्या दिना 'तत्समयान्त पातिन' इत्यादिना यत् भामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशी- करोति । रामायणमहामारतशब्देनादिकवे प्रभृति सर्वैरेव सुरिमिरित्यादर हृत इति दर्शयति 'लक्षयता' मित्यनेन 'वाचा' स्थितमविषये इति परास्यति । लक्षयतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम् । लक्षणे निरूपयन्ति लक्षयन्ति । तेषां लक्षण- द्वारेण निरूपयतामित्यर्थः । सहृदयानामिति । येषां काव्यानुशीलनाभ्यासबला- दिशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनोपतन्मयीभवनयोग्यता तै स्वहृदयसंवादाभाज सहृदया । यथोक्तम्—

प्रयोजन हो उसके द्वारा सम्पादनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करना ही प्राप्त होने से बैसा (ठीक रूप में प्रयोजन) होता है इस आशय से 'प्रीति के लिये उसका स्वरूप दर्शा रहे है' इसके साथ एकवाक्यता के द्वारा व्याख्या की जानी चाहिये । उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुये सङ्क्षेप में पहले बतलाये हुये पाँचों विकल्पों का उद्धार ध्वित कर रहे हैं— सकलेश्यादि । 'सकल शब्द सत्त्ववि शब्द के द्वारा—कोई प्रकार ऐसा सम्भव भी हो' इसका निराकरण कर रहे हैं । 'अत्यन्त रमणीय' इससे 'मातृ' (लाक्षणिक) से पूरकत्व कहते हैं । 'बहु सिंह है' 'गङ्गा में घर' इन में कोई रमणीयता नहीं हो है । 'अपनियत' इस शब्द के द्वारा 'अपूर्वनामनाम का रचना' इसका निराकरण कर दिया । 'अत्यन्त अणु भी ..' शब्दादि के द्वारा गुण और अङ्कुर में अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह ध्वित करते हैं । 'अथवा रामायण प्रभृति...' शब्दादि के द्वारा जो इसके होने की शङ्का को गई गी उसका निराकरण करते हैं । 'रामायण महामारत' इत्यादि शब्दों के द्वारा 'अदि कवि से लेकर सभी कवियों ने इसका शब्द रचा है' यह दिखाने हैं । 'लक्षित करने वाले' इसके द्वारा 'वाचा के विषय में स्थित नहीं है' इसको परास करते हैं । जिसके द्वारा लपित किया जावे उसे लप कहते हैं अर्थात् लक्षण । लक्ष से निरूपित करते हैं (उसका कहेंगे) लपित करते हैं । उन सबका अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करनेवालों का । सहृदयानामिति । काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनके विरह हुये मनोमुकुर में वपयीय से तन्मय होने की चेष्टा होती है वे अपने हृदय से सारा (वर्णनीय वस्तु से प्रकीर्ण) को प्राप्त होने वाले सहृदय होते हैं । जैसा कि कहा है—

लौचनम्

'शब्दार्थशरीरं काव्यमिति' यदुक्तं, तत्र शब्दप्रवहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्रासजन भाव्यभवः । तत्र शब्दस्तावच्छरीरमात्र एव सन्नविशते सर्वजनसर्वेष्वर्थस्वात्स्म्यलक्षणादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसर्वेष्वर्थो न भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह—महद्व्यङ्ग्याप्य इति । न एक एवार्थो द्विशततया विवर्कमिर्विभागबुद्ध्या विभाज्यते । तथाहि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदया श्लाघन्ते ? तद्वदितम् तत्र केनचिद्विशेषेण । यो विशयः, स प्रतीयमानमात्रो विवर्कमिर्विशेषहेतुत्वादात्मैति व्यवस्थाप्यते । वाक्यसबलनाविमोहितहृदयैस्तु सम्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, आवाकैरिवामपृथग्भावे । अतः एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयव्यङ्ग्याप्य इति समान्तात् क्रिया गण या' इमका पुनः कर रहे हैं । 'काव्य शब्द और अर्थ शरीरवाला होता है' यह वाक्य आता था, 'जैसे शरीर महत्त्व से ही उसकी अनुप्रासक कोश आगमा होनी ही चाहिये । उसमें शरीर का शब्दभाग में ही सन्नविश हो जाता है क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म के समान सर्वजनसर्वेष्वर्थस्वादा (तो यही) है । इसके प्रतिबुद्ध अर्थ सर्वजनसर्वेष्वर्थ नहीं होता । निम्नन्देह अर्थ मात्र से ही काव्य का नाम नहीं बक जाना क्योंकि लौकिक वैदिक वाक्यों में यह बात नहीं होगी । यही कह रहे हैं—सहृदयव्यङ्ग्याप्य इति । यह एक ही अर्थ का आत्मशरीर के रूप में विवर्कियों के द्वारा विभाग बुद्धि से शिफा किया गया है ।

यह हम प्रकार—अर्थरूपता के समान होने के लिये भी क्या कारण है कि किसी की ही सहृदय लोग श्लाघा करते हैं । तो उसमें कुछ विशेष होना चाहिये । जो विशेष है वह प्रतीयमान मात्र विशेष होने के कारण इन्हीं के द्वारा आगमा के रूप में व्यवहारित किया जाता है । वाक्यार्थ सम्मिलन से विमोहित हृदयवालों के द्वारा ही उसके पृथक् होने में विमोहित उद्गार जाती है जैसे वाक्यी के द्वारा आगमा के पृथक् होने में (आसक्ति उद्गार

वारावली

प्रवचन के हाथ हुए । मूलका शब्द का अर्थ है मूल के समान । यही एक प्रकार है, जिस प्रकार मूलका शब्द का निर्माण करने के लिए पहले मूल रचना की जाती है, वही प्रकार प्रवचनी माता के लिए मूलका के रूप में निर्धारित सिद्ध वाक्यार्थ का अधिष्ठान किया गया है । अर्थात् अर्थ का अर्थ मात्र प्रतीयमान अर्थ वाक्यार्थ के आधार पर ही प्रवचनीय हाता है । वाक्यार्थ के समस्त प्रतीयमान अर्थ को गिनाने का आगम यह है कि जिस प्रकार वाक्यार्थ का अर्थ नहीं दिया जा सकता वही प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी अर्थ नहीं हो सकता । अर्थात् मूल शब्द का अर्थ है—इमका अर्थ यह है कि मूल शब्द अर्थवाक्यकारी न जिस प्रकार शब्दों की होती है वही प्रकार सहृदयव्यङ्ग्याप्य अर्थ के दो दो दो का प्रवचन पुनः आगमों ने किया है । इसमें यह बात स्पष्ट हो गई कि 'प्रतिबुद्ध समानता की वाक्य ही है ।'

लोचनम्

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावी रसोद्भवः ।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवग्निना ॥ इति ॥

आनन्द इति । रसचरणात्मनः प्राधान्य दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्य-
भूतमाम्बुमिति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—

‘जो अर्थ हृदय से सवाद रखने वाला होता है उसकी भावनाएँ (निरन्तरचरणा)
रस चरणा-रसोद्भव में हेतु होती हैं । अग्नि के द्वारा शुष्क काष्ठ के समान उसके द्वारा
शरीर व्याप्त कर लिया जाता है ।’

‘आनन्द इति’ । रसचरणात्मक (आनन्द) को प्रधानता दिखाने के लिये रसध्वनि का ही
सर्वत्र मुख्यभूत आत्मत्व दिखाना पड़े है । इससे जो यह कहा था—

तारावर्ती

‘निरूपयता’ कर दिया जाता चाहिये निरूपण का अर्थ ही है लक्षण के द्वारा लक्ष्य का
बोध । इस प्रकार भावार्थ के द्वारा ही लक्षण शब्दादि से निरूपण सगृहीत हो जाता है फिर
अग्निक गति और बाहुल्य का आशय लेकर कारण यन्त्र के द्वारा व्युत्पादन का मयल
क्यों करना चाहिये यह बुद्धिमानों के विचार का विषय है । ‘किन्तु यहाँ पर अग्निक गति
का आशय व्यर्थ नहीं है । सामान्य अर्थ के द्वारा लक्षण का समग्र अग्निक गति है । यहाँ
पर अन्यकार विशेष रूप से इस बात पर बल देना चाहता है कि ध्वनि सिद्धान्त का अब
तक लक्षण नहीं बनाया गया । किन्तु उसका लक्षण बनाने की कामना लोगों की है ।
अन्यकार का यह अभिप्राय सामान्य अर्थ के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता । इसीलिये बाहुल्य
तथा अग्निक गति का आशय दिया गया है ।]

रस ध्वन्य के सदृश्य अधिकारी हैं । काव्यानुशीलन से जिनके मनोमुक्त विचार हो
गये हैं उनका वर्णनीय विषय से तन्मयता प्राप्त कर लेना ही सदृश्यता का एक मात्र लक्षण
है, जैसा कि कहा गया है—‘जिस अर्थ में हृदय को तन्मय कर देने की शक्ति होती है
उसकी भावना अथवा निरन्तर चरणा ही चरणाप्राण रस की अभिव्यक्ति में हेतु होती
है । जिस प्रकार ऐसे काष्ठ में अग्नि व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय एकशर रूप में
परिणत कर वह अर्थ सारे शरीर पर प्रभाव डाला करता है । इसी कारण रसचरणा के
अन्तर पर रोमाश्रित शारीरिक विकारों का अनुभव होता है ।

यहाँ पर आनन्द शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है । रस की चरणा ही आनन्द
की अन्तर्भावना स्वरूप है । आनन्द शब्द के प्रयोग के द्वारा यही दिखाना गया है कि
महानता रसध्वनि की ही होती है और सर्वत्र रसध्वनि ही मुख्य आत्मा मानी जा सकती
है । अतएव यह न एक ने जो कहा था कि ‘ध्वनि नाम का जो दूसरा व्यञ्जनात्मक व्यापार
है यदि वह अभिज्ञ और व्यञ्जना से भिन्न एक नया प्रकार मान भी लिया जावे तो भी वह

छोचनम्

विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धाररता तस्य द्वौ भेदावशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मनौ काम्यस्येति ।

जाती है ।) इसीप्रकारे उपक्रम में 'अर्थ' यह एक वचन के रूप में बहकर 'सद्बुद्धयन्ताय' इस विशेषण के द्वारा हेतु बह कर अपाद्धार (विभाव) की श्रुति से उसके दो भेद अर्थात् असा हावे हैं यह कहा, यह नहीं कहा कि काम्य की दोनों आत्मा होती हैं ।

वारावली

है । अभिनव गुप्त ने इस सम्पादित आशय का उच्चार यह किया है कि 'यह ध्वनि विवेचन श्री भूमिकामात्र है ।' इसका आशय यह है कि केवल अर्थ की सत्ता काव्यसत्ता मयनिका नहीं होती । लौकिक वैदिक वाक्यों में अर्थ होते हुए भी उन्हें काव्यसत्ता प्राप्त नहीं हो सकती । किसी भी वाक्य को काव्य सत्ता तभी प्राप्त हो सकती है जब उसमें किसी प्रकार की रमणीयता हो । अर्थ का यही रमणीयता प्रवीणक अंग प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है । इस अर्थ में वाच्यार्थ का भी मिश्रण रहता है । अतएव भूमिका के रूप में वाच्यार्थ का वस्तुत्व मात्र किया गया है, पूरे सन्दर्भ का आशय यही है कि रमणीयता केवल प्रतीयमान अर्थ में जानी है ।

यद्यपि महान् आचार्यों पर कटान्त्रितोः उचित प्रवीण नहीं होता तथापि इस व्याख्या से न तो पूर्वापर ग्रन्थ की सन्नति वैयर्थी है और न विरुद्धता के आशय का उच्चार हो ही जाना है । यही पर सद्बुद्धयन्तावलीव अर्थ की वाक्य को आशय कहा गया है और उसी आत्मा के दो भेद किये गये हैं वाक्य और प्रतीयमान । अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि रमणीयता वाच्यार्थ में नहीं जाती । मेरी समझ में इस ग्रन्थ की सन्नति इस प्रकार लगाना अधिक सुविशुद्ध होगा—'सद्बुद्धयन्तावलीव अर्थ ही वाक्य की आत्मा है, प्राचीन आचार्यों ने इन आत्मा की त्रिव रूप में वाक्य की है उसका विवेचन करने से प्राप्त होता है कि वह अ तथा दाना रूपों में जानी जाती रही है वाक्य भी और प्रतीयमान भी ।' यही पर 'सूत्रो दाम्भरिगेव ध्वन देने काय है । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार धार्मिक व्याख्या देनेवाले आचार्यों किसी विषय में वैकल्पिक रूपों की व्यवस्था देते हैं उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी व्यवस्था दी है उससे सिद्ध होता है कि पुराने आचार्यों वाक्य की आत्मा के रूप में त्रिव अर्थ व दानों रूपों में जानते थे ।' 'उभा' शब्द का द्विवचन और 'वाच्यप्रतीयमानस्यौ' का द्वन्द्व भी इसी आशय की ओर इशारा करते हैं । अभिनव काविका में भी यही बात कही गई है । 'अर्था' इत्यादि प्रकार कियों के मत में वाक्य की आत्मा है ही । यही पर उनका उल्लेख ध्वनि की भूमिका के रूप में ही किया गया है । हमने पुरानी परम्परा से प्रस्तुत रचना का सम्यक् स्थापित हो जाना है ।

लोचनम्

धर्मायैकाममोलेषु नैवक्षण्यं कलामु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च भाषुकाम्यनिषेवणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रमुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्र-
सम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्ति-
हेतोर्वाप्यासम्मित-व्यवशयो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्गभ्युत्पत्ते-
रपि आनन्द एव पारमन्तिकं मुख्यं फलम् ।

‘साधु काव्य का सेवन करना धर्म अर्थ कान और मोक्ष में तथा कलाओं में विचक्षणता
कीर्ति और प्रीति को करता है ।’

तथापि वसने प्रीति ही प्रधान है ! नहीं तो व्युत्पत्ति में हेतु प्रमुसम्मित वेद इत्यादि से
तथा मित्रसम्मित इतिहास इत्यादि से व्युत्पत्ति में हेतु काव्य रूप की आवासम्मित लक्षणवाली
विशेषता ही क्या रहे । इस प्रकार प्रधानतया आनन्द ही वहाँ पर कहा गया है । चतुर्वर्ग
व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पारमन्तिक (अन्तिम) मुख्य फल है ।

धारावती

काव्य के प्रयोजन कीर्ति और प्रीति हैं । कीर्ति के द्वारा भी प्रीति का ही सम्पदन होता है,
जैसा कि कहा गया है—‘कीर्ति का फल स्वर्ग है ।’ स्वर्ग आनन्द का ही दूसरा नाम है ।
अंग के दृष्टिकोण से व्युत्पत्ति और प्रीति ये दो फल काव्य के प्रयोजन कहे जाते हैं ।
जैसा कि कहा गया है—‘धर्म, अर्थ, कान, मोक्ष तथा कलाओं में निपुणता कीर्ति और प्रीति
ये फल सत्काव्य के आशयान से उत्पन्न होते हैं ।’ तथापि इनमें प्रीति ही प्रधान है क्योंकि
विचक्षणता काव्य का मुख्य नहीं किन्तु गौण प्रयोजन है । उपदेश तीन प्रकार के होते
हैं (१) प्रमुसम्मित उपदेश—जैसे वेदाख्ये का उपदेश रामायण के समान अनिवार्य
होता है । उसके न मानने पर प्रायश्चित्त रूप दण्ड सहन करना पड़ता है (२) मित्रसम्मित
उपदेश—जैसे दर्शन वा इतिहास पुराण इत्यादि का उपदेश जिसका मित्र की सम्पत्ति के
संनान किसी समय क्षयन किया जा सकता है (३) आवासम्मित उपदेश—यही काव्य
का उपदेश होता है । जिसमें मर्षिणी के प्रथम की प्रीति सर्वदा आनन्द की ही प्रधानता
होती है । उससे एवमेवला प्रभाव वरिष्ठ गौरव होता है फिर भी स्वादी तथा अनिवार्य होता
है । रामायण के प्रसिद्ध अन्धोत्थन किया जा सकता है, मित्रों की सम्पत्ति ठुकराई जा
सकती है किन्तु आनन्दानुभूति के साथ मर्षिणी को प्रभाव बर्षा देती है उसके पालन में
एक प्रकार की श्रद्धा ही आ जाती है । इसी प्रकार वेद-शास्त्रादि के उपदेश ठुकराये जा
सकते हैं किन्तु काव्यानुभूति से बड़े हुए प्रभाव का अतिरिक्त नहीं दिया जा सकता ।
पारो बर्गों की व्युत्पत्ति का भी अन्तिम लक्षण आनन्द ही है । आचार्य कुन्तक ने तो इसे
काव्यसंसार से भी बढ़कर बड़का है—

ध्वन्यालोक

तत्र वाच्य प्रसिद्धो यः प्रकारैरप्यमादिभिः ।

बहुधा व्याकृत सोऽयं, काव्यलक्ष्मविधाभिनि ।

ततो नेह प्रतन्यत ॥३॥

केवलमनूयते पुनर्यथायोगम्

(अनु०) उनमें जो वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है : दूसरे (चङ्कट इत्यादि) आचार्यों ने उपाय इत्यादि भणों के द्वारा बहुत प्रकार से उसकी व्याख्या कर दी है । [दूसरे आचार्यों से अभिप्राय काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों से है] अनन्तर यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है । केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र किया जा रहा है ।

सारावर्ती

शरीर का भाग में आये हुए वाच्य 'वा' की व्याख्या करने के लिये कहा गया है कि वाच्य का सन्निवेश लट्ति और उचित होता है । अन्वय वाच्य में रमणायता आ जाती है । लट्ति वाच्य का अन्वय है—वाच्य में गुण और अलङ्कार को सहायता से चारुता आती है । उचित वाच्य का अन्वय है रसविषयक औचित्य । इसमें सिद्ध होता है कि वाच्य का जीवन रसत्व ही है । यदि रसत्व ही को वाच्य का जीवन नहीं माना जावेगा तो तब औचित्य की जो वह प्राप्ति की जाती है उसका क्या मन्व्य होगा ? (रोमन् की 'औचित्य विचार प्रथा' औचित्यमपवाद का एकमात्र ग्रन्थ है । किन्तु सुवीर्य उद्योत में आनन्दवर्धन ने औचित्य का बड़े ही विचार से सम्यक् किया है । उनका कहना है कि औचित्य सिद्धान्त का एकमात्र आधार रस ही है । वाच्य और अन्वय का औचित्य भी रसप्रयोजक ही है । परन्तु हमें भी औचित्य की आत्मीयता का प्रतीतिदल करते-करते रसप्रयोजक औचित्य पर ही आ गये हैं ।

तुर्वन् सङ्गमे व्याप्तिमौनिरुचिते रस ।

मधुमास इवागोचराव्यपूरित मन ॥)

'जो वाच्य अर्थ है' इस वाच्य में 'वा' वाच्य को अर्थ है कि वाच्य को विरासी भी मानते हैं । 'उसके दो अर्थ होते हैं' इस वाच्य में 'उस' वाच्य का अभिप्राय यह है कि जो अर्थों के होने पर ही उसकी सहायता सिद्ध होती है । अब सुन्दर अर्थ को वाच्यमा के रूप में स्वीकार कर लिया तब वाच्य हेतु होने के कारण चर्च गुणाद्वार व्यतिरिक्त नहीं होती' इस अर्थ में स्वरूपासिद्ध होकामास हो जाता है । क्योंकि अगला कमी भी शरीर को चारुता में हेतु नहीं होती । यदि दुर्जनप्रकाश में अगला को वाच्यहेतु मन में लिया जावे तो भी हेतु में व्यतिरिक्त ही आ ही जावेगा । कारण यह है कि जो स्वयं अलङ्कार है वह अलङ्कार कैसे हो सकता है ? जो स्वयं गुण है वह गुण कैसे हो सकता है ? यदि हम प्रतीयमान अर्थ को ही गुण और अलङ्कार मान लेंगे तो गुण और अलङ्कार हीन होगा ! ॥ २ ॥

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाद्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ २ ॥

(अनु०) दृश्य के द्वारा ध्वनि का निरूपण प्राग्भूत किया है, उसी की भूमिका बनाने के लिये यह कहा जा रहा है :-

‘वाच्य की आत्मा के रूप में स्थित सहृदयश्लाघनीय जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद बड़े गये हैं ॥ २ ॥

लौचनम्

ननु ‘ध्वनिस्वरूपं वचनम्’ इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानादयो द्वौ भेदावर्थ-
स्येति वाच्यमभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां
करोति तत्रेति । एवं विधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थितं इत्यर्थः ।

भूमिरिव भूमिका । यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते तथा
ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाद्यौ निरूपयितव्यं निर्विवादसिद्धवाच्यमभिधानं भूमिः ।
तत्पक्षेऽधिकप्रतीयमानांशोद्धिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यन-
पह्वनीयत्वं प्रतिपादयितुम् । स्मृताविरच्यनेन ‘यः समागतात्पूर्वः’ इति दृढयति ।

निम्नदेह ‘ध्वनिस्वरूप की कहते हैं’ यह प्रतिज्ञा करके वाच्य और प्रतीयमान नाम के
अर्थ के दो भेद हैं—इस वाच्य के अभिधान में कारिका की क्या सङ्गति है ? यह आशङ्क्य
करके सङ्गति करने के लिये अवतरण दे रहे हैं—तत्रेति । अर्थात् इस प्रकार के अभिधेय और
प्रयोजन के स्थित होने पर ।

भूमि के समान भूमिका । जिस प्रकार अपूर्व निर्माण करने की इच्छा होने पर पहले
भूमि बनाई जाती है वही प्रकार प्रतीयमान नामक ध्वनिस्वरूप के निरूपण की छान्दस्य होने
पर निर्विवाद सिद्ध वाच्य का अभिधान भूमि है । क्योंकि वही की पीठ पर प्रतीयमान नामक
अधिक अंग का उन्मेष हो सकता है । वाच्य के समान शीर्ष के रूप में गिनना उसके भी
छिपाये में जा सकने का प्रतिपादन करने के लिये है । ‘स्मृतौ’ इसके द्वारा ‘जो पहले

तारावती

जिससे वे अन्य के अध्ययन में प्रवृत्त हो सकें । इस प्रकार अन्यवार, कवि तथा श्रोता तीनों के
दृष्टिकोण से प्रयोजन का प्रवर्धन किया गया है ॥ १ ॥

दूसरी कारिका में अर्थ के दो भेद किये गये हैं—वाच्य और प्रतीयमान । यहाँ पर
प्रश्न उठता है कि प्रतिज्ञा तो यह की थी कि ‘ध्वनि का स्वरूप यह रहे है ।’ किन्तु दो
भेदों में वाच्य को भी सम्मिलित किया है । इस प्रश्न की सङ्गति कैसे बैठती है ? इसी
प्रश्न का उत्तर देने के लिए आलोचक ने अवतरण लिखा है कि ‘यहाँ पर यह कारिका
ध्वनि सिद्धान्त के दृष्ट्य की भूमिका है ।’ ‘यहाँ पर’ का अन्वय है उक्त अभिधेय और

ध्वन्यालोक

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्तुवस्ति धाणीषु महाकवीनाम् ।

वत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति साधव्यमिवाद्गन्तु ॥ ४ ॥

(अनु०) जिस प्रकार अगताओं में प्रसिद्ध (मुख नाक कान इत्यादि) अवयवों से भिन्न स्वरूप्य एवं प्रयत्न पदार्थ होता है (जो स्वयं शोभित होता है और उन समस्त अंगों को भी शोभित करता है ।) उसी प्रकार महाकवियों की वाणिज्यों में प्रतीयमान अर्थ (वाच्यार्थ से भिन्न) कुछ और ही तत्त्व है (जो स्वयं भी शोभित होता है और वाच्यार्थ को भी शोभित कर वाच्यार्थ बन जाता है) ॥४॥

लोचनम्

अन्यदेव वस्तुवस्ति । पुनः शब्दो वाच्यादिनोपधोतक । तद्वत्तिरिक्तं सारभूत चैवार्थं । महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह ।

‘अन्यदेव वस्तुवस्ति’ पुनः शब्द वाच्य से विशेषता को बतानेवाला है । अर्थात् उससे व्यतिरिक्त भा तथा सारभूत भी । ‘महाकवीनाम्’ में बहुवचन अर्थात् विषयों को व्यापकता को बतता है ।

तारावली

और जहाँ जहाँ आवश्यक्ता पड़नी जावेगी वही उसका छंदरूप दे दिया जावेगा ।

यहाँ पर प्रत्यक्ष और अनुवाद इन दोनों शब्दों का अन्तर समझ लेना चाहिये । अर्थात् अर्थ के धारण को प्रत्यक्ष कहते हैं और धारा अर्थ के धारण को अनुवाद कहते हैं । वही पर अट्टहास इत्यादि ॥ अनुवाद और ध्वनि का प्रयोजन किया जावेगा ।

एव अनुवादक ने इस कारिका का इस प्रकार अनुवाद दिया है—‘उन्में से वाच्य अर्थ यह है जो उरमादि (गुणान्धकार) प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यो ने (पूर्व वाच्य स्वरूप कारों ने) अनेक प्रकार से उसका वर्णन किया है ।’ यह व्याख्या कुछ कारिका की वाक्य रचना के भी प्रतिकूल है, ‘उरमादिभिः प्रकारैः स व्याप्तो बहुष्वेति सङ्गतिः’ इस लोचन प्रत्यक्ष के भी प्रतिकूल है और कारिकाकार के ज्ञान को भी ठीक रूप में व्यक्त नहीं करती अतएव प्रामाण्य नहीं है ॥ ३ ॥

ध्वन्य कारिका में प्रतीयमान शब्दों की सत्ता का प्रतिपादन दुष्टान् द्वारा किया गया है । इस कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार नाविकाओं के मुख, नाक, कान, इत्यादि अनेक अवयव होते हैं किन्तु स्वरूप्य नामक कोई अवयव नहीं होता, फिर भी वह सभी अवयवों से श्रुति होने वाला प्रधानतत्त्व है । उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी शब्द का श्रुति अर्थ नहीं होता किन्तु सभी शब्दों के सङ्केत से श्रुति होता है ।

इस कारिका में पुनः शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विभेदना प्रकट करता है । अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न भी है और सारभूत भी है । महाकवि तथा वाणी इन दोनों शब्दों में बहुवचन का प्रयोग विषय की व्यापकता को सिद्ध करता है । आशय यह है

तारावती

गद्य और अर्थ काव्य के गरीब हैं। इसमें गरीब गद्य कथन से हा यह सिद्ध होता है कि हम गरीब में काव्य न काव्य आमा अवश्य होनी चाहिए। तब काव्य जीवित कहा जा सकेगा। गद्य आमा नहीं हा सक्ता क्योंकि उसका ता शरीर स्थानीय ही माना जा चुका है और जिस प्रकार समा व्यक्ति शरीर व स्थूल तथा शून्य का भी धारण प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अतएव गद्य मिल्न ही कोई आमा होना चाहिए अर्थ दा प्रकार क हाता है—एक अर्थ देसा हाता है कि उसमें देसा काव्य विनियोग नहीं हाता जा सहाया को आकर्षित कर सके और दूसरा अर्थ देसा हाता है जिसकी प्रगता सहृदय लोग स्वयं करने लगते हैं। इन दोनों में प्रथम प्रकार का साधारण अर्थ काव्य का गरीब-स्थानीय ही माना जाता है और द्वितीय प्रकार का अर्थ काव्य की आमा हाता है। शब्द के समान अर्थ सज्जनसंघ नहीं हाता। दूसरा बात यह है कि अर्थ की सत्तामात्र से ही काव्य सदा प्राप्त नहीं हा सकती क्योंकि शैलीक और वैज्ञानिक वाक्यों में अर्थ ता होता है किन्तु उन्हें हम काव्य नहीं कहते। वही बात इन गद्यों में कही गई है कि सहृदय-काव्य अर्थ का काव्यामा की सदा प्राप्त हाता है। एक ही अर्थ का दो शाखाओं में विभक्त कर लिया जाता है। यह इस प्रकार—यद्यपि काव्यार्थ और शैलीक अर्थ में इस बात में समानता है कि दोनों का अर्थ की सदा प्राप्त होती है तथापि इसका क्या कारण है कि सहृदय लोग काव्यार्थ की ता प्रगता करते हैं शैलीक अर्थ की प्रगता नहीं करते। अतएव काव्यार्थ में शैलीक अर्थ की अपेक्षा काव्य न काव्य विनियोग माननी ही पडती। जा विनियोग होती है वही प्रतीयमान भाग कहलाता है। विनियोग में हेतु होने के कारण विज्ञान-लोग प्रतीयमान अर्थ की ही आमा के रूप में व्यवस्थापित करते हैं। किन्तु उसमें काव्यार्थ का मिश्रण रहता है जिसमें व्यामोह में पड़कर दानों अर्थों की एकता समझकर कठिण असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अर्थ का मानने का विराध करते हैं। जैसे धार्मिक लोग गरीब से एक आमा की मानने में विवशपति करते हैं। इस लिए अर्थ इस गद्य में एकवचन का निर्देश किया है और उसका विवरण दिया है 'सहृदय-काव्य'। यह विनियोग काव्यार्थ की विनियोग के हतु को अभिभूत करता है। भद्र शब्द का अर्थ है अर्थ। दानों अर्थों के सम्मिश्रण के कारण प्रगता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया गया है और विमर-बुद्धि से दो अर्थ बन्ना न्ये न्य है। वही यह नहीं समझना चाहिये कि दानों अर्थ—काव्य और प्रतीयमान काव्य की आमा हाता है।

यह पर टीकाकारों ने प्राय एक गद्य उठाई है कि धर्मकार ने प्रगता तो धर्म विवेचन के लिए की थी, बीच में काव्यार्थ का वचन क्यों करने लगे? इस सन्दर्भ से विवरण्य जैसे आचार्य की भी भ्रम हो गया और उन्होंने लिखा है कि अब धर्म सदा प्रतीयमान हो होती है तब उसके काव्य और प्रतीयमान में दो भेद कर देना स्वयं-व्यवहार

शोधनम्

सबलनाहृतं धाम्यतिरेकञ्चम एतन्तदार्थान्तिकयोर्दशंपति । एतच्च किमपीत्या-
दिना व्याचष्टे । लावण्य हि नामावयवसत्त्वानामिन्यङ्गमवयवव्यतिरिक्त
धर्मान्तरमव । नचावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्,
नृपदन्निर्वेण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्घ्यतायामपि
लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चित् लावण्याभूतचन्द्रिकेयमिति
सहृदयानां व्यवहारात् ।

लावण्य और वाष्प तथा प्रतापमान दोनों के अदन्त मिले होने के कारण) उनके अमर के
भ्रम के अभाव को भी दिखाता है । इसकी व्याख्या निर्माण इत्यादि शब्दों से की गई है ।
अद्वय सत्यान के द्वारा अभिव्यक्त हानशला अवयव से भिन्न दूसरा धर्म ही वाष्प
(हाना है) । यह नहीं कहना चाहिये कि अवयवों की निर्दोषता ही वा भूषणमग ही
लावण्य (कहा जाता है) । क्योंकि एषक् रूप में दृश्यमान बाष्पण होश शयादि से शून्य
शरीरावयवोंवाली तथा अलङ्कारों से सजा हुई होने पर भी 'यह लावण्यमय है' ऐसा तथा
उस प्रकार की न होते हुए भी जिसमें 'यह लावण्याभूत चन्द्रिका है' ऐसा सहृदयों का
व्यवहार होता है ।

तारावली

जि प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की भाषा में सर्वत्र विद्यमान रहता है । महाकवियों की सदा
भी उन्हीं का मात होती है जिनकी परमात्मा की कृपा से ऐसी प्रतिमा मात हुई हो कि वे
अग्रिम प्रकरण में बताये हुये प्रतीयमान अर्थ से अनुपायित बाध्य रहना करने में निपुण
हो । 'विमर्शि' शब्द का अर्थ है 'जा इस प्रकार का होता है उसी की शोभा होती है ।
तर्था अस्तु वस्तु का मान उपपन्न हो गयी होता । भुक्ति में भी रजत का मान तभी होता
है जब कि एषक् सत्ता विद्यमान होती है । अविद्यमान बाष्पापुत्र अथवा आर्षाकुशुम का
मान होता ही नहीं । इसप्रकार सत्ता से मान होता है और मान से सत्ता सिद्ध होती है ।
इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो वस्तु गामिण होता है वह उसी प्रकार का है भी । इसकी
अनुमान प्रकिया इस प्रकार होगी—असिद्ध बाष्प (रण), स्वस्वविविक्त प्रतीयमान से युक्त
होता है (साध्य), क्योंकि उसका मान होता है (हेतु), जिस प्रकार लावण्य से युक्त
अङ्गनाओं के अङ्ग (उदाहरण) । असिद्ध शब्द का अर्थ है सभी को रण तथा अलङ्कार ।
एव और नृप इन दो सर्वनामों का समूह इष्टान्त (अङ्गनाओं का लावण्य) और दार्शनिक
(प्रतीयमान अर्थ) दोनों में एक ही यह प्रकट करता है कि इन दोनों का सार होता है
चमत्कार करना, दूसरे एकवा एषक् रूप में प्रकटन नहीं किया जा सकता है । (अर्थात् न
तो लावण्य को ही एषक् शब्द के रूप में दिखाया जा सकता है और न रसार्जन की हो
एवम सत्ता का निर्वचन किया जा सकता है ।) तीसरे अङ्ग और लावण्य तथा बाष्प और

ध्वन्यालोक

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारण शरीरस्यैवात्मा साररूपतया स्थित सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्य प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

(अनु०) जिस प्रकार शरीर में आत्मा की सत्ता होती है उसी प्रकार ललित और उचित सन्निवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होनेवाले काव्य में भी सहृदयश्लाघनीय वा अर्थ साररूप में स्थित होता है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो अर्थ हुआ करते हैं ।

छोचनम्

कारिकाभाष्यगत काव्यशब्द व्याकृतुमाह—काव्यस्य हीति । ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह । उचितशब्देन रसविषयमर्वाचित्य सचतीत दर्शयन् रसध्वनेर्वाचित्य सूचयति । तदभावे हि किमपेक्षयेदमर्वाचित्य नाम सर्व-श्रोद्धोष्यत इतिमाह । योऽर्थ इति यदानुबदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति तस्येत्यादिना । तदभ्युपगम एव दृशयत्येव सत्युपपद्यत इति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—‘चारुवहेतुत्वाद्गुणालङ्कार व्यतिरिक्तो न ध्वनिः’ इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वादेरुत्तरेति दर्शितम् । न ह्यात्मा चारुवहेतुर्दृश्येत्येति भवति । अथाप्येव स्यात्तथापि वाच्येनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कारं एवा-लङ्कार, गुणो एव गुण । एतदर्थमपि वाच्याशोपश्लेषः । अतएव वक्ष्यति—‘वाच्य प्रसिद्ध’ इति ॥ २ ॥

कारिका भाग में कहे हुये काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहत है—काव्यस्य हीति । ललित शब्द के द्वारा गुण और अलङ्कार का अनुग्रह बतलाया है । उचित शब्द से अर्वाचित्य रस विषय ही होता है यह दिखाने के लिये रस ध्वनि का उचित होना सूचित करते हैं । काव्य यह है कि उस (उचितमूल रस) के अभाव में जिस को लेकर यह अर्वाचित्य सत्त्व उद्भवित किया जाता है । ‘योऽर्थ’ में ‘यत्’ शब्द से अनुवाद करते हुये दूसरे छन्दों के द्वारा यह स्वीकार ही किया गया है यह दिखलाते हैं । ‘तस्य’ शब्द के द्वारा रस (प्रत्यक्षान) का मनना दो अर्थों के होने पर ही उत्पन्न होता है, यह दिखलाते हैं । इससे जो यह कहा जा—चारुव हेतु होने के कारण गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ध्वनि नहीं है’ ध्वनि के आत्मस्वरूप होने के कारण उसमें हेतु अतिरिक्त है यह दिखला दिया । आत्मा देश का चारुव हेतु होता है यह निरस्यदेह नहीं होता । यदि ऐसा हा भी तबानि काव्य में अनेकान्तिक हेतु का जाता है । अलङ्कार ही अलङ्कार नहीं होता । गुण ही गुण नहीं होता । इसके लिये भी वाच्यता का उद्देश (किया गया) । इसी लिये कहने—‘वाच्य प्रसिद्ध है ।’ शब्द ॥ २ ॥

शेषोक्तम्

यदूचे भट्टनायकेन—‘अक्षरं न रूपम्’ इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यारंभे यदि नामोपात्तम्, रसध्वनिस्तु तन्मैशान्ततयाहीकृत रसचरणाभिनस्तृतीयपर्या-
शस्याभिधामात्रनाशद्वयोर्त्तीर्णत्वेन निर्णयान् । सम्प्रत्यङ्कारध्वन्यो रसध्वनि-
पर्यन्तत्वंमेवेति यद्यत्र चक्षुरामस्तत्र तत्रेत्यास्ता तावन् । वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त
मितिमेदं प्रत्यापक सामान्यलक्षणम् । यद्यपि हि ध्वनेन शब्दस्यैव व्यापारः,
तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिण सर्वत्राप्याद्याद्याप्यसामर्थ्याक्षिप्तवम् । शब्द-
शक्तिमूलानुरणनस्य प्रत्ययेऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमाना गतिः, शब्दश्च न केवल-
मवान्तरमहकारिणीति वक्ष्याम ।

भट्ट नायक के द्वारा जो यह कहा गया कि ‘ध्वनि’ अक्षर होता है रूप नहीं’ यदि यह
उपात्तम् वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों के लिये ही है (तो कोई बात नहीं) क्योंकि रसध्वनि
को ता कहने ही आमा के रूप में अङ्गीकृत कर लिया, रसचरणात्मक तृतीय अक्षर का
अभिधा और भावना तथा दोनों अक्षरों से उत्तीर्ण (प्रत्यक्ष तथा परे) होने के रूप में निर्णय
किया गया है । वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियों को रसध्वनित्वपर्यन्तता को हम ही विभिन्न स्थानों
पर कहेंगे । वम, अधिक कहने को क्या आवश्यकता । ‘वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तव’ यह शब्दों
में ही में व्यापक सामान्य लक्षण है । यद्यपि ध्वनेन यह शब्द का ही व्यापार है तथापि
अर्थसामर्थ्य का सर्वत्र अपाव न होने के कारण (सहयोग होने के कारण) वाच्यसामर्थ्या
क्षिप्तव (माना जाता है) प्रत्यक्ष केवल अवान्तरसहकारिणी है यह हम कहेंगे ।

तारावर्ती

ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है और यही मुख्य होकर वाच्य की आमा का रूप
धारण करता है ।

भट्ट नायक ने जो यह कहा है कि ‘ध्वनि वाच्य का अक्षर होती है, उसका स्वस्व नहीं
होगा’ उसका अभिधाय वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि की अङ्गीकृतता का प्रतिपादन करने
से ही है । रसध्वनि का ता आमा के रूप में उन्होंने ही स्वीकार दिया है क्योंकि कहने
ही यह निगम कर लिया कि रसचरणात्मक तृतीय अक्षर उनके माने हुए अभिधा और
भावना नामक दो अक्षरों का अन्तिमण करके गित्त हुआ है और इस बात का हम भी निश्च
करेंगे कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, रसध्वनित्ववशात् ही होती हैं । वाच्यसामर्थ्य से
आगत होना दोनों भेदों में सामान्य से हो गूँ हुआ है । यद्यपि ध्वनित्ववशात् शब्द का
ही व्यापार है तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य का सदा सर्वत्र विद्यमान रहनी है, अपर
वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तव मन्त्र का जाता है । आगे चलकर बतलाया जाएगा कि रसध्वनित्वमूलक
सन्तुष्ट्यभिमन्त्र में भी अवधारक से ही प्रत्ययन का प्रतीति हुआ है । प्रत्यक्ष तो
केवल अवान्तर सहकारिणी ही जाती है ।

लोचनम्

तत्रेति । द्वयशब्दे सत्यपीत्यर्थः । प्रसिद्ध इति । वनितावदनोद्यानेन्दुद्यादि-
लौकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारैः न व्याहृतो बहुधे'ति सन्नति । अन्यै-
रिति कारिकायाग काव्येत्यादिना व्याचष्टे । 'तत्ता मेह प्रतन्यत' इति विशेषाभ्य-
नुज्जेति दर्शयति केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

नवेति । अर्थात् दो अश्लोक के होने पर भी । प्रसिद्ध इति । अर्थात् वनितावदन, उद्यान,
चन्द्रोदय इत्यादि लौकिक ही उदीयन । इसको सन्नति इस प्रकार होगी—'उपमा इत्यादि
प्रकारों में उनको बहुधा व्याख्या की गई है ।' 'अन्यै' इस कारिकायाग की 'काव्यलक्षण
विधाविधि' । इसके द्वारा व्याख्या की गई है । 'इसीलिये वहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है'
इस विशेष के प्रतिषेध के द्वारा शेष भाग को अनुमति दिखलाई जा रहा है—केवल इत्यादि
के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

नौसरा कारिका के 'तत्र' शब्द का अर्थ = 'यद्यपि सहृदयव्याख्य अर्थ के दो अंग हैं
तथापि वाच्यार्थ प्रसिद्ध है ।' 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—'वाच्यार्थ रमणीयप्रकमन, उद्यान,
चन्द्रोदय इत्यादि के रूप में लौकिक ही हुआ करता है ।' वहाँ पर सन्नति इस प्रकार बिठाई
जानी चाहिये—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसको बहुत प्रकार से व्याख्या कर दी गई है ।
उपमा ही सभी अन्यद्वारा में प्रधान है । इसी लिए किसी किसी आचार्य ने अलङ्कारों को
अपनायाज कहा है । अल्पवरीशत ने लिखा है—

उन्मैका दैर्घ्यी सम्प्राप्ता विनमूमिकावेदान् ।

रश्मति काव्यरगे नृवन्ती तदिदा चेत ॥

कारिका में 'अन्यै' यह शब्द आया था । उसका ही व्याख्या वृत्ति प्रत्ये में 'काव्यलक्षण
कार' शब्दों की गई है । 'अत्र उसका वहाँ पर प्रतनन नहीं किया जा रहा है' इस विशेष
प्रतिषेध में शेष की अनुमति व्यक्त होती है । इसीलिए कहा गया है कि आश्वकानुसार
केवल अनुवाद किया जा रहा है ।

'काव्यलक्षणा विद्वानां ने उपमा इत्यादि प्रकारों से वाच्यार्थ की अनेक प्रकार से
व्याख्या कर दी है ।' इस कथन से ही सिद्ध होता है कि वाच्यार्थ का वाच्य की आत्मा
माननेवाले आचार्य पूर्णतः संस्था में हो चुके थे । अतएव अर्थ का वाच्य की आत्मा
माननेवाला कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ था जिसने प्रतीयमान अर्थ को वाच्यत्वका का
प्रवचन प्रमाणित किया हो । वहाँ पर आवश्यकता इस बात को भी कि प्राचीन आचार्यों
के मत का पूरा परिचय देने के लिये अलङ्कार इत्यादि का निरवृत्त प्रतिपादन किया जाता और
उसी आधार पर चर्चा की व्याख्या की जाती । किन्तु धन्यकार का कहना है कि ऐसा
करना निरपेक्षमान होता । अतएव प्राचीन सिद्धान्त की ओर सन्तुष्ट भाव कर दिया गया है

छोचनम्

कस्याश्चित्सङ्केतस्यान जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसंस्तरणान्तरायदोषात्-
दवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छाद्यीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः । तत्र स्वतः
सिद्धमपि भ्रमणं श्रमयेनापोहितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधामावरूपः, न तु
नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः, अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ध्वं लोट् । तत्र भावतद्-
भावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावच्च युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापारामावात् ।
‘विशेष्य नामिषा गच्छेत्’ इत्यादिनामिषाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासम्भवा-
निधानात् ।

विप्ती (नायिका) के जीवितसर्वस्व के रूप में स्थित सङ्केतस्थान के धार्मिकसंस्तरण रूप
अन्तराय (विघ्न) के दोष से और उसके द्वारा हरे हुए पल्लव तथा कुसुम इत्यादि के
घोमारहित कर देने से रक्षण करने के लिए वह उक्ति है । उसमें स्वतः सिद्ध भी भ्रमण कुपे
के भय से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था इस प्रकार यह निषेध के अभावस्वरूप प्रतिप्रसवप्रसक्त
विधि है, भेजने (छगाने नियुक्त करने) इत्यादि के रूप में यहाँ पर विधि नहीं है । यहाँ पर
अतिमर्ग (इच्छानुवृत्त मर्गचि) तथा प्राप्तकाल में लोट् लकार हुई है । उनमें भाव तथा
उसके अभाव में परस्पर विरोध होने के कारण दोनों एक साथ वाच्य नहीं हो सकते । प्रमश
भी नहीं क्योंकि एक एक कर व्यापार नहीं होता । क्योंकि अमिषा विशेष्य को प्राप्त नहीं
होती (यदि वह विशेषण में अपनी छाँक छोड़ देती हो) इत्यादि के द्वारा अमिषा व्यापार का
कवर कार्य करता असम्भव बालाया गया है ।

तारावती

प्रियतम से गोदावरी के तट पर स्थित कुन्जों में मिला करती है । यहाँ पर कोई भक्त मनुष्य
भ्रमण करने के लिये आया करता है जिससे वह नायिका की प्रेमलोठा में भी विघ्न पड़ता
है और उसके द्वारा कल्पित विषे हुये पञ्चवास्तरय इत्यादि अल-वस्त्र हो जाते हैं । वह
धार्मिक भक्त गोदावरी तट पर निवास करनेवाले एक कुपे में प्रायः मगधीन रहा करता है ।
नायिका पाहती है कि यदि वह धार्मिक गोदावरी तट पर घूमने न आया करे तो उनकी
(नायिका की) प्रेमलोठा के निर्विघ्न समाप्त होने में सहायता मिलेगी । वह धार्मिक से कह
रही है—‘हे धार्मिक अब तुम त्रिजला होकर भ्रमण किया करो, गोदावरी तट पर स्थित कुन्ज
में रहनेवाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुपे को मार डाला ।’ यहाँ पर वाच्यार्थ तो यह
है कि अब तुम निमग्न होकर और निर्विघ्न होकर घूम सकते हो, अब तुम्हें कुपे का कोई भय
नहीं रहा । श्रुति मतीयमान अर्थ यह निहन्ता है कि ‘अपीतक तो यहाँ पर कुत्ता ही
रहता था अब यहाँ पर सिंह आ गया है । इसलिये कभी डूट करके भी यहाँ मत जाना ।
नहीं तो तुम्हें सिंह मार डालेगा । इस प्रकार वाच्यार्थ विधिवत् है और मतीयमान अर्थ
निर्णयक ।

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वाच्यादस्वस्ति वाणापु महाकवीनाम् । यत्तस्म
हृदयमुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽप्रकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाचयवेभ्यो व्यतिरिक्तैर्ह
प्रकाशत लावण्यमिवाद्भनासु । यथाद्भनासु लावण्यं पृथक् निर्वर्ण्यमाने
नितिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यद्व सहृदयलोचनमृतं तौरेन्द्रे
देव मोर्यं ।

(अनु०) वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान वस्तु कुछ और ही होती है जो कि महाकवियों
की भाषाओं में हुआ करती है । जो यह प्रतीयमान अथ सहृद्यों में अत्यन्त प्रसिद्ध है और
प्रसिद्ध अलङ्कारों में तथा प्रतीत होनेवाले अवयवों (शब्द और अर्थ) से उसी प्रकार भिन्न
है जिस प्रकार अगनाओं में लावण्य प्रसिद्ध अलङ्कारों (आभूषणों) और प्रतीत होनेवाले
अवयवों से सदा पृथक् हुआ करता है । जिस प्रकार अगनाओं में लावण्य समस्त अवयवों
से व्यतिरिक्त प्रतीतिगापर होकर सहृद्यों के नेत्रों के लिये अमृततुल्य कुछ दूसरा ही तत्त्व
ज्ञात जाता है । इसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है ।

लोचनम्

102252

एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिमामाजनत्वेनैव
महाकविर्व्यपदेशो भवतीतिमात्रं । यद्वविधमस्ति तद्भाति । नञ्वात्यन्तासतो
मानमुपपन्नम् । रत्नतापवि भायन्तमसद्भाति । अनन सवप्रयुक्त तद्भातिमिति
मानात्मरूपमवगम्यत । तत्र यद्भाति तदस्ति तथयुक्तं भवति । तनाय प्रयो
गार्थं—प्रसिद्ध वाच्य धर्मि, प्रतापमानेन व्यतिरिक्तेन तद्भात् । तथा भासमान
त्वान्, लावण्योपताद्भनाद्भवत् । प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वात् वाच्य ।
यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चकारसारताप्रकटाकरणार्थमन्यपदद्वयत्वमन्योन्य-

जो यह आगे चल कर कहा जायगा वह प्रतीयमान से अनुप्राणित काव्य के निर्माण
में निपुण प्रतिमा का भाजन होने से ही महाकवि की सदा प्राप्त होती है यह मात्र है ।
जो इस प्रकार का होता है वह प्राणित होता है । जो अत्यन्त असत् होता है उसका मान
प्रसिद्ध ही नहीं होता । रत्न इत्यादि जो अत्यन्त कमल वाचित नहीं होते । इससे सत्ता से
प्रसिद्ध ही मान होता है इसलिए मान से सत्ता अवगत होती है । इसमें यह कहा हुआ हो
जाता है कि जो प्रतीत होता है वह वस्तु प्रकार का होता (अवयव) है । इससे प्रयोग का
अर्थ (रूप) यह होगा—प्रसिद्ध वाच्य धर्मा (धर्म) अतिरिक्त प्रतीयमान के द्वारा उससे
युक्त होता है, (साध्य) क्योंकि वैसा प्रतीत होता है (हेतु) लावण्य से उपेत अद्भुता के
अद्भुत के समान (उदाहरण) प्रसिद्ध वाच्य का अर्थ है सब का प्रतीत होना या अलङ्कृत
होना (कारिका में) यत्तद् यह सर्वनाम समुदाय, इष्टान्त (लावण्य) और दाष्टान्तिक
(प्रतीयमान अर्थ) दोनों में चमत्कारसारता को प्रकट करने के लिये किसी सदा के द्वारा
अभिहित दिये जाने की अवश्यकता और एक दूसरे से मिलने के कारण (आहति तथा

लोचनम्

नैतन्, यथो द्युत व्यापारा संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्याभस्वमिधा व्यापार, समयापेक्षयावगमनशक्तिरभिधा । समयश्च तावत्येव, न विशेषानो, भानन्यादुद्यमिचाराच्चैकस्य । ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यं तन्नि परस्प-
रान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धे विशेषे गमयन्ति हि' इति न्यायान् । तत्र च द्वितीयकस्याथा 'भ्रम' इति विषयतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयत, अन्यथाप्रत्येक प्रतिपन्नत्वात् । नहि 'गङ्गायां घोषः' 'मिहो वदु' इत्यत्र यथावयव एव सुभूषन् प्रतिहन्तं, यावत्तावत्तद्वत्, तथा तव भ्रमणनिषेधात् स इवा सिद्धेन हतं तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद्भ्रमण तर्वाचितमिदमवयवस्य कश्चिन् इति । अत एव मुख्यार्थवाधा नात्र शङ्केति न विपरीतलक्षणया अवसरः ।

(उच्यते) यह बात नहीं है । निम्न-वद यह पर हीन व्यापार प्रतीतिगोचर बात है— सामान्य अनावच्छिन्न पदार्थों में अभिधा व्यापार, (क्योंकि) सदेव की अपेक्षा बहुत कुछ अवधारणमन की शक्ति का अभिधा कहत है । सकल उतने ही अन्त में जाता है विशेष अन्त में नहीं, क्योंकि हममें आनन्द्य दाव हाता और एव वा अभिचार दाव भी हाता । हमके बाद विशेषरूप वाक्यार्थ में परस्परांश्वित में तात्पर्य-रहित हाता है । क्योंकि यह न्याय है कि सामान्य अन्यथासिद्ध न होने के कारण विशेष वा अवगमन कराते हैं । उसमें द्वितीय कथा में 'भ्रमण' करा हम विधि के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं हाता । क्योंकि (द्वितीय कथा में) अन्यथाप्रत्येक प्रतिपत्ति होती है । 'गंगा में घर' 'मिहो वदु' इत्यादि निम्न प्रकार अन्यथा हात ही प्रतिहन्त कर दिया जाता है क्योंकि (शब्दों में अन्विता होने की) शोभना नहीं है वरन् प्रकार तुम्हारे भ्रमण का निषेध करने वाला यह कुछ सिद्ध के द्वारा मारा गया । हमलिये इस समय भ्रमण निषेध का कारण न होने से तुम्हारा भ्रमण कश्चित् है' इस अन्वय में कोई बात नहीं आती है । अन्यथा मुख्यार्थवाध की वही पर शङ्का नहीं कायी चाहिये । इस प्रकार वहाँ पर विपरीत लक्षणया का अवसर नहीं है ।

शारावर्त्ता

ही नहीं करता १—'धार्मिक' का अर्थ है 'तुम एवं महात्मा व्यक्ति हो, तुममें ऐसी शक्ति अथ ही वहाँ से कि तुम शर का सामना कर सको । २—उस 'उद्धतसिद्ध ने' में 'उम' सवनाम का अर्थ है कि मिह के होने में काह सन्देह नहीं है, उमका हाता सर्वत्र सत्सिद्ध है और श्रुति परम्परा में तुमने भी अवश्य सुना ही होगा । ३—उद्धत का अर्थ है वह मिह जमा बैसा नहीं है, वह बड़ा ही अवलोक है । इस प्रकार इन शब्दों के प्रयोग से भ्रमण विधान में विरोध दर्शित होता है । इस प्रकार अभिधाजन्यवाद में विपरीतलक्षणया से वाक्य का अर्थ ही निवृत्त-रहित हो जाता है । अतएव निवृत्तरहित अर्थ शब्दशक्ति के द्वारा ही निवृत्तता है । हमलिये व्यवहार में वही कहा जाता है कि उसने ऐसा कहा । यह कोई नहीं करता कि उसने ऐसा अनिष्ट किया । अतएव यह अर्थ वाक्य ही है वसुधै मित्र भवति ।

ध्वन्यालोक

स ह्यर्थो वाच्यमामध्याक्षिप्त वस्तुमात्रमलङ्कारस्तादयद्वयनेकप्रभेद
प्रमिता दशयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्रम् ।

(अनु०) यह आगे चलकर लिखना चाहेंगे कि वह प्रत्यमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य
से आपत्ति होकर वस्तुमात्र अलङ्कार मात्र रहस्य इत्यनेक भानों में विभक्त होना है ।
इन समस्त भानों में प्रतीयमान अर्थ से सबसे अधिक भिन्न रूप बनना है

लोचनम्

ननु तावप्य तावद् व्यतिरेक प्रथितम् । प्रतीयमान किं तदित्यत्र न नानाम् ,
दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति । तथामात्रमानवमपिदो हेतुरित्याशङ्क्य न ह्यर्थ इत्या
दिना स्वरूप तस्यामिष्यते । सर्वेषु च वादिना च व्यतिरेकप्रथा साधयिष्यति ।
तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिक काव्यव्यापारिकगोचरश्चेति ।
लौकिका यन्मन्त्रवाच्यतां कदाचिदधिसत् । स च विधिनियमाद्यनकप्रकारो
वस्तुशब्दनाच्यत । सोऽपि द्विविध—य पूर्व क्वापि वाक्यार्थोऽलङ्कारमात्र
मुपमादिरूपतामन्यभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्वय गुणीभावान् । स
पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारव्यतिरिति व्यपदिश्यते व्याख्यानभ्रमणन्यायेन । तद्
रूपतामात्रेण स्पर्शक्षित वस्तुमात्रमुच्यत । मात्रग्रहणन हि रूपान्तर निराकृतम् ।

यही पर तावप्य सो व्यतिरेक (तत्त्व के रूप में) प्रसिद्ध है वह प्रतीयमान क्या वस्तु
है यही हम नहीं जानते व्यतिरेक की प्रसिद्धि तो दूर की बात रही उस प्रकार से प्राप्तमान
होना यह बहुत प्रसिद्ध है वह गढ़ा करके 'तत्त्व' इत्यादि शब्दों के द्वारा उसका
स्वरूप बताते हैं । 'सर्वेषु च' इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यतिरेक प्रसिद्ध को सिद्ध
करेंगे । उनमें प्रतीयमान के ता दो भेद हैं—लौकिक तथा वेदिक काव्यत्रिधा में गोचर
होनेवाला । जो लौकिक (कार्य) कभी स्ववाच्यता में भी विभक्त होता है वह विधि नियम
इत्यादि अनेक प्रकार का वस्तु शब्दों के द्वारा कहा जाता है । वह भी दो प्रकार का होता
है—जिसने पहले कभी वाक्य के अर्थ में उपमा इत्यादि रूप अनलङ्कार-मात्र का अनुभव किया
था (किन्तु) इस समय अलङ्कार से भिन्न रूपवान्ता ही है क्योंकि वह दूसरे के प्रति गौरव
नहीं है, वह पहले की पहिचान के बाद पर अलङ्कार ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है जैसे
बोद्धव्य सत्यासी । उस रूप (अलङ्कार-रूप) के अभाव के द्वारा उपमन्वित (ध्वन्य)
वस्तुमात्र कहलाता है । (वस्तुमात्र में) मात्र ग्रहण से दूसरे रूप के होने का निराकरण

तारावर्ती

प्रतीयमान के अर्थ का अर्थ भी दत्त 'गच्छ' से दूर हो जाता है । इसी दत्त 'गच्छ' की
व्याख्या बालाक में 'विमर्ष' शब्द से की गई है । अवयव सत्यास से अभिव्यक्त होनेवाला
अवयवों से भिन्न एक दूसरा ही धर्म तावप्य कहा जाता है ।

लोचनम्

भवतु यासी । तथापि द्वितीय स्थानसम्बन्धात् तावदसौ न भवति । तथाहि—
मुद्रयार्थवाचाया रक्षणाया प्रकृत्यै । वाचा च विरोधप्रतीतिरिव । नचाय
पदार्थानां स्वार्थानि विरोध । परस्पर विरोध इति च न—सोऽयं तद्वचये
विरोध प्रत्ययः । न चाप्रतिपन्नान्वय विराघप्रतीति प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य
नाभिधाशब्दा, तस्या पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षणाया विरामाभापारान् इति
तात्पर्यं शक्यैवावयवप्रतिपत्तिः ।

अथवा यह हा मी । तथापि द्वितीय स्थान में यह संकल्प नहीं हो सकता । यह इस
प्रकार—मुख्य वचन में लक्षणा की व्याख्या की जाती है । विरोध की प्रतीति का जाना ही
शक्य है । वचनों का अपनी भाषा में विरोध नहीं होता । यदि कहें कि एक दूसरे से विरोध
होता है—तो यह विरोध अन्वय में ही समझा जाना चाहिये । अतः अन्वय प्रतिपन्न न
हो जाने पर एक विरोध की प्रतीति हो गयी नहीं सकती । अन्वय की प्रतीति अभिधागतिक
से नहीं हो सकती क्योंकि वचनप्रतीति में उपलब्ध उस (अभिधा) का स्वकार व्यापार
(द्वारा कार्य) नहीं हो सकता । इस प्रकार तात्पर्यागिक से ही अन्वय की प्रतिपत्ति
(होती है) ।

तारावती

अर्थ है 'गाय' और 'छाओ' का अर्थ है आनन्दानुभूत व्यापार की विधि । गाय में आनन्दाना
नुभूतव्यापारनिर्गमकमत्वा द्विती शब्द का अर्थ नहीं । अतएव उसी को बुझाया कहते
हैं और उसकी प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है । वह तात्पर्य वचनार्थक रूप प्रत्यायन वाक्य
का अर्थ ही होता है । वह भी गया है— अब विचार अर्थ दूसरा प्रकार से मिश्र नहीं होता
तब सामान्य अर्थ ही विचार में कारण हो जाता है । इस प्रकार अमिहितान्वयवर्तियों के मत
में अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ वाक्यार्थ में कारण होती हैं । वाक्यार्थ के पदवर्तित हो
जाने पर एक हीसरी वृत्ति और मानी जाती है और वह है लक्षणा । वाक्यवचन के
बाद अब तात्पर्यानुवर्तित के कारण वाक्यार्थ का रूप हो जाता है तब वचन से सम्बन्ध
रखनेवाला दूसरा अर्थ से ठिका जाता है । इस तात्पर्य कीटि को लक्षणा कहते हैं ।

अनुक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अमिहितान्वयवर्तियों में तीन काटियाँ
होती हैं—अभिधा तात्पर्य और लक्षणा । अभिधा से वचनार्थक होता है तात्पर्यवृत्ति से
अन्वयक वाक्यार्थक होता है । वचन से अभिधा द्वारा वचनार्थक हो तो सर्वत्र होती है
किन्तु तात्पर्यवृत्ति का वही पर अवसर होता है वही वाक्यार्थक के अर्थवाक्य व्यापार
कारण उपस्थित हो कुछ ऐसे ही वाक्य होते हैं वही वचनार्थक हो जाता है किन्तु ऐसे
ही तात्पर्यवृत्ति से अन्वयार्थ वाक्य होते लक्षणा है जैसे ही वाक्यार्थक के कारणों के समार
में वह वृत्ति वही पर समार हो जाती है और वचन लक्षणा के कारण उपस्थित हो तो लक्षणा
का समार हो जाता है । अतएव के लिये गता में वर 'वाक्य सिद्ध इत्यादि वाक्यों में

ध्वन्यालोकः

तथा ह्यापस्तात्रयभेदो वाच्याददूरं विभेदवान् । स हि कदाचिदाच्ये विधिरूपं प्रतिपेधरूपः । यथा—

मम धम्मिअ वीम्मथो स सुणओ अज्ज मरिओ देण ।

गोलाणइक्खुदइवासिणा दरिअसीहेण ॥

(अनु०) वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद को समझने के लिये सर्वप्रथम पहले भेद (वस्तुध्वनि) को लीजिये । इस भेद में तो व्यङ्ग्यार्थ वाच्य में बहुत ही भिन्न होता है यदि वाच्यवस्तु विपरक हा तो व्यङ्ग्यवस्तु निषेधपरक हो सकती है । जैसे —

‘हे धार्मिक ! अब तुम विश्रुत होकर भ्रमण किया करो । गोदावरी तट पर स्थित कुत्र में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला ।’

लोचनम्

दूरं विभेदवानिति । विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः । एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

अम धार्मिक विधिरूप स. सुणओऽथ मारितस्तेन ।

गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दुस्सिहेन ॥

हृद विभेदवानिति । ‘विधि और निषेध विरुद्ध होते हैं’ इस विषय में किसी की असहमति नहीं है । इस अर्थ का पहले ही उदाहरण दे रहे हैं —अम धार्मिक इति ।

सारायती

(‘मनीषमान पुनरन्यदेव’ इस कारिका का उद्धरण देकर आचार्य कुन्तक ने लिखा है—‘इम इष्टान्ते से वाच्य वाचक रूप प्रतिस्ठावकान्वयनिरिच्छव के द्वारा मनीषमान अर्थ को सच्चा ही सिद्ध की जा सकती है । छटनाओं का लाक्षण्य सकलछोचनलोचनसवेध होता है किन्तु मनीषमान अर्थ सहृदय सवेध ही होता है । अतः दोनों की तुलना कैसी ? केवल वन्धमौन्दर्य ही लाक्षण्यमानीय हा सकता है क्योंकि वही अवयवमात्र से ॥ अच्युत्पन्न छोगों को भी भानन्द देता है । मनीषमान की तुलना तो नायिकाओं के वम सौभाग्य से ही की जा सकता है जो कि केवल वयमोगरायण नयनों के लिए ही सवेध हाता है ।’ इस विषय में वही कहा जा सकता है कि छटना लाक्षण्य का आस्तादन सत्रैकनमवेध होता है वही एक विविध सा बात है । क्या लाक्षण्यजन्य आह्लाद के लिए विसा योग्यता की अपेक्षा नहीं होती ? जैसे रसमन्त्रना को ध्वनिमिदालत का प्रापभूत मानकर और वन्धच्छायाजन्य आह्लाद को रसध्वनि में सन्निविष्ट कर ध्वनिवादिता न इसका स्वय उत्तर दे दिया है ।)

पहले वस्तुध्वनि को लीजिये । इसमें मनीषमान अर्थ वाच्यार्थ से बहुत भिन्न हाता है । इसमें तो किसी को अनुपपत्ति हो हो नहीं सकती कि विधि और निषेध एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं । अतएव पहले इसी का उदाहरण दिया जाता है कि वाच्यार्थ विपरक होता है और मनीषमान निषेधपरक । हाँ की एक माइत गाया को लीजिये—‘देई नायिका अपने

लोचनम्

नन्वेव 'सिंहो बटु' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्, ध्वननलक्षणस्यास्य नोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतयाभावात् । ननु घटेऽपि जीवस्यवहारः स्यात्,

(५० प०) इस प्रकार तो निरसन्देह 'सिंह ब्रह्मचारी' में भी वाक्यरूपता का आवेगी । क्योंकि वही शोध हो वही जानेवाली ध्वननरूप आत्मा की सत्ता का वहीं पर विद्यमान है ही । (४० प०) निरसन्देह घड़े में भा मोव का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि व्यापक होने

सारावली

नहीं लगनी क्योंकि अधिधातुति वदार्थोपस्थान में ही प्रतीय हो जाती है और उसकी प्रिया एक एक कर हो ही नहीं सकती । अतएव तात्पर्यवृत्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति माननी होगी । आशय यह है कि कदाचार्यल में भी 'बाणक सिंह है' इत्यादि वाक्यों में आशङ्कता तात्पर्य से ही सिंह और बाणक के मुख्यार्थ का अन्वय हो सकता है, जिसका स्वरूप है सिंह और बाणक के तादात्म्य की प्रतीति । इस अन्वय के प्रतिपन्न हो जाने पर ही विराज की प्रतीति होती है ।

(प्रश्न) बाधित स्थान में भी अन्वय प्रतीकार करने पर 'अवृत्ति के अग्रभाग में तो शिव कवि विद्यमान है' इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतीति माननी प्रवेगी । (उत्तर) जब साक्षात्ता और वदार्थोपस्थिति विद्यमान है तब अन्वय के प्रतीत न होने का क्या कारण है ? निराकांक्ष पदों में अन्वय की प्रतीति नहीं होती, जैसे महाभाष्य के निम्नलिखित उदाहरण में अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता —

'वग दारुमानि, वदपूग, कुम्भम्, अम्राश्विनम्, पल्लविष्ट, अपरोक्षम्, शत्रु मायां, स्वीकृत्यतम्य विना प्रतिपन्न इति ।'

जिस प्रकार महाभाष्य के इस उदाहरण में निराकांक्ष पदों का समूहन मात्र होने से अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता वैसा वत्सकुलन प्रस्तुत स्थान पर नहीं है । अतएव अन्वय तो प्रतिपन्न ही जावेगा । किन्तु उस अन्वय के प्रतिपन्न होने पर भी प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से समझा उसी प्रकार बाध हो जाता है जिसप्रकार शुक्ति में रजतदान का बाध हुआ करता है । अतएव समझा अन्वय करनेवाला वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है । (प्रश्न) यदि ऐसा है तो फिर 'बाणक सिंह है' यह वाक्य भी अप्रामाणिक हो जावेगा ? (उत्तर) 'बाणक सिंह है' इस वाक्य में पहले वत्सार्थोपस्थिति होती है फिर निर्वचन वत्ता में तात्पर्यवृत्ति से अन्वय का बाध हो जाता है, फिर अन्वय की बाधना सामने आती है । इसके बाद उस बाधवत्ता को ध्वय करने में समर्थ वत्तना नाम की एक तीसरी वृत्ति स्फुरित होने लगती है जो उस वाक्य की अप्रामाणिकता का निराकरण कर देती है ।

(प्रश्न) प्रधानवर्गी वत्ता में प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिए ध्वन्यवत्ता वृत्ति तो अत्यन्त ही है । 'बाणक सिंह है' इस वाक्य में भी बाणक के दौर्बोधिक रूप प्रयोजन की

छोचनम्

अनु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दसधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूप-
मुल्यायंवाधवलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थभूतनिषेध-
प्रतीतिममिहितान्वयवशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः । एवमनेनोक्त-
मिति हि व्यवहारः । तत्र वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति ।

(प्रश्न) यहाँ पर तात्पर्यशक्ति विवक्षा के रूप में (कथन की इच्छा के रूप में)
पर्यवसित नहीं हुई है (वक्तृ को कुछ कहना चाहता है उस अर्थ की पूर्ति नहीं हुई है)
विवक्षा से इस, धार्मिक, तथा 'उत्' इत्यादि पदों के अर्थों का अन्वय न लग सकना रूप
मुल्यायंवाध के बल से विरोध निमित्तक विपरीत लक्षणा के बल पर वाक्यार्थता को प्राप्त
निषेध प्रतीति को अमिहितान्वयवाद की दृष्टि से (उपर) नष्ट देता है, इस प्रकार वह अर्थ
शब्दशक्तिमूलक है । इस प्रकार 'इसने कहा' यह निम्न-देह व्यवहार होता है, अतः वाच्य
से भिन्न अन्य अर्थ नहीं होता ।

सारावली

'भ्रम' इन क्रिया में छोड़ छवार का प्रयोग किया गया है । 'छोड़' विधि इत्यादि कई
अर्थों में प्रयुक्त होता है जिनका समाहार इन तीन अर्थों में किया जा सकता है—(१) प्रवर्तना-
विधि व्यक्ति का दूसरे की किसी कार्य में प्रवृत्त करना (२) अतिसर्ग—यदि कोई व्यक्ति किसी
कार्य में पहले से ही प्रवृत्त हो और उसे उस प्रवृत्ति से अलग करने का नहीं से कोई कारण
उपरिष्ठ हो गया हो तो उसको पुनः उस कार्य में प्रवृत्त होने को प्रेरणा देना । (३)
मातृकाळ । यहाँ पर भ्रमण तो पहले हो रहा है । अतएव 'प्रेषण' इत्यादि के समान
प्रथम अर्थ में यह विधि नहीं हो सकती । कुत्ते के भय से भ्रमण में व्यापार उपरिष्ठ होने
वाला या उसी का प्रतिप्रसव यह विधान है । अतएव यहाँ पर अतिसर्ग और मातृकाळ इन
दो अर्थों में विधि है । आशय यह है कि यहाँ पर प्रवर्तनारूप अर्थात् विधान नहीं किया जा
रहा है अतएव निषेध के अभाव द्वारा प्रवृत्त करते हुए कामचार (स्वेच्छाविवरण) की
अनुमति दी जा रही है ।

यहाँ पर यह विचार करना है कि ये दो अर्थ निकलते किस प्रकार हैं ? दोनों अर्थ
एक साथ निकल नहीं सकते क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है । विधि के बाद निषेधरूप
अर्थ अभिवाचन के द्वारा नहीं निकल सकता क्योंकि नियम है कि अभिवाचन की मिया रुककर
नहीं होती । कहा भी गया है कि 'जब अभिवाचन की शक्ति विशेषण में शोण हो जाती है तब
वह विशेषण का प्रत्याख्यान नहीं करा सकता' । इस बचन से सिद्ध होगा है कि अभिवाचन का
प्रकार रुक-रुक कर होना असंभव है ।

यहाँ पर यह बात बही जा सकती है कि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान भ्रमणविधि में नहीं
होगा । यहाँ पर शब्द कुछ ऐसे रूप में प्रयुक्त किये गये हैं कि उनसे भ्रमण का विधान हो

धारावती

सत्ता और वाक्य के अभाव में आमा की असारता सिद्ध हो जावेगी। जिस प्रकार वट में व्यापक आमा के होते हुए भी चेतनाशून्यता के कारण आमा की असारता नहीं मानी जाती वही प्रकार उक्त स्थल पर भी ध्वननव्यापार के होते हुए भी वाक्य के अभाव के कारण आमा की असारता नहीं मानी जा सकती।

अब विचार करना है कि तृतीय कौटि लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का सन्तरे में उत्तर यही है कि शक्ति या शृणुष्यापार तृतीय कक्ष्या में सन्निविष्ट हो जाता है और ध्वननव्यापार चतुर्था कक्ष्या में होता है। अतएव ध्वननव्यापार और शृणुष्या एक ही नहीं हो सकते। हमको इस प्रकार समझिये—सभी लक्षणावाणी इस बात की स्वीकार करते हैं कि लक्षणा में तीन बातें मुख्य रूप से होनी चाहिये—(१) मुख्यायवाच (२) मुख्यायसम्बन्ध और (३) कृत्रिमविवरणवत्तर। उदाहरण के लिए वेद कह कि 'मैं गंगा में घोड़ों को डालकर रहूँगा'। वहाँ पर शब्द 'गङ्गा' का अर्थ है प्रवाह। प्रवाह में झोपड़ी बाँधी ही नहीं जा सकती अब मुख्यायवाच हो जाता है। मुख्याय से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ वट से लिया जाता है और पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं गंगा के तट पर झोपड़ी बाँधकर रहूँगा।' गङ्गाया 'गङ्गा' के स्थान पर गंगा 'गङ्गा' के प्रयोग करने से गङ्गाया गीतान्वय वाक्यत्व और सेवतीत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार हम पूरे वाक्य का अर्थ होगा—'मैं गंगा के तट पर झोपड़ी बाँधकर रहूँगा' जो शब्द हो गीतत्व का ही विविध और आने गुणों के कारण सत्त्वा सेवन के योग्य है तथा अही सत्ता के अन्तर्गत विद्यमान नहीं है। वहाँ पर गीतान्वय वाक्यत्व की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है क्योंकि वह अर्थ गङ्गाया 'गङ्गा' से नहीं निकल सकता।

अब वहाँ पर देखना यह है कि ये तीनों बातें पूरी किस प्रकार होती हैं तथा इनमें क्या क्या अभाव हैं? लक्षणा की पहली बात है मुख्यायवाच यह तो अत्यन्त स्पष्टि प्रमाणा पर ही आधारित होता है। उदाहरण के लिए गंगा के प्रवाह में झोपड़ी बनसकना अत्यन्त बाधित है। दूसरी बात है गङ्गायसम्बन्ध। ये सम्बन्ध सामान्य सादृश्य इत्यादि कई प्रकार के हो सकते हैं। ये सामान्य इत्यादि सम्बन्ध भी अत्यन्त किमी दूसरे प्रमाण से ही सिद्ध हो सकते हैं।

अधोक्तवती लक्षणा की तीसरी बात है प्रयोजन की प्रसिद्धि। उदाहरण के लिए गंगा में झोपड़ी इस वाक्य में झोपड़ी की अत्यन्त विविधता अत्यन्त गीतत्व तथा अत्यन्त अन्तर्भाव तथा 'बाँधकर रहूँगा' इस वाक्य में वाक्य के अन्तर्भाव का आधार इस प्रयोजन की प्रतीति होती है। अब यह नहीं कह सकते कि इन प्रयोजनों की प्रतीति गङ्गा 'गङ्गा' पर आधारित नहीं है। क्योंकि इन प्रयोजनों की प्रतीति में वही 'गङ्गा'वाचक अर्थ

तारावती

—अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता—

उक्त मंत्र की आलोचना करने के पहले तात्पर्य वृत्ति के विषय में संप्रति परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस विषय में दो मत हैं। एक है कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का जिसको अभिहितान्वयवाद कहते हैं और दूसरा है प्रयागराज और उनके अनुयायियों का, जिसको अत्रिप्रामाण्यवाद कहते हैं। मट्ट सम्प्रदाय का सिद्धान्त इस प्रकार है —

वाक्यार्थज्ञान तथा वाक्यार्थवृत्ति में तीन हेतु होते हैं—१ आकांक्षा—वाक्यार्थज्ञान के लिए दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता। इस आकांक्षा के बिना दो शब्द व्यवहार नहीं बना सकते। जैसे गाव घोड़ा आदमी हाथी इत्यादि शब्द एक वाक्य नहीं बन सकते क्योंकि इन शब्दों में परस्पर आकांक्षा नहीं है। २ वाक्यशक्ति—शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध में बाध का न होना, जैसे 'आग से सोवडा है' इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें मिश्रण की योग्यता नहीं है। ३ सन्निधि (निरुपपत्ति) — इसके अन्तर्गत दो शब्दों में आपस में सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक पहर के व्यवहार से बड़े हुए दो शब्दों में आपस में व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि उनमें आपस में सन्निधि नहीं है।

इन तीनों हेतुओं के द्वारा जब कतिपय शब्द परस्पर अलग होकर एक विशिष्ट अर्थ की सम्पन्न निष्ठा करते हैं तब हम शब्दसमूह को वाक्य कहते हैं। उस वाक्य में दो प्रकार का अर्थ होता है—एक पदार्थ दूसरा वाक्यार्थ। पदार्थ की प्रतीति अभिव्यक्ति के द्वारा होती है और वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति के द्वारा। इसको इस प्रकार समझिये—अभिधा सामान्य रूप से सङ्केत ग्रहण के अर्थात् शब्दों के अर्थ का बोध कराती है। समस्त वाक्यों का सङ्केतग्रहण हा हा नहीं सकता। क्योंकि वाक्य अनन्त होते हैं, यदि वाक्य में शक्ति मानी जायगी तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अभिव्यक्ति से वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि उसमें आनन्त्य दाह होगा। यदि एक वाक्य में संकेतग्रहण में शक्ति मानी जाये और दूसरे वाक्यों में जाये हुये उन शब्दों का बोध उस आधार पर स्वीकार करें तो यह नियम जाना रहेगा कि जिसमें संकेत ग्रहण के कारण शक्तिग्रह होगा वह उसी का बोध भी हुआ करता है। यह अभिधार दाह होगा। उदाहरण के लिये 'गाव छात्रा' और 'गाव से जाओ' इन दोनों वाक्यों में धृक् प्रथम स्वीकार करने पर अनन्त्य दोष होगा। यदि केवल प्रथम वाक्यों में सङ्केत स्वीकार करें तो यह नियम जाना रहेगा कि जिसमें सङ्केतग्रहण होता है उसी के अर्थ का बोध हुआ करता है। यह अभिधार (नियमाभिरूप) है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि अभिव्यक्ति से केवल पदार्थबोध होता है। वाक्यार्थबोध अभिव्यक्ति के द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्य नामक वृत्ति माननी पड़ेगी। जैसे 'गाव छात्रा' इस वाक्य में 'गाव' का

छोषनम्

इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति । न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगान्, नियमाप्रतिपत्तेर्वन्तुः तद्वि-
दक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति सावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः ।
व्यापारश्च नामिधामा समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव
परिक्षयाद् । न लक्षणात्मा उभादेव हेतोः स्तल्लिख्यतिस्त्वाभावात् । तथापि हि
स्तल्लिख्यतिस्त्वे पुनर्मुक्त्यर्थवाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात् । अत एव
यत् केनचित् लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमाश्रयम् । तस्मादभिधातात्पर्य-
लक्षणाभ्यतिरिक्तानुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यापनावगमनादि-
सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः । यद्वद्व्यति—

योग्य हो जाता है उसके भी व्याप्तिग्रहण-काल में कोई दूसरा मौलिक प्रमाण कहना चाहिये,
यह है नहीं । यह स्मृति भी नहीं है । क्योंकि जिसका अनुभव नहीं बिना उसमें यह हो
ही नहीं सकती तथा किसी नियम के प्रतिपत्ति न होने के कारण वक्त की विवक्षा इसी अर्थ
में है इस अध्यवसाय (नियम) का अभाव भी प्रसक्त हो जावेगा । अतः वही पर शब्द का
ही व्यापार (मानना पड़ेगा) । अभिधानात्मक व्यापार ही नहीं सकता, क्योंकि अन्वयप्रतीति
में ही उसका परिणाम हो जाता है । लक्षणआत्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वक्त हेतुओं से
ही शब्द के स्तल्लिख्यति न होने के कारण अर्थात् वाच न होने के कारण । उसके भी
स्तल्लिख्यति मानने पर फिर मुख्यार्थवाच निमित्त तथा प्रयोजन इस प्रकार अवस्था हो
जावेगी । अतएव जो किसी ने लक्षितलक्षणा यह नामकरण किया था वह व्यसनमात्र है ।
अतएव अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से व्यतिरिक्त यह चौथा व्यापार समझा जाना चाहिये
और ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यापन, अवगमन इत्यादि सहोदरी (पर्यायवाचक शब्दों) के
नाम के द्वारा निरूपित किया गया है । जैसा कि कहेंगे :—

तारापथो

को प्रतिपत्ति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती । अब स्मृति को छोड़िये—स्मृति कभी की
होती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका है । वही पर कोई निशामक कभी नहीं
है कि शब्दप्रयोग से उसके धर्म की स्मृति हो जाती है । दूसरी बात यह है कि धर्म तो
बहुत से होते हैं उनमें यह कैसे निश्चय किया जावेगा कि अमुक स्थल पर अमुक धर्म का ही
स्मरण होगा ? इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति न हो अनुमानलभ्य हो सकती है और न
स्मृतिभ्यः । अब मानना ही पड़ेगा कि शब्द का ही कोई व्यापार वही पर कारण होता है
जिससे प्रयोजनप्रतिपत्ति हो जाती है ।

शब्द के अन्ते केवल तीन ही व्यापार माने गये हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा ।
अभिधापक्ष से प्रयोजन की प्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधा वही पर होती है

लोचनम्

मन्वेवम् 'अनुत्पन्ने कविवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात् । किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रयश्चादिना बाधित प्रतिपक्षोऽपि शुक्तिकायां रञ्जतमिवेति तद्वगमकारिणो वाक्यस्याशामान्यम् । 'मिहो माणवक' इत्यत्र द्वितीयकस्यानिविष्टतात्पर्यशक्ति-ममयितान्वयबाधकोत्तामानन्तरमभिधातान्वयशक्तिद्वयव्यतिरिक्ततावत् तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा क्लृप्तानामिधाना समुत्पद्यति ।

(पूर्वश्रु) निम्नन्देह इमं प्रकारं तो 'अनुत्पन्ने के अग्रभाग में १०० अंश बरि है' वहाँ पर भी अन्वयप्रतीति हो जावेगी । (उ० प०) क्या अन्वय प्रतीति नहीं होती ? किस प्रकार दशदाडिमादि वाक्य इत्यादि (अनन्वित) वाक्य में नहीं हुआ करता है । किन्तु प्रतीतिरत्र हुआ भी वह अन्वय 'शुक्ति में रञ्जत' के समान दूसरे अन्वय इत्यादि अन्वयों से बाधित हो जाता है अतः उसके अवगमन करानेवाले वाक्य की प्रामाणिकता जाती रहती है । 'मिहो माणवक' में द्वितीय कक्ष्या में निविष्ट तात्पर्यशक्ति के द्वारा समर्थित अन्वय के बाध के उन्मूलित होनेपर (प्रतीति गौचर होनेपर) बाद में अभिधा तथा तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से व्यतिरिक्त उत्पन्न नाम की वृत्तावधि होती, जो कि वाक्य को व्यर्थ बनाने में निरुप है, समुत्पद्यित हो जाती है ।

वारावती

'गङ्गा' 'पर' 'बाणक' 'सिंह' इन सभी शब्दों का अर्थ वरियत होता है । किन्तु जब तात्पर्य-वृत्ति से उन्हें मिलाने लगते हैं तब तत्काल हाज हो जाता है कि इनमें वरियता का अभाव है । ऐसे स्थानों पर अन्वय होते होते प्रतिष्ठित हो जाता है । किन्तु वह बात 'तुम्हारे अन्वय में सिद्ध होनेवाले कुछे की शेर ने मार डाला' अतएव अन्वय निषेधक कारण के अभाव में तुम्हारा अन्वय वरियत है !' इस वाक्य में नहीं होती । वहाँ पर शब्दों में मिलाने की वरियता का अभाव नहीं है । अतएव वहाँ पर न तो तुल्यार्थबाध होता है और न विरोधोत्पत्त्या की बाणक की जा सकती है ।

अपरा किसी न किसी प्रकार बाध स्वीकार भी कर लिया न वे व्यर्थ निषेधक अर्थ द्वितीय कोटि (तात्पर्यवृत्ति) अन्य नहीं हो सकता । इसको इस प्रकार समझिये—उत्पत्त्या की कल्पना वही पर की जा सकती है वही तुल्यार्थबाध हो । बाध वही पर होता है वही विरोध की प्रतीति है । वह प्रतीति दो प्रकार की हो सकती है—शब्दों की अन्तरापना का विरोध तथा अन्वय का विरोध । प्रस्तुत वाक्य 'कुत्ता सिंह द्वारा मारा गया तुन स्वच्छन्द अन्वय करो' में शब्दों का अन्तरापना विरुद्ध नहीं है, इसने तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता । अतएव अन्वय में ही विरोध मानना पड़ेगा । अन्वय में विरोध की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक अन्वय प्रतीतिरत्र न हो जावे । अन्वय की प्रतीतिरति अभिप्राय से ही ही

लोचनम्

मुख्या वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यर्थदर्शनम् ।

यदुद्दिश्य एव तत्र शब्दो नैव स्वलद्गति ॥ इति ॥

तेन समयापक्षा व्याख्यावगमनशक्तिरभिधानाति । तदन्यधानुपपत्ति
सहायाभावबोधनशक्तिस्तापयंशक्ति । मुख्यावभावादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिमा
सनशक्तिरक्षणशक्ति । तच्छब्दत्रयोपननितायावगममूलजनितव्यप्रतिमासपदि
मितप्रतिपक्षप्रतिमामहायार्थबोद्धनशक्तिध्वननन्यापार स च प्रागृष्ट व्यापारत्रय
म्यववृत्तं प्रधानभूत व्यापारभूत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि
निषेधविषय इत्युक्तम् । अन्युपगममात्रेण चेत्तदुक्तम् । न त्वत्र लक्षणा,
अत्यन्ततिरस्कारान्यनात्मणयोरभावान् । मध्यशक्तिमूलस्या व्यापार ।
सहकारिभूता शक्तिभेद एव एव यथा तस्यैव शब्दस्व व्याप्तिरभूत्यादि
सहकृतस्य विवक्षावगतादनुभाषकारव्यापार । एवमभिहितपक्षवादिनामि
दमनपक्षवनायम् ।

जित कल के उद्देश्य से मुख्यवृत्ति का परित्याग कर गुणवृत्ति से अवदर्शन किया जाता
है उसमें गान् की गति स्पष्टि नही होती ।

इससे सहज की अपेक्षा करते हुए वाक्य के अवगमन की शक्ति का अभिधानाति बढ़ते
हैं । मुख्यावभावाति सहकारियों की अपेक्षा करते हुये ध्वनि के प्रतिमान की शक्ति
लक्षणाशक्ति (होती है) । उन तीनों दृष्टियों से गान् अवगमन रूप मूल से अन्य
(तथा) उस (अभिधेय व्याप्ति ध्वनि) के प्रतिमास अर्थात् निरन्तर प्रतीति ॥ ध्वनि की
हुई (अर्थात् तत्कारनामक अनिश्चयता से सम्पन्न की हुई) परिणीतक (सहज) की
मनिमा की सहायता से अवगमन की शक्ति का ध्वनन-वाता कहते हैं और वह पहले
सम्पन्न हुये तीनों व्यापारों की द्वाारा प्रधान द्वारा वाक्य की व्याप्ति हुआ करता है । इस
व्याप्ति से प्रयोजन विषय हुआ हुये भी निषेधमुक्त से प्रवृत्त होने के कारण निषेधविषय होता
है वह कहा गया है । यह बात (जिससे वे असत्य वगैरे) स्वीकृति मात्र के द्वारा कही
गई है । वातुन यहाँ पर लक्षणा अभी हो नहीं क्योंकि वहाँ पर न तो व्यापार्य का अवलम्ब
निरस्कार होता है और न अन्यमकमण ही होता है । इस (व्यापार) का व्यापार अवगति-
भूतक ध्वनि में नहीं होता । सहकारी के मने म अतिमे म ही है येने व्याप्ति वृत्ति
व्याप्ति में सहज की गान् की विवक्षा की अवगति में अनुभाषक व्यापार माना जाता
है—अन (शब्द) व्याप्ति से सहज (उमी गान् का) सविकल्पक व्याप्ति व्यापार
माना जाता है । इस प्रकार अभिहितान्वयवाचिनी व वृत्तिव्यपे से इसका निराकरण नहीं
करना ।

लोचनम्

आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावान् । शरीरस्य सत्तु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य
सत्त्वात्मनि जावम्यवहार न यस्य कस्यचिदिति चेत् गुणानुकारीचिद्यसुन्दर-
शब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्या मनि काव्यरूपताव्यवहार । नचात्मनोऽसारता
काचिदिति च समानम् । न चैव मक्तिरेव ध्वनि, भक्तिर्हि लक्षणा व्यापार-
स्तुतायकस्यानिवेशी । अनुष्णां तु कस्यायां ध्वननव्यापार । तथाहि त्रितय-
सन्निधी लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति । सत्र मुरयार्थवाधा तावत्
प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला । निमित्त च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि
प्रमाणान्तरगम्यमेव ।

के कारण आत्मा की सत्ता तो बहो'पर भी है हो । यदि कहो कि विशेष प्रकार क अभिष्ठान
से युक्त शरीर आत्मा होनेपर ही जीवका व्यवहार होता है जिस किसी के लिये नहीं
होता तो (काव्य के विषय में भी) गुण और अनुहार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले
शब्द अर्थरूप शरीर के ध्वनन नामक आमतत्त्व के होने पर ही काव्यरूपता का व्यवहार
होता है । (हमसे) आत्मा का कोई असारता नहीं होती यह दोनों ओर समान है । इस
प्रकार मक्ति ही ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता (क्योंकि) निस्तन्देह मक्ति लक्षणा-व्यापार
को कहते हैं जो तृतीय कक्ष्या में निहित होनेवाला है, ध्वननव्यापार चौथी कक्ष्या में होता
है । वह इसप्रकार तीन के निकट होने पर लक्षणा प्रवृत्त होती है यह तो आप ही कहते
हैं । उसमें मुख्यार्थवाध तो प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों को ही मूल मान कर चलता है ।
सामान्य इत्यादि का निमित्त बतलाये जाते हैं वे जो दूसरे प्रमाणों से ही अवगत किये जाने
योग्य होते हैं ।

तादावती

प्रतिप्रति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है । अतएव ध्वनन रूप आत्मा की सत्ता में यह वाक्य
भी काव्य क्यों नहीं माना जाता ?

(उत्तर) आत्मा भी तो व्यापक है । अतएव वह घट में भी विद्यमान है फिर घट में
जीवव्यवहार क्यों नहीं होता ? जैसे घट में जीवव्यवहार नहीं होता उसी प्रकार "बाँक
सिंह है" इस वाक्य में ध्वनन व्यापार के हाथ हुए भी काव्य व्यवहार नहीं होता । सम्भवत
आप इसका उत्तर यह दें कि जीव का व्यवहार नहीं पर होता है जहाँ पर कर चरण
इत्यादि विविध अवयवों का संयोग हो । इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि जहाँ पर गुणों
और अनुकारों के औचित्य के साथ काव्य का सुन्दर शब्द और अर्थरूपों शरीर विद्यमान
होता है, साथ ही ध्वननव्यापाररूपी काव्य भी आत्मा भी विद्यमान होती है वहाँ पर
काव्य का व्यवहार होता है । इस दृष्टान्त से इस वाक्य का भी उत्तर हो जाता है कि यदि
ध्वनन को काव्य आत्मा माना जावेगा तो 'बाँक सिंह है' इत्यादि स्थानों पर ध्वनि की

सारावली

सहकारो हेतु होते हैं इन्द्रियार्थ सञ्चित्रण, जिन्हे वैज्ञानिक दर्शनों में ॥ भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अनुमिति में भी व्यति, स्मृति तथा पदार्थज्ञा का ध्यान और परामर्श कारण होते हैं। जो लोग शब्दशक्ति को भी अनुमानव्यय मानते हैं उनके मत में अर्थबोधन के लिये प्रत्यक्ष शब्द में व्यति स्मृति इत्यादि के सहकार से ही अनुमानरत्न का व्यवहार होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होनी-वत्तः यह बात कहना चाहना है, क्योंकि उसने इस शब्द का प्रयोग किया है, जहाँ जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग होता है वहाँ यह अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे अमुक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया गया था वहाँ पर यही अर्थ अभीष्ट था, वैसे ही यहाँ पर है—अतएव वहाँ पर भी अमुक अर्थ हो अभीष्ट है। इसी प्रकार उपमान में सादृश्य ध्यान इत्यादि कारण होते ॥। शब्द प्रमाण में अभिप्रायवत्त वा सकेतध्यान तथा तात्पर्यवृत्ति कारण होती है और लक्षणावच्छेद पर शक्यार्थवाच इत्यादि कारण होते ॥। व्यञ्जनावृत्ति में भी कतिपय सहकारी अपेक्षित होते ॥ तिनका परिगणन आचार्य सम्प्रदाय ने निम्नलिखित कारिकाओं में किया है —

वक्तृबोद्धव्यकारुणा वाक्यशब्दान्वर्तनात्रये ।

प्रस्तावदेशकालादेवैशङ्क्यार्थवर्तमानुवाच् ॥

योऽन्वयस्यान्वयार्थोद्देष्टुव्यापारो व्यतिरेकता ॥

लक्षणा में शक्यार्थवाच इत्यादि सहकारी होते हैं और व्यञ्जना में वक्ता बोद्धव्य इत्यादि सहकारी होते हैं। इन प्रकार सहकारी भेद के कारण वृत्तिभेद मानना भी आवश्यक है। अतएव अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व विमो प्रकार में नहीं हो सकता।

—अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जनावृत्ति—

ऊपर अभिहितान्वयवाद के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति की अस्तिहान्ता निम्न ॥। गई है। अब अन्विताभिधानवाद के अनुसार भी व्यञ्जना की अन्वितायता दिखल नहीं है। इसके लिये सर्वप्रथम अन्विताभिधानवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। अन्विताभिधानवादी प्रभावशाली गुण के अनुवाची इस तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है ॥ वाक्यार्थ वाक्य के द्वारा ही प्रकट हो जाता है अब अभिवावृत्ति के अन्दर ही तात्पर्यवृत्ति का भी समावेश हो जाता है। इन दोनों की अविवक्षित की प्रक्रिया इस प्रकार है —

‘वाक्य को वाच्यप्रत्यक्ष सर्वप्रथम अन्विता में ही होता है। जब कोई वृत्ति किन्हीं गुणों की ‘गाय लाओ’ यह आदेश देता है और गुण उसकी आवा से गय ले जाता है, अब वह

सोचनम्

यदिचद् घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिक प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपक्षम्, चटोर्वा पराकमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावत् स्यात्पार । तथा हि—तत्सामोप्यात्तद्धर्मस्थानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्द वाच्यत्वं च चटोरसिद्धम् । अथ यत्र यत्रैवशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग

जो यह पोष को अच्युत पवित्रता, शीतलता सेव्यता इत्यादि दूसरे शब्दों से न कहा जानेयोग्य और दूसरे प्रमाणों से प्रतिपक्ष न होनेवाला प्रयोजन है अथवा 'बहु' की अत्यन्त पराकमालिका है, उसमें शब्द का कोई व्यापार नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जासकता । वह इसप्रकार-उसके समोप होने से उससे धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक (हेत्वामास से युक्त) है । बहु का सिंहशब्दवाच्यत्व असिद्ध है । अब यदि अनुमान (व्याप्ति) का रूप यह बताते हो कि यहाँ-यहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का

सारावली

नहीं है तो वा तो अनुमान कारण हो सकता है या स्मृति कारण हो सकती है । अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—'उठ, गङ्गागन अच्युत पवित्र'वादि गुणोंवाला है, क्योंकि गङ्गा के समोप है 'ये मुनिगन इत्यादि ।' यहाँ पर व्याप्ति यह होगी—'जो गंगा के निकट होता है वह पवित्र होता है । जैसे मुनिगन गंगा के निकट होने से पवित्र होते हैं ।' किन्तु यह व्याप्ति अभ्यास है, क्योंकि गंगा के निकट खोपकी दृष्टी इत्यादि भी पकी रहती है किन्तु वे पवित्र नहीं मानी जा सकती । अतएव हेतु में अनैकान्तिकता का आशय है जिससे साध्यसिद्धि में सभ्य भिन्नता हेत्वामास उपरिष्ठ होकर उसे अप्रामाणिक बना देता है । इसी प्रकार 'ब्रह्मचारी केर है' इस वाक्य में केर की बीरता के प्रत्यायन के लिए हमें अनुमान की यह प्रक्रिया उप नानी पड़ेगी—'बहु सिंहधर्मवाला है, क्योंकि सिंहशब्दवाच्य है, जो जो सिंहशब्दवाच्य होते हैं वे वे सिंहधर्मवाले भी होते हैं जैसे वालविक सिंह उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी है अतएव वह भी सिंहधर्मवाला है ।' इस अनुमान की प्रक्रिया में स्वरूपासिद्ध हेत्वामास है । बहु रूप है और सिंहशब्दवाच्यता हेतु है । अनुमान की प्रक्रिया में यह अतिशय नियम है कि हेतु का रूप में रहना अत्यन्त इत्यादि दूसरे प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये । किन्तु यहाँ पर ब्रह्मचारी का सिंहशब्दवाच्य होना प्रत्यक्ष रूप में असिद्ध हो जाता है । अतएव यह अनुमान ठीक नहीं कहा जा सकता । इन दोनों स्थानों के लिए अनुमान की एक दूसरी प्रक्रिया भी हो सकती है—रक्त इस प्रकार की व्याप्ति बनाई जावे जहाँ पर छायापिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ उनके धर्म का योग अवश्य हो जाता है । इस व्याप्ति से साध्यसिद्धि हो सकती है किन्तु व्याप्तिग्रह के लिए कोई दूसरा प्रमाण बतलाना पड़ेगा । क्योंकि बार-बार किसी विनेष उदाहरणों को देकर ही व्याप्तिग्रह होता है । अब यही बार कोर प्रमाण ही नहीं अब न तो व्याप्तिग्रह हो सकेगा और न साध्यसिद्धि ही होगी । इस प्रकार प्रयोजन

लोचनम्

योऽप्यन्वितामिधानवादी 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृह्यते
शरवदमिधान्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽ
साधितः कुत ? भिन्नविषयत्वात् । अयानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसत्तातोष
युक्तः । सत्तातोषे च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविरि
निषिद्धः । असत्तातोष आत्मव्यय एव ।

जो अन्वितामिधानवादी भी 'यत्परक शब्द होता है वह शब्द का अर्थ हुआ करता है'
वह हृदय में ग्रहण कर के शर के समान दीर्घ दीर्घ अमिधान्यापार को ही चाहता है उसका
यदि दीर्घ व्यापार होता है तो 'वह एक है' यह कहा हो कैसे का सजना है ? क्योंकि उसका
विषय भिन्न होता है । यदि वह अनेक होता है तो तद्विषयक सहकारीदी के भेद से इसका
असत्तातोष होना ही ठीक है और सत्तातोष कार्य में पदार्थ के विद्वानों ने शब्द बुद्धि और
कर्म का एक-एक कर व्यापार बना कर दिया है । असत्तातोष होनेपर हमारी ही भेँड़
(गतरथ हो जाती है ।)

सारावली

अन्वितामिधानवादी मूढ़ हो 'यत्' के अनुयायी 'यत्पर' शब्द स शब्दार्थ तथा 'योऽय
मिधारेव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' ये युक्तियों केकर स्वज्ज्ञावृत्ति को अभिधा में सन्निविष्ट करते
हैं । उनके बयान का आशय यह है—'यह शब्दशक्ति का व्यापार भी वाच के समान अधिक-
अधिक हो जाना है । जिस प्रकार बलवान के द्वारा डोंडा हुआ वाच करने वैयनामक व्यापार
द्वारा वाच के बरब को भी काटता है, उसके मर्मस्थान को भी विरिथ करता है और उसका
प्राणहरण भी करता है । उसी प्रकार महाकवि का प्रयोग दिया हुआ शब्द भी अभिधा नामक
व्यापार के द्वारा पदार्थ को भी उपस्थिति करता है, अन्यसंशोध भी करता है और व्युत्पत्ति को
प्रतीति भी करता है । जानाव यह है कि 'एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्द शक्ति का
तत्काल विराम नहीं होता जबतक विवर्तित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती ।' इनका कहना
है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ में बच्चा का वाच्य हो । इसपर गुप्ते (श्री
अमिनव गुप्त को) यह पूछता है कि यदि शब्द का ही दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता जाता है
तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि समान व्यापारों में उनके
विषय बदलते जाते हैं । विषय भी भिन्न होते हैं और सहकारी भिन्न होते हैं । (अभिधा
का सहकार्य संकेतग्रहण होता है, उदाहरण के सहकारी सम्बन्धवत्पद इत्यादि होते हैं और
स्वज्ज्ञा के सहकारी वृत्तिर्भेदव्यपार इत्यादि होते हैं ।) इस व्यवस्था में भिन्न-भिन्न व्यापार अमशा
तीय ही मानने पड़ेंगे । काव्य यह है कि शब्दतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने निन्द्य बना दिया है कि
शब्द बुद्धि और कर्मों का सत्तातोष कार्य में एक-एक कर व्यापार कभी नहीं होता, व्यापारों
को असत्तातोषता स्वीकार कर लेने पर हमारा ॥ मिथ्यान्त निरुद्ध हो जाता है कि शब्द की
पदक-पदक वृत्तियों अभिधा उदाहरण और स्वज्ज्ञा के नाम से अमिहित को जाती है ।

तारावती

जहाँ पर सनेतग्रहण हो चुका हो। शीतलता पावनता इत्यादि धर्मों में सनेतग्रहण हुआ हो नहीं है। अतएव ये धर्म अविश्वार्थतामय नहीं हो सकते। तात्पर्यार्थ से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि उसका कार्य अन्वयपक्षोक्तकाल में ही समाप्त हो जाता है। अब हमें यह देखना है कि प्रयोजनमयवृत्ति लक्षणा से हो सकते हैं या नहीं? लक्षणा के लिए ३ बातों का पूरा होना अनिवार्य है—शक्यार्थसम्बन्ध, शक्यार्थसम्बन्ध और रुद्धिप्रयोजनान्यतर। जिस प्रकार झोपड़ी के साथ अन्वय होने पर प्रवाद अर्थ बाधित हो जाता है उसी प्रकार यदि 'गगान्त पर झोपड़ी' यह अर्थ भी बाधित हो जावे तो लक्षणा का भवसर हो सकता है। किन्तु लक्ष्यार्थ में इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। अतएव लक्षणा की पहली शर्त समाप्त हो गई। लक्षणा की दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। एक तो तब शक्यार्थ ही नहीं है दूसरे उसका शीतलत्व इत्यादि से लक्षणा के लिये परिगणित सम्बन्धों में कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इस प्रकार दूसरी शर्त भी पूरी नहीं हुई। तीसरी शर्त है रुद्धिप्रयोजनान्यतरत्व। रुद्धि तो यहाँ पर है ही नहीं। प्रयोजन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए दूसरा प्रयोजन माना जावेगा तो उस दूसरे प्रयोजन का भी कोई दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्तता दोष हो जावेगा जो मूल को ही गड़ बरनेवाला होगा। अतएव यहाँ पर कोई दूसरा प्रयोजन भी नहीं माना जा सकता। [काव्यप्रकाशकार ने यहाँ पर एक सम्भावना और बतलाई है—उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोजनविशिष्ट लक्ष्यार्थ' में ही लक्षणा मानी जा सकती है। इस सम्भावना का उन्होंने यह बहकार लक्षण दिया है कि लक्ष्यार्थ तो लक्षणा का विषय है और प्रयोजन उसका फल है। विषय और फल ये दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये घान का विषय और होडा है तथा फल और। जैसे मत्स्यघान का विषय होता है घट और इसके फल के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत है मोमांसकों का जो यह मानते हैं कि मत्स्यघान का फल है किमी वस्तु का प्रकट हो जाना। घटघान के बाद 'यद्वा जान लिया गया' इस मत्स्य के कारण घट में जो घातना अवस्था प्रकटता उत्पन्न हो जाती है वही मत्स्यघान का फल है। मोमांसक लोग देवधर्म शास्त्र या प्रकटता की ही घान का फल मानते हैं। दूसरा मत है नैयायिकों का जिसका मत है कि 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकार के मत्स्य से जो अनुचय साथ या संवित्ति होती है वही मत्स्यघान का फल है। इस प्रकार नैयायिक लोग शास्त्रधर्म को घान का फल बतलाते हैं। जिस प्रकार मत्स्य के विषय और उसके फल दोनों भिन्न भिन्न वस्तु हैं उसी प्रकार लक्षणाजन्य घान में भी उसके विषय तब की अपेक्षा उसके फल शीतल-पावनत्व इत्यादि में भेद अवश्य होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार गगान्त से लक्षणावृत्ति के द्वारा तब की अवगति हो जाती है उसी प्रकार लक्षणा से ही प्रयोजन की अवगति किमी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लक्षणा की कोई शर्त मिलती ही नहीं। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए होनेवाली लक्षणा

लोचनम्

अयोध्यते—पूर्व तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुषा
वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं
स्यात् । न चापि श्राव्यपदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्विष्टानामेव सर्वदा
प्रयोगात् । अवापोद्गापाम्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केत पदार्थमात्र इत्यभ्युप-
गमे पाश्चात्त्यैव विशेषप्रतीतिः ।

अयोध्यते—एष्टेव इदिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुम्भं इति । तद्वि-
षयमपि न नाङ्गीकुम्भं । यद्वदस्याम—

तद्वत्सचेतसां योऽर्थो चावधार्यविमुक्तात्मनाम् ।

बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां प्रतिषेधावभासते ॥ इति ॥

किन्तु सातिशयानुशीलनाभ्यामाद्यत्र सम्मान्यमानोऽपि क्रम सञ्जातीय-
सद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसम्भवस्मृतिव्यवस्था सवेद्यत इति ।

यदि कहा जावे—पहले वहाँ पर सङ्केतग्रहण से संस्कृत (व्यक्ति) की प्रतिपत्ति वस्तु-
प्रकार की हो जाती है इस वस्तुस्थिति में पदार्थों का निमित्तत्वं बन जाता है तो वस्तु
(पापनिन्दक अर्थ) के अनुसरण में उपयोगी कुछ भी कहा हुआ नहीं होगा । वह भी नहीं
कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रहण ही चुका है क्योंकि अन्विष्टों का ही सर्वदा प्रयोग होता है ।
अज्ञान और उद्धार (शब्दों के प्रवेष्ट और निर्गम) के द्वारा वह वस्तु (पदकू-पुणकू परामर्शों
में सङ्केतग्रहण) हो जाता है, यदि वह नहीं तो सङ्केत पदार्थमात्र में ही होता है वह मानने
पर (निषेधरूप) विशेष प्रतिपत्ति बाद में ही होगी ।

यदि कहो कि क्षीण साधन प्रतिपत्ति देखी ही है इस विषय में हम क्या करें । तो इसको
ही हम भी स्वीकार नहीं करते हैं वह बात नहीं है । जैसा कि हम कहेंगे—‘उसी प्रकार
वाच्यार्थ से विमुक्त आभावाते सहदवों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ क्षीण ही
अवभासित हो जाता है ।’ किन्तु अव्यक्त अनुगोचन के अभ्यास के बावजूद बहोतर सम्मानित
होते हुये भी नम सञ्जातीय पदार्थ विवक्ष्य परम्परा के उदय न होने के कारण विषय की
व्याप्ति के समान अथवा समस्तस्मृति के क्रम के समान सर्वेक्षणोपर नहीं होगा ।

सारावली

वहाँ पर अगर वह कह सकता है कि सङ्केतग्रहण तो पहले ही हो चुका था । यदि पहले
ही सङ्केतग्रहण में संस्कृत रहती है । भाषा में वाक्य सुनने पर व्यवहारार्थोप हो जाता है और
पदार्थ तथा व्यवहारार्थोप के लिए अथ विम प्रविष्टा का आशय होंगे ? व्यवहारार्थ में सङ्केतग्रहण
तो हुआ नहीं फिर अगर अभिप्राय के आधार पर उसका स्वीकृति लेने मान सकते हैं ? दूसरी
बात यह है कि सङ्केतग्रहण आगे मन में पहले ही ही नहीं सबका क्योंकि अगर वा अन्विष्ट
में ही नहीं माना है । यदि अगर वह माने कि सङ्केतग्रहण अन्विष्ट में ही होता है किन्तु

सारावती

संश्लेषणा कहो जाती है, यह उनका व्यञ्जन को खण्डन करने के लिए दुराग्रहमात्र है, उसमें सार कुछ भी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि प्रयोजन प्रतिपत्ति न तो अनुमान से हो सकती है न स्मृति से और न अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों में किसी से उसका बोध हो सकता है। अतएव उक्त तीनों वृत्तियों से भिन्न एक चौथी वृत्ति या शब्दव्यापार अवश्य मानना पड़ेगा। फिर आप वैसे ध्वनन, चेतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि पर्यायों में चाहे जो बोध नाम दे सकते हैं। लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती यह बात आगे चलकर 'सुग्रां वृत्ति परित्यज्य' इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर अधिक विस्तार रूप में समझाई जावेगी।

इसप्रकार शब्द की चार वृत्तियाँ सिद्ध हुईं—(१) वाच्यार्थ का अवगमन करानेवाली सङ्केतमापेक्षिणी वृत्ति अभिधा कहलाती है। (२) अभिधा के द्वारा सङ्केतित अर्थ के प्रकट कर दिये जाने के बाद अन्वयरूप कुछ ऐसा अर्थ शेष अवश्य रह जाता है जो कि अभिधा के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव वाक्यार्थपूर्ति में सहायक होकर जो वृत्ति अर्थबोध में कारण होती है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। (३) शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और कृदि प्रयोजनान्वयता इन तीन सहकारियों की अपेक्षा करते हुये जो शक्ति दूसरे सम्बन्धित अर्थ का बोध करती है वह लक्षणा कहो जाती है। (४) अभिधा तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों से जिस अर्थ का अवबोध होता है उसी से एक अन्य भी अर्थ स्फुरित होने लगता है जिसके बाद-बार अनुसन्धान से परिशीलन करनेवालों की प्रतिमा पवित्र हो जाती है। इस प्रकार प्रतिमा को पवित्र करने में समयवृत्ति ध्वनन या व्यञ्जन व्यापार के नाम से अभिहित की जाती है। अब यह वृत्ति गौर तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधान पदपर आसीन हो जाती है तब उसे ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि वाक्य की आत्मा है। (प्रश्न) ऊपर लक्षणा का जो विवेचन किया गया है उससे सिद्ध होता है कि 'अमर्थात्मिक ... सिद्धेन' में अमर्थ या निषेध स्वयं है और सङ्केतस्थान की रक्षा इत्यादि उस लक्षणा के प्रयोजन हैं जिसका अवगमन व्यञ्जना से होता है। फिर आलोचक ने यह कैसे लिख दिया कि प्रतिषेधरूप अर्थ व्यञ्जना व्यापारमय है? (उत्तर) निषेध अर्थ प्रमुख है और उसी के द्वारा सङ्केतस्थान को सुरक्षा प्राप्त होती है। शीघ्रिये निषेध अर्थ का होना बह दिया गया है। यह उत्तर तो इस बात को मान कर दिया गया है कि प्रस्तुत स्थान पर लक्षणा होती है। वस्तुतः यहाँ पर लक्षणा होती ही नहीं, क्योंकि लक्षणा के हेतु यहाँ पर सिद्ध ही नहीं। न तो शक्यार्थ का अच्युत तिरस्कार होता है और न उसका अन्य अर्थ में सक्रमण हो होता है। यहाँ पर अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि है जिसमें लक्षणा मानी ही नहीं जा सकती। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के रत्नों में कुछ सहायकी कारण अन्वय अपेक्षित होते हैं। उदाहरण के लिये प्रकाश इन दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। इन दोनों प्रकार के प्रकाशरत्नों में

वारापरी

पदों का क्रियापद के साथ सम्बन्ध होता है तब कारकाद्वय प्रधान क्रिया को पूरा करनेवाली अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साथ बन जाते हैं। जैसे 'गाय छाओ' इस वाक्य में 'गाय' कारक शब्द है और 'छाओ' क्रिया शब्द। कारक शब्द गाय यद्यपि स्वतः सिद्ध शब्द है किन्तु छाना क्रिया की पूर्णता के लिये गाय के चलने को क्रिया अभीष्ट हो जाती है। अपनी क्रिया से प्रधान क्रिया को पूर्णता प्रदान करने के कारण गाय वह सिद्ध शब्द भी साथ बन जाता है। इसी प्रकार 'बका छाओ' इस वाक्य में भी 'छाना' रूप प्रधान क्रिया की पूर्ति के लिये सिद्ध शब्द 'बका' की पूर्वेज त्याग और अन्यदेजसंयोग रूप क्रिया की अपेक्षा होती है। अतः बका शब्द भी साधकोटि में आ जाता है। इस प्रकार जब सभी शब्द साथ हो गये तब जिस प्रकार सुनो की राशि में पड़ो हुई आग वही सुनो को बलाती है जो बल नहीं होते, वही प्रकार वाक्य के प्रयोग में भी जिसको बात हमें किसी अन्य प्रमाण से शङ्क होती है उसका विधान नहीं होता और जो वस्तु अज्ञात (अज्ञात) होनी है उसी का विधान होता है। उदाहरण के लिये अनेकानेक के प्रकरण में एक वाक्य आया है—'छाओगकीराले अतिव्रत इधर उधर सञ्चरण कर रहे हैं।' यहाँ पर चार तत्त्व हैं—छाओ, पगड़ी, अतिव्रत और सञ्चरण क्रिया। अनेकानेक में क्वोटिष्टोम का अतिदेज (समानता) प्रतिपादित है। क्वोटिष्टोम के प्रकरण में लिखा है कि 'पगड़ीवाले अतिव्रत इधर उधर चिक्कर रहे हैं।' इस वाक्य से पगड़ी, अतिव्रत और चिक्कर तीनों बातों के अतिदेजोम प्रकरण के प्रमाण से सिद्ध हो जाने पर अनेकानेक में केवल पगड़ी की छाओ ही विधेय रह जाती है। इसी प्रकार 'दही से हवन करता है' इस वाक्य में तीन पदार्थ हैं—दही, करणकारक और हवनक्रिया। हमने हवन तो प्रकरण से ही सिद्ध है। साधनद्वय होने के कारण दही का भी आक्षेप कर ही लिया जाता है। अतएव यहाँ पर केवल करण कारक ही विधेय रह जाता है क्योंकि दही अज्ञात है।

कहीं कहीं दो विधियाँ होती हैं, कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं इनसे भी अधिक विधियाँ होती हैं। जैसे 'छाओ करका सुनो' यहाँ पर छाओ, करका और सुनो ये तीन शब्द हैं। यदि पहले से मान्य है कि करका सुनना है तो केवल छाओ ही विधेय होगी। यदि पहले से उक्त मान्य है कि कुछ सुनना है, यह पता नहीं कि क्या सुनना है तो छाओ और करका ये दो विधेय होंगे। यदि पहले से कुछ भी नहीं पता है तो छाओ, करका और सुनना ये तीनों विधेय होंगे। इसी प्रकार 'स्नान और भोजन किये दूजे ब्राह्मण को छे आओ' इस वाक्य में यदि पहले से कुछ भी मान्य नहीं है तो स्नान भोजन ब्राह्मण और आनयन ये चार विधेय होंगे। यदि उक्त मान्य है कि ब्राह्मण को स्नान है तो उसका स्नान और भोजन ही विधेय होगा। यदि उक्त मान्य है कि ब्राह्मण स्नान किये बैठा है तो केवल उसका भोजन करना ही विधेय होगा।

वारावती

क्रिया का शर होती है तब बालक 'गाय लाओ' इस वाक्य का और गाय छे जाने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इसप्रकार सबसे पहले बालक को दक्षिणार्ध वाक्य में ही होता है। इसके बाद जब वही बालक के 'गाय छे जाओ' 'अरव लाओ' इत्यादि वाक्यों को सुनता है और उनकी क्रियाओं को देखता है तथा वाक्य के भिन्न भिन्न शब्दों के भिन्न भिन्न प्रयोगों पर ध्यान देता है तब वह शब्दों के अन्वयार्थ (निर्गम प्रवेज) के द्वारा शब्दों की दक्षिणी समझ लेता है। उस समय वह शब्दों की जिस शक्ति को समझता है उसमें भन्वयार्थ विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारकशब्दों का क्रिया के साथ और क्रिया शब्दों का कारक के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। बाद में जब शुद्ध शब्दों का ध्यान होता है तब इस अन्वयार्थ-विशिष्ट शक्ति से अन्वयार्थ को धृक् नहीं किया जा सकता। इसप्रकार अभिभावृत्ति के द्वारा ही भन्वयार्थ में शक्ति प्रतीत हो जाती है और वाक्यवृत्ति के धृक् मानन को अस्वीकार नहीं रह जाओ। इस मत के अनुसार 'गाय लाओ' इस वाक्य के 'लाओ' शब्द का अर्थ होगा—दूसरे शब्द से अन्विष्ट आनयन क्रिया। इसी अर्थ में इसका संकेत है। भन्वयन में इसका संकेत नहीं है फिर भी गवानयन का बोध होगा ही है। इस प्रकार संवेदप्रद्वय हुआ 'अन्वयार्थान्वित आनयन क्रिया' इस अर्थ में और बोध हुआ गवानयन का। त्रिप्रकार एका एक वस्तु है। बाहु शब्द से हमें घड़े का बोध मले ही हो जावे किन्तु वस्तु शब्द का अर्थ तो वक्ता नहीं हो जावेगा। इसीप्रकार आनयन पद से गवानयन का बोध मले ही हो जावे किन्तु आनयन पद का अर्थ गवानयन कभी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जब एक शब्द का अर्थ भी वाक्य नहीं हो सकता तब व्यङ्ग्यार्थ जो अतिविशेष है और जो वाक्यार्थ से भी सर्वथा भिन्न होता है। उसका समावेश अभिभावृत्ति में हो सकेगा, इसका तो कल्पना मा नहीं की जा सकती। 'छाओ' शब्द का वाक्यार्थ गवानयन नहीं हो सकेगा, इसका कारण यह है कि न्यायनार्थ के अनुसार किसी शब्द से उसके सामान्यरूप का परिधान हो जाता है। जैसे धूम को देखकर धूम्र का ध्यान हो जाता है। बाद में धूम्र का ध्यान होने के कारण किसी ऐसे धुँये को देखकर जिसको धूम्र न देखा हो, वह ध्यान हो जाता है कि वह धुँयाँ है। इसे सामान्य छत्रायाम्वाचि कहते हैं। यही 'छाओ' शब्द सामान्यछत्रायाम्वाचि से अन्वयार्थान्वित आनयन क्रिया का ही बोध होगा गवानयन का नहीं।

अभिहितान्वयशब्द में शब्द का अर्थ अन्वयार्थ से रहित नहीं होता है और अन्विताभिधानशब्द में सामान्य रूप से क्रिया भी दूसरे शब्द से अन्विष्ट ही उसका अर्थ होता है। इस प्रकार 'दिने' शब्द के साथ भी अन्विष्ट अर्थ वाक्य नहीं हो सकता। अतएव दोनों ही अर्थों से व्यङ्ग्य कभी वाक्यकोटि में नहीं आ सकता।

छोचनम्

निमित्तनैमित्तिकमावस्थावश्यमाश्रयणीय, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुक्त्या-
भेद, 'श्रुतिविकृतिप्रमाणपटकस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादि प्रक्रियाविधात्, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्या समर्थितत्वात् । निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मात्स्वयया ।

निमित्त-नैमित्तिक का आश्रय तो अवश्य ही लिया जाना चाहिये । अन्यथा गौण लाक्षणिक में मुख्य से भेद (सिद्ध नहीं होता) और 'श्रुति विगृह्य इत्यादि छ प्रमाणों में पारदौर्बल्य' इस प्रक्रिया का निपात (हो जाता है) । क्योंकि निमित्तताके वैचित्र्य से ही इसका समर्थन होता है । निमित्ततावैचित्र्य के मान लेने पर हमारे प्रति अच्छा से क्या दूसरा काम (आपको प्राप्त होगा) अर्थात् आपने तो हमारी बात ही मान ली ।)

सारावली

—अभिधा और व्यञ्जना का भेद—

ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि अभिधा और व्यञ्जना में निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है । अभिधा निमित्त होती है और व्यञ्जना नैमित्तिक । निमित्त और नैमित्तिक का तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता । अतएव ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती हैं यह विवाद का विषय रह ही नहीं जाता । यह निमित्त नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा । नहीं तो निम्नलिखित स्थानों की सहायि नहीं बैठ सकती —

(अ) गौण और मुख्य में भी भेद सिद्ध नहीं होया । मुख्य (वाक्यार्थ) के साथ में ही एतन्ना हो सकती है । इस प्रकार वाक्यार्थ निमित्त होता है और एतन्ना नैमित्तिक होता है । यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं माना जावेगा तो न तो वाक्यार्थवाच का ही भ्रम पैदा होगा और न मुख्यार्थ तथा एतन्ना का भेद ही हो सकेगा ।

(आ) भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में लिखा है कि श्रुति, टिप्पण, वाक्य, प्रहरण, स्थान और समाख्या इनमें अर्थ विभक्तियों के कारण क्रमशः पर का दुर्बलता जाती जाती है । यह विनियोजक सूत्र है और विनियोजकों के शक्ति सारवम्ब पर विचार करता है । विनियोजक ६ होते हैं—(१) श्रुति-वचन मात्र से ही बिना किसी क्रमेणा के अर्थ को प्रकट करने की शक्ति (२) टिप्पण-द्विती शब्द की विशेष अर्थबोधक शक्ति (३) वाक्य-परस्पर आकाङ्क्षा के कारण द्विती एक अर्थ में पर्यवसित होने पर दोनों को वाक्य कहते हैं । यह देने स्थान पर विनियोजक होता है जहाँ पर किसी दूसरे प्रमाण से वाक्य का कोई एक अर्थ द्विती एक अर्थ में विनियुक्त हो जाय तथा उसके दूसरे अर्थ विनियोज्यहित ही रह जायें । तब एक वाक्यता होने के कारण उसके दूसरे अर्थ भी उसी अर्थ में विनियुक्त हो जाते हैं जिसमें वह वाक्य का कोई अर्थ विनियुक्त हुआ रहता है । (४) प्रहरण—परस्पर आकाङ्क्षा को प्रहरण कहते हैं । जैसे एक विधान है कि 'दूरी और पूर्णमास जन्मक बरों के द्वारा रथों के लिए

लोचनम्

अथ योऽसौ चतुर्थकस्यानिविष्टोऽर्थः, स एव श्रुतिवाक्येनाभिधीयत इत्येवविषयं दीर्घदीर्घं च विवक्षितम् तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु सङ्केते, नैमित्तिकस्वसावयवसङ्केतानपेक्षं प्रवेति चेत्— पश्यत धोत्रिपरयोनिकौशलम् । यो ह्यसौ पर्यन्तकस्याभास्यर्थं प्रथमं प्रतीति-पथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तना पदार्थावगमा निमित्तमाय गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम् ।

अब यदि वह जो चौथी कस्या में निविष्ट अर्थ है वह शीघ्र ही वाक्य के द्वारा अभिहित कर दिया जाता है, इस प्रकार का हार्त्यत्व विवक्षित है तो वहाँ पर सङ्केत न करने से साक्षात् प्रतिपत्ति किस प्रकार होती है ? यदि वह माने कि निमित्तों में सङ्केत होता है और यह नैमित्तिक अर्थ सङ्केत की अपेक्षा नहीं करता तो इस धोत्रिय की उत्कृष्टता तो देखो । निस्त-देह जो वह पर्यन्त (अन्तिम) कस्या भागी पहले ही प्रतीतिपथ में अवतीर्ण होनेवाला अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) है उसके बाद में होनेवाले पदार्थावगम निमित्त बन जाते हैं वह तो निस्त-देह ऐसा ही है कि मीमांसक का प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व बतला दिया गया है ।

तारावती

(पूर्वपक्ष) वहाँ पर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का आशय यह है कि अभिधा तार्त्य और लक्षणा के बाद जो वह चौथी कस्या में निविष्ट व्यङ्ग्यार्थ होता है उसी की वाक्य के द्वारा एकदम प्रतीति हो जाती है । (उत्तर) अभिधा से लक्ष्मी की प्रतीति होती है जिसमें संकेत ग्रहण हुआ हो । जब व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण हुआ हो वहीं तब अभिधा के द्वारा उसकी प्रतीति हो ही कैसे सकती है ?

(पूर्वपक्ष) वाक्य को सुनते ही उसके अन्तिम अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) प्रतीतिगोचर हो जाता है । उस व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त शब्दार्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ नैमित्तिक होता है । व्यङ्ग्यार्थ की एकदम प्रतीति हो जाने के बाद विशेषरूप से ध्यान देने पर शब्दार्थ की भी प्रतीति होती है । संकेतग्रहण शब्दार्थ में होता है जो कि व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त होता है । उसी व्यापार पर नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थ का भी बोध हो जाता है और इसमें संकेतग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती । (उत्तर) इन महापण्डित महोदय की उत्कृष्टता को तो देखो ? अन्तिम कस्या को प्राप्त होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ तो पहले प्रतीतिगोचर होता है और उसमें निमित्त होता है बाद में प्रतीति होनेवाला पदार्थबोध ? अर्थात् कार्य पहले होता है और कारण बाद में । अतएव यह है कि मीमांसक का परपौत्र मीमांसक को जन्म देनेवाला होता है ?

वारावती

वाक्य का अर्थ पूरा नहीं हो जाता उसी प्रकार अति इत्यादि विनियोजक भी अर्थबोध में सहकारी मात्र होने ॥ १ ॥ जैमिनि सूत्र का अर्थ यह है कि जिन सहकारियों को पहले उपदिष्ट होनी है वे सहकारी परवर्तियों को अथवा अधिक बलवान् होते हैं। इस प्रकार जैमिनि सूत्र की सहायि भी बैठ जाती है और व्यञ्जना की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

(२) ध्वनिवादो—यथा आप केवल अधिभाववृत्ति का मानेंगे तो नुरा इति इत शब्दों को चला देने से 'इति' इति यह हो जाने पर वाच्यान्तरों अस्तीत्य दोष निश्च प्रकार बन सकेगा । चिद्विग्रह शब्दी भाषा में श्री को ध्वनि के अस्तित्व अकुर के लिये प्रयुक्त होता है । अन्विताभिधानवादीयों के मन में अन्विता नहीं है अतएव यहाँ पर उक्त प्रतीयमान असम्भ्य अर्थ अस्तीत्य दास का सोमा में आ ही नहीं सकता । अतः वाच्य में उसके परिप्लव की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । व्यञ्जना वृत्ति के मानने से ही यहाँ दास की व्यवस्था की जा सकती है अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है ।

ध्वनि विरोधी—तक तक समीचीन नहीं । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अनुभव की हुई शक्ति अन्विता में स्मरणव्यवस्था है । चिद्विग्रह की शक्ति का असम्भ्य अर्थ में अनुभव दिया जा चुका है । अतएव वह उसी अर्थ को स्मरण करा देगी और दोष की व्यवस्था हो जायेगी । उसके लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं ।

(३) ध्वनिवादो—यथा वाच्य-यथा भाषा से सिद्ध अर्थ व्यञ्जकमात्र अंगीकृत नहीं किया जावेगा तो वह व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं बन सकेगी कि व्याकरण-नियमहीन अननुष्ठित शब्दों के लिये दास होते हैं और वक्ष्य अतिवृत्ति शब्दों के अन्तर्गत दोष होते हैं । साहित्यशास्त्र में कुछ दोष तो निश्च माने जाते हैं और कुछ अतिवृत्ति । उदाहरण के लिए व्याकरण के नियम की अवहेलना एक ऐसा दास है जो सर्वत्र दोष ही रहता है । उसके अतिवृत्ति कुछ दोष सार्वत्रिक नहीं होते । जैसे अतिवृत्ति दोष शृंगाररस में तो नुरा सादृश्य पता है किन्तु रौरस में गुण ही जाता है । उस दास अतिवृत्ति दास कहलाते हैं । निश्च और अतिवृत्ति दासों की व्यवस्था तो सभी बनेगी अब व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकार किया जावेगा । केवल अधिभाववृत्ति के मानने पर यही दोष माना जावेगा कि वाक्यार्थ व्यञ्जक होना और देने सभी तत्त्व सर्वत्र दोष ही माने जायेंगे । इसके अतिवृत्ति व्यञ्जनावृत्ति के मानने पर दासों की निश्चान्तर व्यवस्था संगत हो जावेगी । क्योंकि व्यञ्जना के अर्थों एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं । एक शब्द किसी व्यञ्जक का पुट कर सकता है दूसरे को अपुट । अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है ।

(४) साहित्य शास्त्र का नियम है कि यहाँ पर कोई शब्द अतिवृत्ति मान्य पड़ता है और दूसरे स्थान पर उसी अर्थ में उसका पर्यायवाचक ही अच्छा मान्य पड़ता है । जैसे को के पर्यायवाचक तन्वी टटना कर्मिनी इत्यादि अनेक दास हैं । 'तन्वी' शब्द विशेषतया के

तारावली

शब्दों के अन्वय-उद्घाटन (प्रवेश निर्गम) के आधार पर सकेतग्रहण पदार्थ मात्र में भी हो सकता है तो इस पर येरा निवेदन यह है कि ऐसी अवस्था में विशेष अर्थ की प्रतीति तो बाद में ही होगी । अमिहितान्वयवादियों के समान आपको भी तात्पर्यवृत्ति इत्यादि की कल्पना करनी ही पड़ेगी । ऐसी दशा में अन्विताभिधानवाद का भाषका सिद्धान्त ही उच्छिन्न हो जावेगा ।

यहाँ पर धार कह सकते हैं कि पदार्थव्यङ्ग्यार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बने या न बने किन्तु वाक्य श्रोतृ ने ही एकदम जो तात्पर्यार्थ की प्रतीति होने लगती है उसका अन्वयण कैसे किया जा सकता है ? इस पर येरा निवेदन यह है कि इस बात को तो हम भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है । ध्वनिकार ने स्वयं कहा है,—

‘सङ्घट्टों की अन्वयणार्थ वाक्य के वाच्यार्थ से सर्वथा विमुख होती है । उनको उद्देश्य-मासिनी बुद्धि में वाच्यार्थज्ञान के बिना ही व्यङ्ग्यार्थ एकदम स्फुरित होने लगता है ।’ किन्तु इस कथन का अन्विताव यह है कि भिन्न लोगों ने वाक्य इत्यादि का अत्यन्त अनुशीलन किया है उनको अन्वयणार्थ एकदम व्यङ्ग्यार्थप्रतीति में अङ्गभूत पदार्थबोध इत्यादि क्रम की सम्भावना रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती । यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार धुँआँ को देख-कर एकदम आग का बोध हो जाता है और स्वातिग्रह, तिष्ठपरामर्श इत्यादि क्रम की सम्भावना होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती । अथवा गाव इत्यादि पदार्थों के देखते ही उनका बोध हो जाता है—सकेतग्रहण, सकेतप्रवृत्ति इत्यादि क्रम के होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती । इसी प्रकार प्रतीति न होते हुए भी निमित्त नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा ।

[वाक्यप्रकाशकारने ‘वन्धरः शब्दः स शब्दार्थः’ तथा ‘सोऽप्यभिचोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः’ इन दोनों वाक्यों की विशेषरूप से आलोचना की है । यहाँ पर वाक्यप्रकाशकार की आलोचना का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा ।

वाक्यप्रकाशकार का कहना है कि जो लोग मौमांसकों के ‘वन्धरः शब्दः स शब्दार्थः’ इस वाक्य का आश्रय लेकर व्यवहाराभ्यास का निषेध करने की चेष्टा करते हैं वे लोग मौमांसकों की इस तारावलीविषयक वाणी के तात्पर्य को चिन्तित नहीं समझते और इस प्रकार वे हाँग भी सर्वथा देवों के प्यारे (पुत्र) ही हैं । बलुत्त. मौमांसकों को इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि जब वाक्य के अन्दर विद्यमान पदों की उपस्थिति होती है तब उनमें कुछ शब्द तो सिद्ध होते हैं और कुछ साध्य । साध्यों का हो विधान किया जाता है और उन्हीं में वक्ता का तात्पर्य होता है । उसी के बोध के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है । वही अर्थ ऐसा होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव अद्वय अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अर्थ में प्रामाणिक का निर्वाह होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव अद्वय अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अर्थ में प्रामाणिकता का निर्वाह होता है ऐसा कि कहा भी गया है ‘भूत (सिद्ध) और मय्य (साध्य) दोनों के उच्चारण में सिद्ध शब्द का साधारण अर्थ है करक और साध्य शब्द का साधारण अर्थ है क्रिया । जब करक-

पारायणी

अमुक वाक्य किस प्रकार में कहा गया ? कहनेवाला किस प्रकार का व्यक्ति है ? सुननेवाले में क्या विशेषता है ? इन सबको विशेषताओं से व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का हो जावेगा । 'सर्व अस्त हो गया' यह वाक्य (१) यदि युद्धकाल में राजा द्वारा अपने सेनापतियों से कहा गया तो इसका अर्थ होगा—आक्रमण करने का यही अवसर है । (२) यदि दूती नायिका से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'अभिसार में शीघ्रता करो ।' (३) यदि दूती वासवसम्प्रा से कहेगी तो इसका अर्थ होगा कि 'तुम्हारा भियतम जाने ही वाला है' । (४) यदि कोई मजदूर अपने छापी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब हमलोग काम बन्द करें' । (५) यदि नौकर ब्राह्मण से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब सन्ध्योपासन का समय हो गया' । (६) यदि कार्यवश बाहर जानेवाले शिष्यात्मा से यह वाक्य कहा जावेगा तो इसका अर्थ होगा—'दूर मत जाना' । (७) यदि कोई गृहस्थ किसी वस्तुचरानेवाले से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब जानवरी को घर में जाओ' । (८) दिन में यात्रा करनेवाला या घूर में काम करनेवाला यदि अपने वस्तुओं से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब घूर तेज नहीं रहो' । (९) यदि दुकानदार नौकरी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब बिछी की वस्तुओं को समेट लो' । (१०) यदि मोचित पतिका यह वाक्य अपनी सखी से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'भियतम अब भी नहीं आया, अब वियोग मेरे छिये असह्य हो रहा है' । इस प्रकार वाच्यार्थ केवल एक होता है और व्यंग्यार्थ अनेक, यह सदा मेद है ।

(७) विषयमेद—वाच्यार्थ सभी विषयों के प्रति एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ विषयों के अनुसार परिवर्तित होता जाता है । उदाहरण के लिये यदि कोई सखी नायिका के परकीय पुरत को छिपाने के लिये कोई बहाना बनाती है तो उस वाक्य का वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों के विषय में एक सा ही होगा, किन्तु व्यंग्यार्थ विषयमेद से भिन्न हो जावेगा । नायिका के विषय में उसका व्यंग्यार्थ और होगा, नायक के विषय में और होगा, वरपति के विषय में और होगा, इसी प्रकार पड़ोसी सपत्नी वत्सादि अत्येक व्यक्त के अनुसार उसका व्यंग्यार्थ बदल जावेगा । इसका उदाहरण 'कन्य का न भवेद्वेदो' इस पद्य के रूप में दिया जावेगा । इस प्रकार इन दोनों का विषयमेद होता है ।

यदि इनमे मेद होते हुए भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक ही जाने जावेंगे तो फिर मूल पीठ का मेद भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकेगा । जैसे तो समस्त दर्शनों का सार ही अमेदवाद है, द्वैतबुद्धि का निवारण ही धान की पराकाष्ठा है । किन्तु अमेद में मेद का देहना ही व्यवहार का परमात्र कारण होता है । पदों ने कहा है—'यद्यद्वारे मे मेद वा मदद्वेदुषो मे कारण बही है कि उन पर विरह बमों का अभ्यास कर दिया जाये और उनको उत्पत्ति विभिन्न कारणों में हो । विरह बमों का अभ्यास और विरह कारणों से उत्पत्ति ये दोनों इतु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विद्यमान हैं यह विस्तार के साथ दिखताया जा चुका है । अतः दोनों का एवम् एवम् मानना अनिवार्य है ।

सारावली

उपरोक्त विवेचन से यह निश्चय निकलता है कि जो विषय होता है उसी में तात्पर्य माना जाता है। अतएव जो उन्वर्तित शब्द है किसी वृत्ति के द्वारा उसी के अर्थ में तात्पर्य हो सकता है। इस प्रकार 'वत्सर' शब्द 'स शब्दार्थ' का यही आशय है कि वाक्य में विषय मान करके पदार्थों में वत्सर का तात्पर्य जिस अर्थ में होता है वही उसका अर्थ माना जाता है। न तो मनोत होनेवाला सभी कुछ तात्पर्यार्थ हो होता है और न व्यवहार्य का सनावेश तात्पर्यार्थ में हो हा सकता है। यदि जो कुछ भी जिस किसी भी सम्बन्ध से मीठा हो उसी में तात्पर्य माना जावे तो 'पहला मनुष्य दोड़ रहा है' इसका तात्पर्य दूसरे मनुष्य में भी माना जाने लगेगा। क्योंकि दूसरे के बिना पहला शब्द का कोई आशय ही नहीं है। तात्पर्यार्थ शब्दोपास अर्थ में होता है और व्यवहार्य उससे पृथक् रहता है। अतएव व्यवहार्य का समावेश तात्पर्यार्थ में नहीं हो सकता और न अभिधावृत्ति के द्वारा वह गतार्थ हो हो सकता है।

(प्रश्न) 'विष खानो और इसके घर में मत खाना' इसका तात्पर्य यह है कि इसके घर में नहीं खाना चाहिये। यही वाक्यार्थ है। 'विष खानो' का यह शब्दोपास अर्थ हो ही नहीं सकता और तात्पर्य इस अर्थ में माना ही जाता है। जब शब्दोपास अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ में तात्पर्य माना ही जा सकता है और उसमें अभिधावृत्ति से काम चल जाता है तब केवल स्त्री व्यापार पर कि व्यवहार्य शब्दोपास नहीं है उसे तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत क्यों नहीं माना जा सकता। (उत्तर) 'विष खानो और इसके घर में मत खाना' इन दोनों के बीच में 'और' यह सशेषक अव्यय रहता है। यह दोनों वाक्यों को एकवाक्यता सिद्ध करता है। दो वाक्योपास (पूर्वक्रियासम्बन्ध) वाक्यों का परस्पर अज्ञात्रीभाव हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार समान होने के कारण दो गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता वही प्रकार जबतक कोई प्रकृत वृत्ति न उपस्थित हो तबतक दो पूर्ण क्रियाओं का भी परस्पर अज्ञात्रीभाव नहीं हो सकता। न तो इन दोनों वाक्यों का कर्तृत्व कर्मण्य इत्यादि के रूप में कार्य हो सकता है। 'विष खानो' यह एक भिन्न ही सम्पत्ति है जो सर्वथा असम्भव है। अतएव इसका वाच्य हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'इसके घर में भोजन करना विषमन्त्र को अनेका भी अधिक हानिकर है'। इसप्रकार यह लक्ष्यार्थपरक वाक्य अज्ञ माना जाता है और 'जिसी भी प्रकार इसके घर में भोजन न करना चाहिये' इस वाक्य के हेतु के रूप में आ जाता है। इस प्रकार यहाँ पर शब्दोपास अर्थ में ही तात्पर्य है यह बात सिद्ध हो गई। लक्षणा यहाँ पर होती है नहीं पर वाक्य करने अर्थ में सज्ज न हो और उसकी सज्जति के लिये लक्ष्यार्थ दूसरा अर्थ लिखा जावे। व्यवहारा इसमें भिन्न होती है। व्यवहारा यहाँ पर हो सकती है यहाँ वाक्य का स्वतन्त्र अर्थ पूरा हो जावे और दूसरा अर्थ प्रतीय होने लगे।]

छायावती

अर्थात्तर सक्रमण इत्यादि हो सकते हैं । (३) व्यन्या के समान छत्रणा भी शब्द और अर्थ दोनों के अधीन होती है । क्योंकि मुख्यार्थ भी मुरयार्थसाध में निमित्त होता ही है । (४) व्यन्या के समान ही छत्रणा में भी प्रकरण इत्यादि अव्ययित होते ही हैं । कारण यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति छत्रणा को एक वस्तु नहीं दर्शित है और तात्पर्यानुपपत्ति ज्ञान के लिये प्रकरण ज्ञान निगमन अव्ययित होता है । इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि व्यन्या के समस्त अर्थ छत्रणा में मिल जाते हैं और इस बात को आवश्यकता नहीं रह जाती कि छत्रणा से प्रत्यक्ष व्यन्या नाम भी नहीं वृत्ति मानी जावे । अब कोई वैशम्भ्य है हो नहीं तब व्यन्या नाम की नहीं वस्तु मानने की आवश्यकता ही क्या है । यह समझ में नहीं आता ।

अब आये वक्त तर्कों की कुछ आलोचना कर लें—(१) यह तो माना ही जा सकता है कि छत्रार्थ नानाप्रकार के होते हैं । किन्तु यह अनेकरूपता व्यन्यार्थ की अनेकरूपता के समान नहीं होती, प्रत्युत वाच्यार्थ की अनेकरूपता में समान होती है । जैसे किसी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु किसी एक वाक्य में सर्वोप इत्यादि के द्वारा उन अर्थों का निवन्धन हो जाता है और एक शब्द का उस वाक्य में निश्चित अर्थ ही माना जाता है । उसीप्रकार किसी एक वाक्य में छत्रार्थ भी निश्चित ही होता है । एक ही वाक्य में कई एक अनिश्चित अर्थ नहीं हो सकते । जिस अर्थ का वाच्यार्थ से बाध सम्बन्ध ही न हो ऐसे अर्थ में छत्रणा की ही नहीं आ सकती । उदाहरण के लिये—‘गङ्गा में अक्षर का घर’ इस वाक्य में निश्चित रूप से गङ्गा का छत्रार्थ तब ही हो सकता है क्योंकि निश्चित रूप से गङ्गा शब्द का तब से ही सम्बन्ध है । इसके पतितुल्य व्यन्यार्थ एक ही वाक्य में संभव हो सकते हैं जैसा कि ‘सर्व भ्रम हो गया’ के विभिन्न व्यन्यार्थों की व्याख्या में दिखलाया जा चुका है । यह भी कोई नियम नहीं है कि व्यन्यार्थ कोई ऐसा ही अर्थ हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो, ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित न हो और ऐसा भी हो सकता है जहाँ वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध परम्परा के कारण प्रतीय होने वाले अर्थ की भी परम्परा स्थापित हो जा सके, अर्थात् अहाँ एक सम्बन्ध से एक अर्थ की प्रतीय हो और सम्बन्ध अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण दूसरा और फिर तीसरा अर्थ इत्यादि प्रतीय हो । यही इन दोनों की अनेकार्थता में भेद है । यहीलिये हम छत्रार्थ में व्यन्यार्थ का समावेश नहीं कर सकते ।

यहाँ पर कोई भी व्यक्ति यह तर्क कर सकता है कि छत्रणा को ही क्यों न निश्चित और अनिश्चित दोनों विषयों में मान लिया जाये ? केवल इतने के लिए एक प्रत्यक्ष वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता ? इस पर मेरा निवेदन है कि छत्रणा और व्यन्या में केवल वस्तु ही भेद नहीं होता, अपितु उनके अतिरिक्त भी कई अन्य बातों में भेद हुआ है । छत्रणा में

सारावती

अपूर्वता का सम्पादन करना चाहिये'। यहाँ पर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि स्वर्ग की अपूर्वता का सम्पादन कैसे किया जाता है। दूसरी ओर भवावस्थादि की विधि बतलायी गई है किन्तु उनका फल नहीं बतलाया गया है। दर्श और पूर्णमास में विधि को आकांक्षा है और फल बतलाया गया है तथा भवावस्थादियों में फल को आकांक्षा है और विधि बतलाई गई है। इस प्रकार प्रकरण से भवावस्थादियों की दर्शपूर्णमासकृता सिद्ध हो जाती है।

(५) स्थान अर्थात् समान देश में होना। इसी को क्रम कहते हैं। यह देश को समानता दोनों प्रकार की हो सकती है, पाद की भी और अनुष्ठान की भी। (६) समाध्या—अर्थात् शौचिक शक्ति। रुद्रिशक्ति का समावेश तिष्ठ में हो जाता है और शौचिक शक्ति समाध्या में आती है। श्रद्धा २ तत्त्वों के द्वारा यह नियंत्रण किया जाता है कि किस मन्त्र का विनियोग किस स्थान पर होगा। यदि इनमें परस्पर विरोध हो तो पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है। क्योंकि पर की उपस्थिति पूर्व की अपेक्षा विरम्य से होती है। जैसे मृत्ति के द्वारा तो शब्द सुनते ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है किन्तु तिष्ठ के द्वारा अर्थोपस्थापन में जानरीन करती पड़ती है। उदाहरण के लिये अग्निहोत्र के प्रकरण में एक श्रवण पढ़ी गई है—'कदाचन स्मरोरसि नेन्द्र सशसि दानुषे।' अर्थात् 'हे इन्द्र तुम कभी भी बातक नहीं होये हो किन्तु यदि देवेबाह्य के प्रति प्रसन्न होते हो।' इसके बाद लिखा है—'विन्दोक्त के द्वारा गार्हपत्य का उपस्थान करता है' यहाँ पर शब्द मृत्ति से तो यह शाव होता है कि इस श्रवण के द्वारा गार्हपत्य की पूजा की जानी चाहिये। किन्तु इन्द्र की स्तुतिरूप तिष्ठ से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें इन्द्र की पूजा होनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर मृत्ति और तिष्ठ का विरोध है। तिष्ठ दुर्बल है क्योंकि मृत्ति के बाद पढ़ा गया है। अब एक श्रवण से गार्हपत्य की पूजा की जायेगी इन्द्र की नहीं। (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें द्वापर भाष्य) अग्निषा और अथर्वना का निमित्त-नैमित्तिक भाव मान लेने पर ही इस सूत्र की सगति बैठती है। यदि शब्द मृत्ति के बाद जितनी भी उपस्थिति हो सब में अग्निषा स्थापित ही माना जाये तो उपस्थिति में न तो शीर्षपर्व हो सकता है और न इनमें एक की अपेक्षा दूसरा बलवान् ही कहा जा सकता है। अतएव इस सूत्र की सगति के लिये निमित्त-नैमित्तिक भाव मानना चाहिये। निमित्तत्ववैभिन्य के मान लेने पर हमारे प्रति अवस्था करने से और क्या छाम हो सकता है।

इस विषय में बान्धवप्रकाश में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है जिसका सार यह है—

परम विरोध—उक्त सूत्र की सगति के लिये अथर्वनामृत्ति के मानने को कोई आधारपट्टा प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार एक महावाक्य में छोटे-छोटे कई वाक्यस्थलों में किसी एक के अर्थ के पूर्व हो जाने पर भी अग्निषा एक एक विमान्त नहीं होती अब एक उस पूरे महा-

सारावली

वाक्यों में वही तो किया सुनाई पड़ती है और वही नहीं सुनाई पड़ती । जैसे 'गाय त्राओ' इस वाक्य में 'लाओ' यह किया सुनाई पड़ती है किन्तु 'दरवाजा दरवाजा' इस वाक्य में 'दन्द करो' इस किया का अर्थ छे लिखा जाता है । इससे सिद्ध होता है कि चाहे किया का उपादान वाच्यवृत्ति में हुआ हो अथवा उसका उपादान भवरूप इत्यादि का सहाय लेकर बुद्धि में ही कर लिया गया हो, प्रत्येक अवस्था में उच्य को प्राप्त कराई हुई किया ही वाक्य का अर्थ होती है । इसी प्रकार काव्यों में वही तो स्वाधीभाव का सामान्य उपादान होता है, जैसे 'नवोदा मितमा मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न कर रही है ।' यहाँ पर प्रेम का सामान्य उपादान किया गया है । वही नहीं उसका सामान्य उपादान नहीं होता, निरिच्छ रूप से केवल विभाव इत्यादि का उपादान ही होता है । किन्तु स्वाधीभाव के अभाव में विभाव इत्यादि हो ही नहीं सकते । अतएव प्रकरण इत्यादि का आशय लेकर किसी भावक के चित्त में सञ्चरणशील होकर भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किये हुए अपने अपने विभाव अनुभाव और सञ्चारीभावों के द्वारा सत्कार परम्परा से ॥॥ स्वाधीभाव अत्यन्त मौल्य हो जाता है । इस प्रकार वह स्वाधीभाव ही वाक्यार्थ होता है ।

'यहाँ पर यह अर्थ उठाया जा सकता है कि शब्दों के अर्थ को मिलाकर ॥ वाक्यार्थ बनता है । जो रति इत्यादि स्वाधीभाव किसी शब्द का अर्थ नहीं है वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि सात्वतगणिक का परवसान सदा कार्य में होता है । इसको हम प्रकार समझिये—'चाहे कोई वाक्य पौरुषेय हो चाहे अपौरुषेय, सभी वाक्य कार्य चरक होते हैं । यदि वाक्यों को कार्यपरक न माना जावे तो उन वाक्यों का प्रयोग ही व्यर्थ हो जावेगा और वे वाक्य पागलों की बकवासमान रह जावेंगे । अब यह प्रश्न होता है कि काव्य के शब्दों में प्रयोज्य (कवि) और प्रयोग्य (रसिक) की प्रवृत्ति क्यों होती है ? जब काव्य के शब्द होते हैं तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है और जब काव्य के शब्द नहीं होते तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्यवाक्यों का कार्य होती है । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि काव्य की अविभाज्य शक्ति भिन्न भिन्न रसों से आवृष्ट होकर उन रसों के छिये अपेक्षित विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है और अन्त में उसका परवसान रस में हुआ करता है । विभाव इत्यादि बदलते हैं और रस वाक्यार्थ होता है । इस प्रकार लौकिक वाक्य तो क्रियाचरक होते हैं किन्तु काव्यवाक्य रसरक हो होते हैं । वही इन दोनों का अन्तर है ।

'कुछ लोगों का कहना है कि यदि वाक्यार्थ स्वमात्रविधान हो जावे तब बाद में जो अर्थ निकलता है वह पक्षि हानी है । यदि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति के पहले ही दूसरा अर्थ निकलता है तो वह तत्परक होकर तात्पर्य होता है ।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि अन्वय

पारावती

अनुकूल है, 'टटना' सयोगकाल में ही उचित प्रतीत होता है और 'कामिनो' शब्द पौनः-
पुनः मदन विकार की अवस्था में ही अच्छा मालूम पड़ता है। 'कलाती' और 'दिनाकी'
ये दोनों शब्द जी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जब मन्त्रवादी शङ्करजी की निन्दा करते हुये
पारंगतोमी को शङ्कर जी से विरक्त करना चाहता है उस समय पूजा की व्यञ्जना के कारण
हराणी शब्द का प्रयोग ही उचित है। इसके प्रतिकूल जब कामदेव शङ्कर का सामना करने
की दम भरता है उस समय वीरता की व्यञ्जना करने के कारण 'दिनाकी' शब्द ही समोचन
है। यदि केवल अभिव्यक्ति ही मानी जावेगी तो दोनों शब्दों का अभिवेचन ही एक ही
होगा कि वह विमान-व्यवस्था कैसे बन नवैगी? अतः व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी
ही चाहिये।

(क) वस्तुतः बाष्पाय और व्यङ्ग्यार्थ में निम्नलिखित बातों से भेद होता है:—

(१) स्वरूप भेद—कहीं बाष्पाय विधिरक होता है और व्यङ्ग्यार्थ निषेधरक, कहीं
बाष्पाय निषेधरक होता है और व्यङ्ग्यार्थ विधिरक। कहीं बाष्पाय निश्चयरक होता है
और व्यङ्ग्यार्थ अनिश्चयरक, कहीं बाष्पाय अनिश्चयरक होता है और व्यङ्ग्यार्थ निश्चयरक,
कहीं बाष्पाय निन्दारक होता है और व्यङ्ग्यार्थ प्रशंसारक। इसप्रकार दोनों में स्वरूप-भेद
होता है। (इनके उदाहरण मूल में दिये गये हैं)

(२) काल-भेद—बाष्पाय सदा कारण होता है और व्यङ्ग्यार्थ कार्य। कारण कार्य से
सर्वदा पहले आता है। अतएव बाष्पाय पहले आता है व्यङ्ग्यार्थ बाद में। यह काल भेद है।

(३) आशय-भेद—बाष्पाय का आशय केवल वाक्य वा शब्द होता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ
का आशय वाक्य शब्द एव पदान्तर वर्ण रचना इत्यादि कोई भी हो सकता है।

(४) निमित्त भेद—बाष्पाय में निमित्त केवल आकारण कोश इत्यादि शब्दानुशासन का
हान होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में निमित्त शब्दानुशासन हान भी होता है और
मन्त्रण इत्यादि का हान, प्रतिमा की निर्मलता इत्यादि भी होते हैं। इस प्रकार इन दोनों में
निमित्त भेद है।

(५) कार्य अथवा प्रभाव भेद—बाष्पाय का हान ऐसे प्रत्येक व्यक्त को ही लक्ष्य है
जिसे शब्दानुशासन हान हो। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का हान केवल सहृदयों को ही हो सकता है।
दूसरी बात यह है कि बाष्पाय केवल मूर्ति का उपादक होता है जब व्यङ्ग्यार्थ सम्यक्
को भी उपादक करता है। इस प्रकार दोनों में प्रभाव भेद भी विद्यमान है।

(६) लक्ष्य भेद—बाष्पाय सभी समझनेवालों के लिये केवल एक प्रकार का होता है
किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रकाश इत्यादि के सहकार से अनेक प्रकार का हो जाता है। उदाहरण के
लिये एक वाक्य है 'शून्य अस्त हो गया।' इसके प्रतिकूल प्रतीतमान अर्थ नाना परिस्थितियों में
नाना प्रकार का हो जावेगा। हमें व्यङ्ग्यार्थ करने में इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि

वारावरी

होता है वही आधार पर वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। वही है अनुमान की प्रक्रिया। नव अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्य व्यञ्जकमान शब्दार्थ हो जाता है तब उसके लिए व्यञ्जना नामक एक पृथक् वृत्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस बात को ठीक रूप में समझने के लिए चरनिर्वाणियों के प्रसिद्ध उदाहरण 'अथ धार्मिक' 'इत्यादि पद्य का ले लीजिये—यहा पर कुछ की निवृत्ति गदावरी के तट पर सिंह की उपस्थिति के कारण अभ्रमण का अनुमान कराती है। उसको हम प्रकार समझिये—यहा पर व्याप्ति इस प्रकार होगी—'मात्रव्यक्ति का त्रिना भा अभ्रमण है वह मय के समस्त कारणों की निवृत्ति के साथ हुआ है।' यह है अन्वयव्याप्ति। यहा पर भी अभ्रमण साध्य है और मय के कारण का अभाव इतु है। इसकी व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार होगी—'अहाँ मय के कारणों के अभाव का ज्ञान नहीं होता वही भी अभ्रमण भी नहीं होता।' अर्थात् अहाँ मय के कारण विद्यमान होते हैं वही अभ्रमण नहीं होता। गान्धर्वी के तट पर सिंह का मय विद्यमान है, अतएव वही पर अभ्रमण नहीं हो सकता। वही पर गदावरी का मय है। मय का कारण सिंह हेतु है, अभ्रमण साध्य है, पर उदाहरण है। (पर में मय का कारण नहीं है, अतएव अभ्रमण किया जाता है।) इस प्रकार वही पर अनुमान प्रमाण से अभ्रमण का अभाव सिद्ध हो जाता है, उसके लिए व्यञ्जनवृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। महिम मट्ट ने वस्तुव्यञ्जना के दूसरे उदाहरणों में भी अनुमान से प्रक्रिया दिखाई है।

यह III दुर्ग वस्तुव्यञ्जना की बात। रत्नवचना के शिष्य में भी वही कहा जा सकता है। इसमें बिनाश इत्यादि हेतु होते हैं और रत्न साध्य। उदाहरण के लिये राम का सीता के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। उसमें अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—'राम सीताविषयक रति से मुक्त है, क्योंकि जन्मे शिवत कटाक्ष इत्यादि अपूर्व भावा में विद्यमान हैं, वही गित कटाक्ष इत्यादि अपूर्व भावा में विद्यमान होते हैं वही रमणाविषयक रति विद्यमान होती है जैसे दुष्कृत की रति शकुन्तला के प्रति, उसीप्रकार राम में भी चट्टाये हैं, अतएव राम भी सीताविषयक रतिमान् हैं। यह साध्यसिद्धि अन्वयव्याप्ति के द्वारा हुआ है। व्यतिरेकव्याप्ति से साध्यसिद्धि इस प्रकार होगी—'अहाँ रमणाविषयक रति नहीं होती वही अपूर्व गित कटाक्ष इत्यादि भी नहीं होता। जैसे छद्मना में रमणाविषयक रति महा है जब उन्ने कटाक्ष भी नहीं है। इस प्रकार सव्य अनुमान से ही काम चल सकता है, व्यञ्जनवृत्ति मानना व्यर्थ है।'

अब महिम मट्ट के सिद्धान्त का साग निभा गया है। इस पर चरनिर्वाणी का कहना है कि—'आपने साध्यसिद्धि के लिये जो हेतु लिये हैं वे हन्तामयमान हैं। 'अथ धार्मिक' में ज्ञान करते हैं कि अभ्रमण और मय हेतुओं के अभाव में व्यञ्जक व्यक्त मात्र सम्भव है। अगर ऐसा मनन यह है कि भाषा की भाषिका जिस व्यक्ति का सिंह की रात कहकर अभ्रमण से रोकना चाहती है वह भीक है या शोर है? ऐसे अनेक कारण हैं। बहुत हैं त्रिनये भी-

सारावती

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद होता है उसी प्रकार वाचक शब्द और व्यङ्गक शब्द में भी भेद होता है। वाचक शब्दों को संकेतग्रह को अपेक्षा होती है किन्तु व्यङ्गक को ऐसी अपेक्षा नहीं होती। व्यञ्जना केवल एक शब्द से ही नहीं होती—किन्तु पदान्तरों अथवा केवल भाषा से भी हो सकती है जिसका कोई अर्थ हो नहीं जाता। जिस व्यक्ति ने संकेतग्रहण न किया हो वह भी व्यंग्याय के ग्रहण कर लेता है समर्थ हो जाता है। कभी कभी तो शब्द के अभाव में भी केवल चेष्टा ही व्यङ्गक हो जाती है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं तथा वाचक शब्द और व्यङ्गक शब्द भी भिन्न ही हैं। अनुसूचक गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीक्षा किये बिना वाच्यार्थ ही काम्यान्वित हो जाता है। इसके बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीक्षा होती है जिसका अपेक्षा नहीं किया जा सकता। यदि व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार नहीं की जावेगी तो बाद में प्रतीत होनेवाले व्यंग्यार्थ में किन वृत्ति का सहारा दिया जावेगा। ऐसे स्थान पर अभिधा से काम नहीं चल सकता, क्योंकि आपके सिद्धान्त के अनुसार अभिधा विवेक में ही होती है और विवेक तो वाच्यार्थ ही होता है। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का किसी भी प्रकार अभिधा में समावेश नहीं किया जा सकता।

—छज्जना और व्यञ्जना का भेद—

ब्रह्म विद्वान् छज्जना को तो अभिधा से भिन्न मानते हैं किन्तु व्यञ्जनावृत्ति को भङ्गीकार करना नहीं चाहते। वे छज्जना का अन्तर्भाव छज्जना में करते हैं। इसका कहना है कि व्यञ्जना के भङ्गक कर्म केवल चार हैं। (१) व्यंग्यार्थ एक नहीं किन्तु अनेक प्रकार का होता है। (२) वह व्यक्ति अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। (३) उसकी प्रतीति शब्द और अर्थ दोनों के आधीन होती है। वह प्रकार्य इत्यादि की अपेक्षा रहता है। यही सब बातें छज्जना में भी पाई जाती हैं। (१) व्यंग्यार्थ भी एक नहीं अनेक प्रकार का होता है। उदाहरण के लिये राम शब्द को ले लीजिये—‘मैं राम हूँ सब कुछ सह रहा हूँ मैं राम का व्यवहार होगा—‘मैं तो कुछ सहने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे माथ में सुप्त बहरी है’ इसी प्रकार सीता परित्याग के अवसर पर ‘हे प्रिये’ अपने जीवन का मोह रहनेवाले ‘राम ने’ प्रेम के निर्वाह के लिये वचन कार्य नहीं किया।’ यही पर राम का व्यवहार होगा—‘मैं सीता-परित्याग जैसे निर्दय कर्म का करनेवाला हूँ। मुझ जैसा कुल्ल तथा प्रेम का भ्रष्ट व्यवहार करनेवाला दूसरा नहीं हो सकता। इसी प्रकार ‘वह राम है जो भुवन में महती ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।’ यही पर ‘राम’ शब्द का व्यवहार होगा—‘सद्वृत्त जैसे बीरों का सब करनेवाले पराक्रमी राम।’ इस प्रकार एक ही राम शब्द के अनेक अर्थ हो गये और व्यञ्जना का प्रथम भग्न अनेक व्यर्थों का प्रतिपादन करना शब्दा में भी भिन्न गया। (२) व्यञ्जना के समान शब्दा में भी

सारावली

जाता है उसकी व्याख्या किस प्रकार की जावे ? निश्चित ही है कि उसकी प्रतीति अनुमान से हो ही नहीं सकती, उसके लिये व्यञ्जनावृत्ति माननी ही पड़ेगी । इस प्रकार महिम मय का सिद्धांत सर्वथा निस्तार सिद्ध हो जाता है ।

—वेदान्तिनों और वैय्याकरणों का अलण्डतावाद और व्यञ्जना—

सो लोग यह कहते हैं कि अलण्ड स्फोट ही वाचक होता है और वही वाच्य होता है, उन्हें भी व्यवहार मार्ग में आकर इस समस्त प्रक्रिया का आशय लेना ही पड़ेगा । व्यवहार मार्ग का अतिरम्य कर परमार्थ सत्ता को ही स्वीकार करनेवालों के लिये तो समी दुःख परमात्मा से अद्वय अक्षय ही है यह बात हमारे शास्त्रकार, तत्कालीन प्रथम की रचना करने वाले ज्ञानानन्दवर्धनाचार्य जी द्वारा न हो यह बात नहीं है ।

[अलण्डतावादी दो हैं—एक तो वेदान्ती, दूसरे वैय्याकरण । इनके मत का सार निम्न लिखित है —

वेदान्ती लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नामास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अलण्ड ब्रह्म की सत्ता मानकर बाह्य सृष्टि का निषेध करते हैं । उसीप्रकार अलण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परब्रह्मात्मक वाक्यार्थ को ही वाच्य मानते हैं और इस प्रकार की बुद्धि में निमित्त वाक्य को ही वाचक मानते हैं । इन लोगों का आशय यह है कि किया कारण भाव तब तक सम्भव नहीं है जब तक बर्ण और धर्मों का माप महीनता न कर दिया जावे । बर्ण धर्मों माप सत्ता के विस्था होने से असम्भव है । ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से रहित है और ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है । अतएव पद-पदार्थ विभाग के बिना ही अलण्ड महारात्म्य ही अलण्ड ब्रह्म का बोधक होता है । इस प्रकार वाक्यार्थ व्यञ्जार्थ में भी वाक्य की ही शक्ति होती है । अतएव वेदान्तिनों के मत में व्यञ्जना वृत्ति सभी चीज नहीं बही का सकती । इनके मत में वाक्य से भी अभिप्रेत, लक्ष्य, व्यञ्ज या व्याप से भी बढ़ कर जितना भी कार्य निकलता है उस समस्त कार्य में वाक्य की ही शक्ति होती है । वाच्य लक्ष्य व्यञ्ज इत्यादि विभेद वेदान्त मत के प्रतिकूल है ।

वेदान्तिनों से ही मिलता-जुलता वैय्याकरणों का भी मत है । वैय्याकरण अलण्ड स्फोट की ही वाच्य मानते हैं । उनके मत में शब्द के दो भाग होते हैं ध्वनि और स्फोट । ध्वनि हमें सुनाई देती है किन्तु उसका वाच्य स्फोट हुआ करता है । मोक्ष ध्वनि में होता है स्फोट में नहीं । नाभि से चलने वाली वायु मुखमण्डल से बाहर निकल कर ध्वनि उत्पन्न किया करती है । 'क' ख' 'ग' इत्यादि मय मुख मण्डल में ही होता है, इसके पहले सभी ध्वनि अलण्ड तथा पदरूप होते हैं । यह ध्वनि स्फोटावस्था की जाती है । नागार्जुन ने मन्दारामें लिखा है—'एव वाक्यस्फोटो मुखो हाके टेनेशर्षोवाधनेशर्षसमासेव' अर्थात् स्फोट में वाक्यस्फोट मुख होता है स्फोटिक वाक्य से ही शर्षबोध होता है और वाक्य से ही शर्ष की समझ होती है । शिष्य

सारावती

नियमानुसूल मुख्यार्थवाध अवश्य होता है किन्तु व्यञ्जना में ऐसा नहीं होता। आचार्यों ने व्यञ्जना के दो भेद किये हैं (१) अविवक्षितवाच्य लक्षणा मूलक ध्वनि और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलक ध्वनि। प्रथम प्रकार में मुख्यार्थवाध होता है किन्तु द्वितीय प्रकार में मुख्यार्थवाध की अपेक्षा नहीं होती। लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं—निरुद्धा और प्रयोजनवती। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति बिना व्यञ्जना में नहीं हो सकती। उसके लिये व्यञ्जना का मानना अनिवार्य है। अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का समावेश कथमपि सम्भव नहीं है।

अभिधा के समान ही व्यञ्जना में भी मुख्यार्थवाध इत्यादि तीन हेतुओं की आवश्यकता नहीं होती। लक्षणामूलक व्यञ्जना में लक्षणा के पीछे व्यञ्जना चलती है। पहले लक्षणा हो जाती है फिर प्रयोजनप्रतिपत्ति के लिये व्यञ्जना का आशय लिया जाता है। निमित्त और प्रयोजन कभी एक नहीं हो सकते। व्यञ्जना सर्वदा लक्षणा के पीछे ही चले ऐसा भी नहीं होता। क्योंकि अभिधामूलक व्यञ्जना में लक्षणा होती ही नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा अभिधा और लक्षणा दो में एक के पीछे चलती है। क्योंकि व्यञ्जना अर्थ की अपेक्षा से रहित वर्णमात्र में भी हो जाती है। कोमल, कठोर इत्यादि वर्णों से माधुर्य और रुपादि गुणों की व्यञ्जना होती है और उससे रसादि की व्यञ्जना हो जाती है। यह भी नियम नहीं बनाया जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा शब्द के द्वारा ही होती है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि नायिका ने अपने नेत्र के झारे से ही अपना मनोभाव सूचित कर दिया। यह सूचना केवल व्यञ्जनावृत्ति से ही हो सकती है। लक्षणा ऐसे स्थान पर हो ही नहीं सकती। संक्षेप में लक्षणा और व्यञ्जना में निम्नलिखित छः बातों में भेद होता है—

(१) व्यञ्जना के अर्थ अनन्त हो सकते हैं किन्तु लक्षणाजन्य अर्थ सीमित होते हैं।

(२) लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ से सम्बन्धित ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं।

(३) लक्षणा में शक्यार्थवाध होता है किन्तु व्यञ्जना में नहीं।

(४) प्रयोजनवती लक्षणा में व्यञ्जना लक्षणा के पीछे रहती है।

(५) अभिधा के समान व्यञ्जना में भी विशेष प्रकार के संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जना में नहीं होती।

(६) व्यञ्जना लक्षणा में भी होती है, अभिधा में भी होती है, वर्णमात्र में भी होती है और संकेतमात्र में भी होती है। लक्षणा का शब्दावित्सार नहीं होता।

—ध्वनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना—

दशरूपप्रकार वनमय और अशोक टीकाकार ध्वनिक ने ध्वनिसिद्धान्त का अन्तर्भाव तात्पर्यवृत्ति में ही करने की चेष्टा की है। उनके कथन का सार इस प्रकार है—‘लीङ्गिक

लोचनम्

यत्तु महनायकेनोक्तम्—इह दृष्टसिंहादिपदप्रयोगे च धामिकपदप्रयोगे च मयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः । तदीयमीरवीरस्वप्रकृतिनिधमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति, तन्न, केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति । तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तुविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननस्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति । प्रतिपत्तुप्रतिभासहकारित्वं अस्माभिर्घोषितस्य प्राणत्वेनोक्तम् । मयानकरसावेशश्च न निधार्यते, तस्य मयमात्रोपपन्नमनुपगमात् । प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसामिव्यक्तयैव । रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दावाच्यात्वं सेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव । प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, महासौ नियमन मीरुधामिकममझवारी सद्गद्यः ।

जो कि महनायक के द्वारा कहा गया है—यहाँ पर दृष्टसिंह इत्यादि शब्द के प्रयोग तथा धामिक इत्यादि शब्द के प्रयोग में मयानक रस आवेश से उत्पन्न निषेध की प्रतीति होती है । उसके मीर या वीर स्वभाव के नियम के बिना जाने हुए अकान्तन निषेध की अवगति हो ही नहीं सकती, अतएव केवल अर्थसामर्थ्य ही निषेधावगति में निमित्त नहीं है । यहाँ पर कहा जा रहा है—यह किसने कहा कि वक्ता तथा प्रतिपत्ता की विशेषता के दान के बिना ही शब्दगत ध्वननम्भाषार के अभाव में ही निषेध की अवगति होती है । प्रतिपत्ता की प्रतिभा के सहकार का होना हम लोगों ने चोतन के प्राण के रूप में कहा है । मयानक रस के आवेश का भी निवारण नहीं किया जा रहा है क्योंकि वक्त (धामिक) की मयमात्र की उचित मान ली गई है । प्रतिपत्ता का रसार्थनिवेश रस की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होता है और रस व्यङ्ग्य ही होता है । उसकी शब्दावाच्याता तो उनके द्वारा भी स्वीकृत नहीं की गई है । अथ व्यङ्ग्य ही है । प्रतिपत्ता का रसावेश नियत नहीं है । यह सद्गद्य नियमत मीर धामिक के सहज ही नहीं है ।

तारावती

—दूसरे प्रमाण तथा व्यञ्जना—

ऊपर दिखाया जा चुका है कि शब्द की विभिन्न कृतियों, अनुमान प्रमाण तथा अल्पद लावाद व्यञ्जना को आत्मसात् ही कर सकते हैं । इसी प्रकार दूसरे प्रमाणों से भी व्यञ्जना ग्राह्य नहीं हो सकती । एतद्ग दान में इन्द्रियां करण होती हैं और जो दान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे अलग कहते हैं । अस्तु न स्थापन में न तो मिद ही सन्निकर्ष है जिससे उसका चाटुष प्र दान हो सके और न लयिका अपने मुख से ही कहती है कि—'दे महामन् ! अब तुम स्नेहावरी तन पर प्रमथ करने लग जाया कर। क्योंकि तुम्हारे यही जाने से हम रंगों को मेरे हृदय से विजय परता है ।' इस प्रकार यही पर माधव मन्दाप ही नहीं हो सकता । स्थान प्रमाण में सादृश्य दान कारण होता है यहाँ पर सादृश्य दान है

तारावती

पूर्ण अर्थ नहीं निकल जाता तब तक वाक्यार्थ की विभ्रान्ति असम्भव है। 'तात्पर्य की विभ्रान्ति किसी नियत अर्थ तक ही होती है, शेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है' इसमें निश्चय कौन बनायेगा ? तात्पर्य ताराज पर छोटा हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है। उसका प्रसार वहाँ तक होता है जहाँ तक पूर्ण कार्यपरता सिद्ध न हो जावे। वस्तुतः 'हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर भूमि' इस वाक्य में श्रोता को आवागम्यपूति विधिवरक अर्थ में हो जाती है, इसीलिये आप निषेधरक अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। इसके प्रतिकूल वक्ता को इच्छापूति निषेधरक अर्थ में होती है, अतएव निषेध को वाक्यार्थ माना जाना चाहिये। यह है धनन्य तथा धनिक के मत का सार।

इस पर मेरा निवेदन यह है कि यह पहले दिखलाया जा चुका है कि अग्नि केवल वाक्य में ही नहीं होती किन्तु पद में भी होती है, शब्द में भी होती है और पदांश में भी होती है। इसके अविरुद्ध ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उच्चारण विन्मुक्त नहीं होता। यदि रगमञ्च पर कोई विद्वत्क अपनी विचित्र आकृति के प्रभाव से समस्त दसकों को हँसा दे तो बिना दागर के ही वहाँ पर हास्यव्यङ्गि हो जावेगी। ऐसे स्थानों का निर्वाह आप तात्पर्यवृत्ति के द्वारा नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि तात्पर्यवृत्ति एक पारिभाषिक शब्द है। इसका परम्परागत अर्थ ही सेना होगा। अविहितान्यवदादी अक्षिप्त में शक्ति नहीं मानते। उनके मत में शक्ति के द्वारा केवल पदार्थोपस्थिति हो सकती है। अन्यथा के लिए उन्हें धृक् ही तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है। अब तात्पर्य शब्द एक अर्थ में रुढ़ हो चुका तब उसे आप मनमाने स्थान पर प्रयुक्त नहीं कर सकते। आपकी तात्पर्यवृत्ति व्यञ्जना के बहुत निकट है। अतएव उसके लिए आपको तात्पर्य से भिन्न ही कोई वृत्ति माननी पड़ेगी और वही है व्यञ्जनावृत्ति।

—महिममद का अनुमितिवाद और व्यञ्जना—

मेधाधिक महिम करने अपने अतिविवेक ग्रन्थ में व्यञ्जना की अनुमान में गद्यार्थता दिखलाई है। कादम्बरिकाकार ने उनके सिद्धान्त का सार इस प्रकार दिया है—'द्विसे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं है सबकी जिसका सम्बन्ध वाक्यार्थ से न हो। यदि असम्बन्धार्थ भी प्रतीति का विषय हो जावे तो चाहे किन्तु शब्द से चाहे जो अर्थ निकलने लगे। अतएव मानना पड़ेगा कि व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा वाक्यसम्बद्ध अर्थ ही प्रतीतिगोचर होता है। अतएव इसकी एक व्याप्ति बन जाती है—'वहाँ जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ वाक्य का सम्बन्ध अवश्य होता है' यह है अन्यदव्याप्ति। 'जहाँ जहाँ वाक्य का सम्बन्ध नहीं होता वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती' यह है अतिरेकव्याप्ति। स्वार्थानुमान में तीन श्रेणें होती हैं—(१) साध में रहना, (२) विषय में न रहना (३) साध में विद्यमान रहना। तीनों श्रेणें प्रस्तुत व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-मार्ग के विषय में लागू हो जाती हैं। वाक्य का सम्बन्ध लिङ्ग (हेतु) है और व्यङ्ग्यार्थप्रतीति टिप्पणी (साध) है। व्याप्ति के साथ व्यङ्ग्यार्थता के ज्ञान से जो लिङ्गपरानर्त

सोपनम्

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि यत्प्रतिपत्तप्रतिमा-प्राणिलो ध्वननस्यापार किं न सहाते । किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुप्रादक-समर्प्यत इति सुष्ठुतरा ध्वनिध्वनिसौधम् । यदाह—‘क्रोधोऽपि देवस्य वरन तुल्य’ इति । अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्, तर्ह्ये न सहत । अथ वस्तु मात्रध्वनेरेतदुदाहरणम् युक्तमित्युच्यते तथापि काव्योदाहरणस्याद्वाक्यस्य ध्वनः स्त को दोषः ?

यदि तु रसानुबोधेन विना न कल्प्यति, तत् मयानुसरमानुबोधो मात्र सहद-गृहदयदर्पणमध्यास्ते, अपितु जननीत्या सम्भागाभिलाषविभावसङ्केतस्थाना विवक्षितकारकाद्यनुभावजबलमादितशृङ्गाररसानुबोधः । रसस्यालौकिकवासा व मायादव चानवगमात्प्रथम निर्विवादसिद्धविवक्षविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायण चेतद्वस्तुध्वनरुदाहरणं तत्तम् ।

यदि उसकी विगपता भी सहकारी मानो जावे तो क्या और प्रतिपत्ता की प्रतिभा है अनुप्राणित ध्वननभ्यापार ही सहन क्यों नहीं कर दिया जाना । दूसरी बात यह है कि वास्तु ध्वनि में क्षण निष्ठता है दुये उसके अनुवादक के रूप में रसध्वनि का समर्पण कर दिया गया वह ध्वनि का बहुत ही अच्छा ध्वन हुआ । जैसा कि कहा गया है—‘देव का रूप भी वर दान के समान है ।’ यदि इस (भजन) से रस की हो यथानता बगुनार्ह नहीं है तो उसे क्यों नहीं सहता । यदि ‘वस्तुमाध्वनि का वह उदाहरण उचित नहीं है’ यह कहा जाना है तबपि काव्य का उदाहरण होने के कारण वहाँ पर दोषों की ध्वनिवाँ हो क्या दोष है ?

और यदि रसानुबोध के बिना सन्तोष न होता हो तो मयानक रसानुबोध सहदय दर्पण में आरुढ़ नहीं होता अपितु उक्त नीति से सम्भागाभिलाषरूप विभाव, सचेतनजन के योग्य विनिर्दिष्ट कवु इत्यादि अनुभाव के परकीभूत सम्मिश्रण से उत्पन्न शृङ्गार रसानुबोध ही (मानना उचित है) । रस के अलौकिक होने के कारण केवल उतने से ही अवगमन हो सकन ॥ निर्विवाद सिद्ध तथा (परस्पर) निरपेक्ष विधिनिषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से वह वास्तुध्वनि का उदाहरण दे दिया गया है ।

कारावधा

कल्पनावे और कृता सरदस माल करने से तो बड़ी धन्य है कि क्या भाग क्या सहन की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननभ्यापार का ही अर्थ क्यों नहीं मान लेते ? दूसरी बात यह है कि आपन वास्तुध्वनि का तो खण्डन किया, किन्तु उसकी महारविता रसध्वनि को आरने रवीकार कर दिया । वह आपका ध्वनिसिद्धान्त का शक्यता क्या ही अच्छा रहा । ठीक ही कहा गया है कि आपका वा काव्य भी हमारे लिए बरदान ही सिद्ध हुआ । यदि कहा कि यहाँ रस की यथानता है, तो हममें भी येरी कई ध्वनि नहीं । अर्थ यहाँ पर बर सहने

छोषभम्

येऽप्यविमर्शं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यावद्यापदपरितेः सर्वेयमनु-
सानीया प्रक्रिया । तदुत्तीर्णये तु सर्वं परमेश्वरादयः ग्रहोत्पत्त्यस्मच्छास्त्रकारेण न
न विदितं तत्प्राप्त्योक्तं ग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम् ।

और इन लोगों को भी जो अविमर्श स्फोट, वाक्य, तथा उसका (अविमर्श) भाग
मानते हैं, उन्हें भी अविद्या के मार्ग में (व्यवहार मार्ग में) आने पर इस समस्त प्रक्रिया का
अनुसरण करना होगा । उसको उत्तीर्ण करने पर (व्यवहार मार्ग को छोड़ देने पर) सभी
कुछ भ्रष्टादत्त ही है यह बात तत्प्राप्त्योक्त ग्रन्थ की रचना करनेवाले हमारे शास्त्रकार ने नहीं
जान पाई थी यह बात नहीं है बल्कि अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

सारावली

व्यक्ति को भय के ग्यानों पर भी भ्रमण करना पड़े । शुभ की आशा, स्वामी की आशा, मेवसो
का भ्रम इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे भय के स्थान पर भी भीष व्यक्ति भ्रमण करता हुआ
पाया जा सकता है । अतएव जहाँ भी भीषभ्रमण होता है वहाँ भय का कारण सन्निहित नहीं
होता, इस व्याप्ति में हेतु की अनेकान्वितता के कारण सम्प्रतिष्ठा होनामात्र हो गया । यदि
निर्लेप्य व्यक्ति बीर है तो वहाँ पर विरुद्ध होनामात्र हो जावेगा । विरुद्ध होनामात्र वहाँ पर
होता है वहाँ हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करे । वहाँ पर अभ्रमण साध्य है, उसका अभाव
इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँ कहीं घोर इत्यादि जीव होते हैं वहाँ बीर
व्यक्ति उसका बंध करने के लिये भ्रमण किया ही करते हैं । यह तो हो ही सकता है कि
कुछ के स्वर्ग भय से अथवा उसके मारने में बन्ध न होने के कारण बीर व्यक्ति कुछ से डरे,
किन्तु जहाँ उसे सिद्ध का ज्ञान हो जाने नहीं वह निर्भय होकर धूँसा करे । ऐसी दशा में भय
का कारण अभ्रमण में हेतु हो ही नहीं सकता । अनुमान के लिये पक्षधर्मता का निश्चित होना
सबसे बड़ी बात है । जब तक यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होगा कि पक्ष से भुँभा चढ़ रहा
है तब तक उसके आधार पर पर्यंत में आग सिद्ध हो ही नहीं सकती । यदि हेतु को ही सिद्ध
करने की आवश्यकता पड़े तो अमिद्ध होनामात्र हो जाता है । वहाँ पर मोटावरी के तट पर
सिद्ध का होना हेतु है । किन्तु यह स्वयं सिद्ध नहीं है कि वहाँ पर सिद्ध है या नहीं है,
सिद्ध का होना एक कुट्ट्या के बच्चों से सिद्ध होता है । कुट्ट्या के बच्चों का प्रमाण ही
क्या ? इस प्रकार वहाँ पर अर्थ से निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण अमिद्ध होनामात्र हो
जाता है और साध्य सिद्ध हो ही नहीं सकती, अतएव अनुमान से उक्त उदाहरण ग्राह्य
नहीं हो सकता ।

अब रसप्रक्रिया को ले लीजिये । बटोरा इत्यादि से राम के रतिभाव का अनुमान तो हो
सकता है किन्तु वहाँ पर राम के रतिभाव का प्रश्न नहीं है । वहाँ पर प्रश्न यह है कि
राम के रतिभाव से सहृदय परिणीतों के हृदयों में जो कीतुहल निश्चित आनन्द उत्पन्न हो

लोचनम्

तद्वक्ष्यामि तत्तयोपश्रावितोऽसौ, स चाधुना तु दत्तवाचतो महानन्निस्सरतीति
प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूत का कथा तल्लतागहन
प्रवेशशङ्क्यतिमात्र ।

रणा के लिये इस धार्मिक को उस सिंह के निवास की बात उस नाविका द्वारा सुना दी गई
थी, वह इस समय तो इस होने के कारण उस वन से निकलता है अतः प्रसिद्ध गोदावरी के
तट के विस्तार में तुम्हारा धूमना भी बड़ा श्रेष्ठ हो गया है, उस लतागहन के प्रवेश की शङ्का
की ही क्या बात ?

सारावली

ध्वनि की व्याख्या करने के लिये कथन एक महानव ने किया है—‘या तो तात्पर्यशक्ति
को ध्वनि कहते हैं या विवर्णित शब्दों के अनुमान लगाने को।’ यह व्याख्या सुने बचकर
मंथित नहीं होती। कालिदास ने कहा है कि ‘लोकां की रचियां भिन्न मकर की होती हैं।’
इस संबंधी प्रसंग विस्तारपूर्वक व्याख्या की जावेगी।

यहाँपर भ्रम का वाच्यार्थ है—मेरे तुम्हें स्वच्छन्दचरण की अनुमति दे रही हूँ, अब
तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है (व्यर्थार्थ है तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिये) ‘धार्मिक’
सम्बोधन का वाच्यार्थ है धर्म करनेवाले अर्थात् बुद्धिमानों की सलाहों से तुम्हें बचने की जरूरत है
तुम्हें वहाँ जाना ही है (व्यर्थार्थ—तुम धर्म करना जानते हो, तुम्हें इस प्रकार के भ्रम का
सामना नहीं करना चाहिये) ‘विमर्श’ का वाच्यार्थ है—तुम्हारे मन और आकाश का
परस्पर कृत्तान्त नष्ट हो। तथा अब तुम आरम्भ करो। (व्यर्थार्थ है अमानव तुम कुत्ते से ही
होते हो अब वहाँ मत आ गया है, अब तुम्हें आरम्भ करने की जरूरत नहीं रहना चाहिये) ‘म’
का वाच्यार्थ है कि तुम कुत्ते के कारण तुम्हारी अगलता को जाने लगने लगे। व्यर्थार्थ है—जब
उस दुष्ट कुत्ते का ही तुम भावना नहीं कर पाते तो सब भ्रम के सामने जानेपर तुम्हारी क्या
शक्ति हो जायेगी।) अब का वाच्यार्थ है आज तुम भागवतालो हो जो कि तुम्हारा
मन का कारण दूर हो गया। (व्यर्थार्थ है—दूर ने आज ही तो कुत्ते को मारा है अभी वह
वही है अभी दूर नहीं गया)। ‘मारि’ का वाच्यार्थ है मार डाला गया और व्यर्थार्थ
है जो भावना की शक्त में आता ही है पुनः नहीं आवेगा वह निश्चित नहीं है। ‘तेन’
उस भ्रम का सौजन्यपूर्ण विवरण है। इसका व्यर्थार्थ है—नादिका ने सभी शब्दों के
कारण परसे ही उस भ्रम के अन्तर्गत ही पर कुत्ते से निशाम की सूचना भेज दी थी। अब
वह शब्द बंद नहीं है कि सिंह के आगमन पर निशाम की बात तो तुम सुन ही चुके
हो। अब एक वह भ्रम कुत्ते से ही रहता था, अब ऐसा संदेह हो गया है कि दिन में भी
निशाम का अनुभव विश्व करता है। अतएव तुम्हारे रत्ना वन में प्रवेश की बात तो दूर रही
तुम्हारा भ्रम ही परमात्म पर भ्रमण करना भी बचाव हो गया है। इस प्रकार वाच्यार्थ
विधायक है और व्यर्थार्थ निवर्तक।

सारावर्ती

प्रकार पट शब्द में चार वर्ण हैं—‘पू’ ‘अ’ ‘ट्’ ‘भ’ इन चारों वर्णों का पूषक् पूषक् कोई अर्थ नहीं, उसी प्रकार ‘राम धम्म आनयनि’ में पूषक् पूषक् शब्दों का कोई अर्थ नहीं। समस्त अण्ड्य वाच्य ही सार्वक होता है, वाच्यान्तगत शब्द सर्वथा निरर्थक होते हैं। इसी लिए धैय्याकरण अण्ड्य में विचार नहीं मानते। इत्यादि शब्द में ‘ह’ के छिद्र ‘य’ नहीं होता किन्तु ‘इनि + आदि’ इस समूह के स्थान पर ‘इयादि’ यह पूरा समूह हा जाता है। इसी छिद्र धैय्याकरण ‘सर्वे सर्वार्थवाचका’ का सिद्धान्त मानते हैं। इनका कहना है कि प्रत्येक वाच्य प्रत्येक अर्थ का वाचक हो सकता है। इस प्रकार इनके मी मय में अनन्तरादि में मानना ठीक नहीं।

उक्त अण्ड्यवादिनों के सिद्धान्त के विषय में मुझे यह कहना है कि वेदानी लोग अण्ड्य श्रम को मानते हुए भी व्यवहारदशा में वस्तुसत्ता मानते हो हैं। अधिवाच्य साक्षात्क वदार्थों का भान होता है जिससे व्यवहार चलता रहता है। इस व्यवहारदशा के लिए उन्हें भी पर पदार्थ धन्यता करनी पड़ता है। इसीलिए कहा गया है—‘अनन्तरमेव वाच्यमनादिषोडशगिण्ठीकादवर्णविभागनस्या निष्पन्नम्।’ अर्थात् वाच्य सर्वथा अनन्तर ही होता है। उसमें अधिवाच्य के कारण पर तथा वर्ण को क पना कर लो जाती है और वे असत्य पर तथा वर्ण ही व्यवहार दशा में उस वाच्य में कारण होते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध है कि ‘व्यवहार मान्य’ व्यवहार दशा में जुनारिल भट्ट का नोति का अनुपकरण किश जाता है। मूटमन में व्यवस्था की वर्ण आवश्यकता है यह पहले होवना या चुका है।

धैय्यकरणों के मत में भी समस्त वाच्यों के समस्त अर्थ बताना देना अभिमत है। अन्तर वर्णों और वर्णों की धन्यता कर ली जाती है। प्रक्रिया दशा में उन्हें भी वाच्य का शब्दों में और शब्दों को वर्णों में तोड़ना पड़ता है। अन्यथा व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उन्हें भा अधिवाच्य इत्यादि वृत्तिश माननी पड़ेंगे और व्यवस्था का वे भी व्यवस्था नहीं कर सकते। मनुहरि ने कहा है—‘प्रकृति मध्यम या पर इत्यादि विज्ञाने भी विभाग है उनका सिद्ध करने के विज्ञाने भा वाच्य है वे सब शिष्यदीय वाच्यों का उपायन मात्र हैं। इस प्रकार कहा भा व्यक्ति असत्य मार्ग में रहकर सत्य का प्राप्त कर लेता है।’ अन्त्य यह कि जिस प्रकार खेल में बच्चे विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाया करते हैं अथवा उन्हें गिना देने के लिए गणना इत्यादि की आकृतियाँ बनाकर समझा दिया जाता है, बाद में वे वास्तविक गणना इत्यादि का धन्य प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार प्यार के साथ बालकों को गिना देने के लिए एक वर्ण विभाग की धन्यता कर ली जाता है और उनको सिद्ध करने के लिये प्रकृति मध्यम इत्यादि अनेक उपाय कर्म में लाये जाते हैं। इस प्रकार अन्त्य मार्ग पर चलकर वे सत्य मार्ग अर्थात् वास्तविकता तक पहुँच जाते हैं। अन्तर प्रक्रिया दशा में धैय्यकरणों का भी व्यवस्था वृत्ति साकार करनी हो पड़ेगी। वे उसका धन्य विवेक नहीं कर सकते।

लोचनम्

यथाह मट्टनाथक — अहमिष्यमिनयविशेषेणामदशावेदनाच्छाब्दमंतद-
पीति । सत्राहमिति शब्दस्य तावन्नाय साक्षादर्थः । काश्चादिसहायस्य च
तावति ध्वननमर्थः व्यापार इति ध्वनेर्मूयणमंतत् । अर्सेति प्रपरनेनानिमृत्त-

वा वि मट्टनाथक ने कहा है—अहम्' इस अमिनयविशेष से आमदना वा आवेदन
करने के कारण यह साक्षात्क कथन ही है । वही 'अहम्' इस शब्द का यह साक्षात्
अर्थ हो ही नहीं । बल्कि शब्दार्थ की सहायता से ही उस अर्थ में ध्वनन ही व्यापार होगा,
इस प्रकार यह ध्वनि का मूयण है । 'अत्ता' यह कथन स्वतन्त्रपूर्वक अनिमृत्त सम्मग का परि-

सारावली

जता है । प्रथम पक्ष की कामना को सम्यक् यह रही है कि 'द्वे पक्षि द्वि दिन में तुम
मेरे और साम के सने के स्थान को देख लो । रात में कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ
जाना ।' यह वाच्यार्थ है ।

वहाँ पर यह शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । यह शब्द दो प्रकार से बन सकता
है—एक तो बहुवचन का अर्थ है जिसका अर्थ होता है 'हम सब' या 'हम दोनों भी' दूसरा
एकवचन का 'मम' का लया रूप है जिसका अर्थ होता है 'मेरी' । यदि नायिका ईश्वर
से एकवचन का व्यवहार करे कहती कि मेरी चारपाई पर मत आ जाना, तो लोगों की शंका
हो सकती थी । अतएव इन्ने टिप्पण करता कि 'हम दोनों की चारपाई पर मत आ जाना ।'
इससे लोगों की शंका का अन्तर नहीं रहा । अतएव वहाँ पर 'आवो' 'हम दोनों की' के
अर्थ में अक्षय हो जाना चाहिये । एक वचन का रूप नहीं । नायिका लगी भी है और
श्रीपतिपत्निका भी है । अतएव पक्ष के हृदय में वचनमात्र से आ कामनापुर उत्पन्न हो गया
या अनुसृष्ट परिस्थिति के कारण उसका यह जाना स्वाभाविक ही था और नायिका ने चारपाई
पर आने का निषेध करते हुये उसकी व. महासत्ता को तुम करने की अनुमति दे ली । इसी
प्रकार वहाँ पर निषेधमात्र रूप विधि व्यंग्य है । कुछ लोग पक्ष की ओर से काममूर्ति की
व्यवस्था न कर नायिका के द्वारा ही सम्मग के आमंत्रण के रूप में इस रूप की व्यवस्था
करते हैं । नायिका की ओर से प्रस्तावित होने के कारण हमारे भीमार्थभिमाल के सुन्दन हो
जाने की सम्भावना से यह व्याख्या समीचीन नहीं कही जा सकती । शमीटिप्पे 'रात्रि' यह
सम्बोधन दिया गया है जिसका अर्थार्थ है—रात हो सम्मग का उचित अवसर होता है और
उस समय तुम और अधिक कामाच हो जाओगे । इस प्रकार वहाँ विधि और निषेध का
साक्षात् विशेष होने के कारण स्पष्ट ही है कि अर्थार्थ और वाच्यार्थ दोनों एक दूसरे से
मिश्र होते हैं ।

मट्टनाथक ने लिखा है— मैं वहाँ पर जाती हूँ' इस वाक्य में 'मैं' शब्द का व्यापार
शब्द ने देही शब्दार्थ और देही शब्दों के साथ दिया है कि हमारी सम्मग की

सारान्वती

हो नहीं। इस प्रकार नायिका का उद्देश्य उपमान प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकता। रस वस्तु तथा अलङ्कार की अभिव्यक्ति अर्थात्तत्त्वत्व भी नहीं कहो जा सकती। अर्थात्तत्त्व वहीं पर होती है जहाँ पर अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो। जैसे स्थूल देवदत्त दिन में नहीं रात्रि बिना मोहन के स्थूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती। इसीलिये अर्थात्तत्त्व से रात्रि भ्रमन का बोध हो जाता है। यदि यहाँ पर भा बिना रस इत्यादि की प्रतीति के वाक्य अनुपपन्न हो तो ता अर्थात्तत्त्व हो सकती है। किन्तु अर्थ वहीं पर अनुपपन्न नहीं होता। इसलिये व्यञ्जना अर्थात्तत्त्व का विषय नहीं हो सकता। रसादि की प्रतीति कान्यनिक भी नहीं हो सकती। यदि रस कान्यनिक हो तो कल्पना करनेवालों को ता आस्वादन हो, एक मात्र से सभी सदृशों को एवसा रसास्वादन होनी न हो। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति केवल व्यञ्जनात्मक हो सकता है उसका समावेश न तो शब्द की विसा दूसरी वृत्ति में हो सकता है और न वह दूसरे प्रमाणों से ही गजार्थ हो सकता है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भ्रमण निषेध के लिये व्यञ्जनावृत्ति अनिवार्य हो जाती है]।

भट्ट नायक ने प्रस्तुत पद—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि का उदाहरण देकर लिखा है— 'यहाँ पर सिंह के लिए उद्यत विशेषण दिया गया है और शक्ति धार्मिक सम्बन्धन से सम्बोधित किया गया है। इन दोनों शब्दों के आधार पर भवानक रस की प्रतीति होती है और वहीसे निषेध का बोध होता है। अबतक यह न मालूम पड़ जावे कि भ्रमणालोभ्य शक्ति धीरमूर्ति कहा है या दुर्योधन है तबतक निषेध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अन्यथा केवल अर्थ सामर्थ्य की निषेधप्रतीति का कारण मानना सर्वथा असम्भव है।' इस पर निवेदन है कि यह तो हम भी नहीं कहते कि वक्ता और श्रोता को विशेषणादान और शब्द के ध्वननव्यापार के अन्तर्गत में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। हम तो रसास्वादन करनेवाले सदृश्य की प्रतीति को व्यञ्जना का प्रमाण मानते हैं। हमें प्रस्तुत उदाहरण में भवानक रस के प्रतीकार करने में भी कोई आशय नहीं। किन्तु यह भवानकता केवल सम्बोध्य (धार्मिक) के द्वारा में मय का साधारण हो सकती है रसरूपता को धारण नहीं कर सकती। मय की रसरूपता सभी रसों का हो सकती है अब कि परिस्थिति की उसका आस्वादन हो। रसास्वादन सभी हो सकता है अब कि रस अभिव्यक्त हो। यह तो भट्टनायक ने भी नहीं माना कि रस सभी को शब्दवाच्य हो सकता है। अतएव मानना ही पड़ेगा कि रस, सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। यहाँ पर सदृश्य के लिये रसानुवेश निरवयव नहीं है, क्योंकि सदृश्य शक्ति भी धार्मिक के समान वह तो नहीं समझना कि उसे भी वही शेर मिल जायेगा।

यहाँ पर भव कह सकते हैं कि सदृश्य की विशेषता भी भवानक रसाभिव्यक्ति में सदृशरी कारण होती है अर्थात् जहाँपर धार्मिक के समान सदृश्य शक्ति भी मोह मूर्ति का होता है वही पर भवानकरसाभिव्यक्ति हो सकती है। इस पर मेरा निवेदन यह है कि इसी

ध्वन्यालोक

अचिदाख्ये विधिरूपेऽनुसरूपो यथा—

वत्त मह ध्विज धक्कंइ होन्तु जीमासरोइअम्वाइ ।

मा तुज्ज वि सोअ विगा दस्त्रिण्णहअस्स आभन्तु ॥

(अनु० ६) वही वाच्य विधिरूप होता है और व्यवहृत विधि निषेध दोनों से भिन्न । जैसे—
'तुम उसी मेरी सौत के पास जाओ । मुझे अकेले हो गहरी श्वासें लेना और रोना पड़े । उस
(भक्तों प्रियता) के वियोग में तुम्हें माँ क्यों दाहिम्व के दण्ड के रूप में निराशा और
रोदन का बट सहना पड़े ।'

छौघनम्

अत्र समैवैकस्या भवन्तु नि श्वासरौदितभ्यानि ।

मा तत्रावि तथा बिना दाक्षिण्यहतस्य अनियम ॥

अत्र अत्रेति विधि । न प्रमादादेव नाधिकान्तरसङ्क्रमनं तव, अपितु गाढा-
नुशागात्, येनाम्भारहस्युराग गोत्रस्यलनादि च, केवल पूर्ववृत्तानुपासनारमना
दाक्षिण्यनैकरूपत्वाभिमानेनैव स्वमत्र स्थित तत्सर्वथा शठाऽर्थाति गात्रमग्यु-
रूपोऽय रण्डितनाधिकामिप्रायोऽत्र प्रकायते । न चासी मध्याभावदपो निषेध,
नापि बिध्यन्तरमवाभ्यनिषेधामाव ।

यहाँ पर 'जाओ' यह विधि है । केवल प्रमाद से ही तुम्हारा दूसरी नायिका से साथ नहीं
हुआ अपितु गाढानुशाग से जिससे दूसरे प्रकार का सुखराग और गोत्रस्यलनादि । दृष्टिगत हो
रहे हैं । केवल पूर्ववृत्त अनुपासनरूप दाक्षिण्य से अर्थात् एकरूपता के अभिमान से ही तुम
वही पर नियत हुए हो, अतः तुम सर्वथा ठग हो यह गाढमनुरूप धमिका नायिका का
अभिप्राय प्रतीत होता है । यह गमनाकाररूप निषेध नहीं है और न ही अन्य निषेध के
अभाववत्प विधि है ।

सारावती

नहीं है । यहाँ पर व्याख्यार्थ यह है—'मैं सर्वथा तुम्हारी उठेगा नहीं ब' रही हूँ । मन मानि
देना जो, मैं यही सोऊँगी, वही अन्वय नहीं जाऊँगी, हम दोनों एक दूसरे के सुखरमल की
दलने का आनन्द ऐसे हुए दिन बिता दालें । हाँ एक बात और है—जैसे ही रात हो आये जैसे
ही कामरस से अरे हाँ ब' मरी चारपाई पर मर या जाता किन्तु ध्यान रखना कि यह साम
नाम का ब'टा हमारे मार्ग में है । अतः पूर्वपूर्व पहले निश्चय कर लेना कि बहुत मेरी
साम मा गई तभी पर पास आना ।'

महामभट्ट ने अतिशयोक्ति में कई एक अनुश्रुतों की वापस करके उनमें दोष दिखाए
हैं । उनमें वही सिद्ध होता है कि हम कथाहरण का अनुश्रुत अनुपमल में नहीं हो सकता ।
वाच्य ध्वनि वही पर होती है उसी किन्ती बात की नहीं छे न सिद्ध किया जा सके । यदि
उस अनुश्रुत की सम्मन्वयता तर्क से ही सिद्ध की जा सके तो उसमें छिराकर करने का गहरा
ही क्या रह जाय । अतः यह ध्वनि का ही विषय है अनुपमल का नहीं ।

लोचनम्

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमव विवक्षासूचकत्वमव वा ध्वनन मवाचन् ॥ नास्माक हृदयमावर्तयति । यदाहु मिन्नरचिर्हि लोक' इति । तदतदमे यथायथ प्रतनिष्याम इत्यास्ता तावत् । अथेति—अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकाल । धार्मिकेति । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्त ते भ्रमणम् । विधग्ध इति । शकाकारणवैकल्यात् । स इति । यस्ते मयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । अथेति । दिष्टया धर्षस इत्यर्थः । मारित इति । पुनरस्थानुत्थानम् । तेनेति । य पूर्व कर्णार्किकर्णिकया स्वयाप्याकर्णितः । गोदावराकच्छागहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि

और जिसने ध्वनिव्याख्यान के लिये उद्यन होकर तात्पर्यात्मिक को ही अवश विवक्षा सूचकत्व का हो ध्वननव्यापार कहा वह मरे हृदय को अपने अनुकूल नहीं बना रहा । जैसा कि कहा है—'लोक मिन्नरचिर्हि वाला होता है ।' तो इसको आगे यथा स्थान ठीक ठीक विस्तारपूर्वक बतलावेंगे । और अधिक विस्तार का कोई आवश्यकता नहीं । अनेनि । तुम्हें अनुमति दे दी गई है, तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है । धार्मिकेति । कुसुम इत्यादि के उपकरण के लिये तुम्हारा भ्रमण उचित है । 'विधग्ध' यह शब्द के कारणों के अभाव के कारण (कहा गया है) । वह अर्थात् जो तम्हारी अङ्गनिका को मय से प्रकम्पित कर देता था । 'आन' अर्थात् सौभाग्य से तुम प्राप्तबाम हो गये हो । 'मारिता है' अर्थात् इसका पुन उत्थान नहीं (समाविष्ट है) । 'उसके द्वारा' अर्थात् जो पहले मृतिपरम्परा से तुमने भा मुना है कि गोदावरी के तट पर वन में रहता है । पहले ही उस (सकेतरथान) को

तारावती

है कि 'मुझे आपत्ति केवल यह है कि यह उदाहरण एकमात्र वस्तुध्वनि का नहीं हो सकता । इसपर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ स्वीकार की जा सकती हैं । क्योंकि यह पक्ष तो काम्य के उदाहरण के रूप में उद्भूत किया जा सकता है अतएव दोनों ध्वनियों का मानने में क्या बाध ? यह आप का इच्छा है कि आप इसे वस्तु या रस किसी भी ध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्भूत करें ।

यदि आपको रसानुबोध के बिना संतोष न हो । तो मा यहाँ पर सदृशों के आम्नादन में मयानक रसानुबोध कारण नहीं होता । किन्तु सम्भाषण की अभिप्राया का व्यक्त करनेवाला सदेश्य न यहाँ पर उद्दीप्त विभाव है और उसी के अनुसार विविध प्रकार की कण्ठध्वनि अनुभाव है । इसके सम्मिश्रण से पुन होकर रसिवाच्योवाच ही शृंगाररूपमें परिणत होकर आम्नादन में कारण होता है । रस कर्णोक्तिक होना है और केवल उहाँ दाहरी के आधार पर उसका भवगमन नहीं हो सकता, इसीलिये हम पक्ष का रस के उदाहरण के रूप में त रगच्छ विधि के स्थान पर निषेधरूप निर्विवाद सिद्ध वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में स्थापित गया ।

सौचनम्

अथ व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः । गृहागता नायिका गोत्रस्खलनाद्यपराधिनि नायके सति तत् प्रतिगन्तु प्रवृत्ता । नायकेन चाद्रूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते । न केवलं स्वात्मनो मम च निवृत्तिविघ्नं करोयि, तावदन्धासामपि, ततस्तत्र न कदाचन सुखलवलागोऽपि मविष्यतीत्यत एव हताशासीति वक्तव्यमाभिप्रायरूपश्चादुविशोपो व्यवहृतः ।

यदि वा सख्योपनिर्दिष्टमानापि तद्वर्णनया गच्छन्ती सख्योप्यते न केवलं मात्मनो विघ्नं करोयि, क्षामवाद्यदुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अतएव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति सख्यमिप्रायरूपश्चादुविशोपो व्यवहृतः । अथ तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रती- पगमनाप्रियवतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विधान्तेर्गुणीभूत- व्यवहृत्यभेदस्य प्रेयोत्सवदलद्वाररघोदाहरणमिदं स्यात् न च्यने ।

तेनायमत्र भावः—काचिद्व्यसन्निवर्तममभिसरन्ती तद्ग्रहाभिमुखमाग- रच्छता तेनैव हृदयवल्गुमेनैवमुपशोभयतेऽप्यभिशान्तिप्लवेन, अत एवाम-

वही पर 'अनुष्ठित गमन से निवृत्त हो जाओ' इस प्रतीति के कारण निषेध वाच्य है । घर में आरंभ हुई नायिका नायक के गोत्रस्खलन इत्यादि अपराध के होने पर वहाँ से जाने को उद्यत हो गई । नायक के द्वारा चाटुकारिता के उपक्रम के साथ रोकी जा रही है । केवल अपनी और मेरी ही शान्ति में विघ्न नहीं बरती हो । किन्तु दूसरों की भी (शान्ति में विघ्न डालती हो) इससे बभी भी तुम्हें सुन के अश की भी प्राप्ति नहीं होगी, समते तुम जाया वाली हो यह वन्त्य के अभिप्राय रूप चाटुकारिता की विशेषता अभिव्यक्त होती है ।

अथवा सखी के द्वारा उपदेन दी हुई भी वगैरा आग्रह करने वाली हुई (नायिका) उसी के द्वारा हम प्रकार बड़ी जा रही है—स्वपुत्र से अपने को बहुमानरहित बनावे हुए केवल अपना ही विघ्न नहीं कर रही हो (तथा) इसी कारण जायावाली बन रही हो मधुव ददनचन्द्रिका से रात्रिमार्ग को प्रकाशित कर देने के द्वारा अब अति सारिकाओं का भी विघ्न कर गयी हो, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यक्त होता है । वही पर इन दोनों व्याख्यानों में अनुष्ठित किये हुए विघ्न गमन से और मियम के गृहगमन से निवृत्त हो जाओ इस प्रकार फिर भी वाच्य में ही निमित्त होने के कारण गुणीभूतव्यव- मेर मेव'उद्धार अथवा रसवदलद्वार का यह उदाहरण हो जायेगा चर्च का नहीं ।

अतएव वही पर यह भाव है—कोई चा'प्रकारपूर्वक विघ्नन के घर जाती हुई उसके घर की ओर जाने देने उसी हृदयवल्गु के द्वारा न पहुँचाने के बहाने हम प्रकार मरणा की जा

ध्वन्यालोक

अविद्याय प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एतय निमज्जह एतय अह दिअसअ पलाएहि ।

मा पहिअ रत्तिअन्धअ सज्जाए मह निमज्जहिहिं ॥

(अनु०) वही वही वाच्यार्थ प्रतिषेधपरक होता है और अन्वयार्थ विधिरूपक । जैसे —
‘हे पयिक ! त्वि मोहा ही मग रह गया है । अतएव मजीमाति देखओ, यहाँ पर मेरी छात्र
निद्रामागर में डूबी पड़ा रहनी है । और इस स्थान पर मैं सोती हूँ । तुम रात में अचे हो
जाते हो (तुम्हें रतभी आती है) । वही हम लोगों को चारपाई पर न आ गिरता ।

एतच्चनम्

अत्ता इति ।

इश्वरश्च शेत (अथवा निमज्जति) अग्राह दिवसक प्रलोकय ।

मा पयिक राप्पन्ध शरयापामावया शयिष्ठा ॥

मह इति निपाताऽनकार्यवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु भ्रमति । एवं हि विशय
वचनमव शकारि भवदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काश्चिन्नापितपतिका
तरणामवलाक्य प्रवृद्धमदनादुर सम्पन्न धान्याऽनन निषेधद्वारेण त्वाम्युपगत
इति निषयामापोऽत्र विधि । न तु निमज्जनरूपाऽप्रवृत्तवर्तनादवभाय सौमा-
स्याभिमानलब्धनाप्रसङ्गात् । अत एव राप्पन्धेति समुचितसमयसम्भाव्यमान-
विकाराकुलितत्वे ध्वनितम् । भावतदभाववाश्च साक्षाद्विराधाद्वयस्य स्फुट-
मवाच्यत्वम् ।

अथा इति । अत्र इत्यादि छायातुल्य है । ‘मह’ यह निराश बहुवचन के अय का घोषक
है यहाँ पर ‘हम दोनों के’ इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है मग (मर) इस अय में नहीं ।
मे ता विगत रूप में एतयन का प्रयोग हुआ है पैदा करनेवाला हा ज वेगा अत्र मच्छत्र
अभ्युपगम नहीं हुआ करता । विनी मोहितनिका तरणा का देखकर एवम प्रवृद्ध कामादुर
बाना हुआ गया (तथा) इस निषेध के द्वारा उनका स्वीकृति दे दी गई इस प्रकार यहाँ पर
विषय निषेध का अभाव रूप हुआ है निमज्जनरूप अनवृत्त का प्रतिष्ठ करने के स्वभाववाली नहीं
है, क्योंकि उससे (नाविका के) सोनगवाभिमान का स्वप्न प्रनक हो जाता है । अतएव
‘राप्पन्ध कदुरा समुच्च समग्र पर विकार का आकुञ्चता का सम्भावना पर नग कर दा
गई । मछा तथा उसके अभाव में सागात् इति । हाथ के कारण बांध में अद्वय रंग ही
धन्य है ।

सारावता

अर इष्टा उगादरा लोभिये-को, पयक वहाँ रात्रि में विमान करना चाहता है ।
अहमात् उसकी दृष्टि दिमो नरपुत्रो पर पड़ता है । तुमही यो पड़ा रह है (उनक
नरदीन तथा प्रविश होना वाला वतों पयक के अग्रहृत हैं ।) अत्र यह काना मत दा

सारावली

यदि नायक का अनुराग व्यर्थ माना जावे तो भी वह रोजनाकूप वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर रसवत् अलङ्कार ॥ जावेगा वस्तुध्वनि का उदाहरण नहीं रहगा ।

(२) उक्त परिस्थिति में हाँ प्रियतम के गात्रस्पर्शनादि से कष्ट होकर नायिका अभिसार स्थान से चले जान का उपन हो जाती है । तब नायिका का सखी एक ओर 'हथाना' इस सम्बाधन के द्वारा नायिका को आगाह करती है कि तुम रात में पड़ताप्रोगा क्या कि छुटता के कारण तुम्हारा सारा सम्मान जाता रहगा ।

दूसरी ओर चाटुकारिता के द्वारा नायिका पर यह प्रभाव जमाया चाहती है कि तुम्हारा मुल्य व दूमा के समान सुन्दर है यदि तुम यहाँ से जाओगी तो तुम्हारे मुग की चोन्नी चारों ओर छिटक जावेगी यही तक नि दूमा । अभिसारिकाओं का जाना मा रुक जावेगा । अतः तुम जहाँ व हसुन्दरी को छोड़कर नायक किमी और नायिका को चाहना इसको वा क्षयना भी नहीं की जा सकती । गात्रस्पर्श इत्यादि की वान सार्वांगिक है उसपर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये । इस व्याख्या में भा उपर्युक्त दाव दा है कि इसका पवमान 'छोट बन्ना के बायाय' क साथ है । हाँकर इसे गुणोन्मेष्यद्रव्य बना देता है और नायिका के प्रति सखी का अनुराग भावव्यञ्जना के अन्तर्गत आकर तथा वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर मय अलङ्कार का रूप धारण कर लेता है । अतः वह व्याख्या भी मान्य नहीं ।

(३) अतः यहाँ पर यह व्याख्या ठीक होगी—बोई नायिका नायक से पास हुनगति से आ रही है और उसका हृन्वचम्भ भी उसी के घर को ओर आ रहा है । नायक मना न पहचानते हुए तथा अपना निश्चय ठठा कर परिचय दत्त हुने वह चम्प बट रहा है कि—अभिमारिकायें बालीराज में ॥ अपने मित्रों से मिलने जा सखी हैं । तुम्हारे इस प्रकार कामसार करने से अपकार दूर हो जाया है और अभिमारिकाओं के मनोरथ में बिना पक्का है । इसका पाप तुम पर पड़ेगा और तुम्हारी भी आगायें पूर्ण नहीं हो सकती । अतः ॥ अभिमार का विचार छोड़कर छोट बलो ।' वह है वाच्यार्थ । इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है—कि नायक नायिका की प्रणसा करके उसे प्रमत्त करना चाहता है । यह नायिका को अपना परिचय देकर मई प्रकट करना चाहता है कि मैं भा तुम्हारे घर आ रहा हूँ अब तुम चाहो वा मेरे घर चलो वा अपने घर लौट चलो । वह अष्टा हा हुआ कि तुम मुग मार्ग में मिल गई और मैंने तुम्हें पहचान लिया । अन्वया हम दोनों को अपने-अपने वस्तुव्यपानपर वदुष कर निराग ॥ जाना पक्का । यहाँ पर वाच्य निषण्णक है और अन्वय चाटुकारितात्मक का भविष्य है और न निषण्ण ।

(४) कुछ लोगों ने यह उक्ति सटकों की बजाई है । किन्तु हम अय में 'हथाने' इस सम्बाधन का औचित्य बदा होना । इसका निषण्ण में सहृदयी पर हा छाया है ।

कार के चारों उदाहरणों में एक ही विषय (सखीध्वनिक) के प्रति वाच्य और व्यङ्ग्य

छोपनम्

सम्मोगपरिहारः । अथ यद्यपि भवान् मदनशरासास्त्रदीर्घमाणहृदय उपेक्षितु न युक्तः, तथापि किं करोमि पापदिवसकोऽयमनुवितरत्वात्कुत्सितोऽयमिन्त्यर्थः । माह्वे पुनपुसकयोरनियमः । न च सर्वथा स्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाह तत्प्रलोक्य भास्यतोऽह गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिन तावदतिवाहयाव ह्यर्थः । प्रतिपन्नमाश्रया न राजाव-धोभूतो मदोयायां शय्याया मा शिलप, अपि तु निभृतविभृतमेवात्तामिधाननिक-कण्टकनिदान्वेषणपूर्वकमितापदत्र ध्वन्यते ।

हार करने के लिये किया गया है । यद्यपि आन वामबाणों की वर्षा से विरोगें हरववाले उपेक्षा के योग्य नहीं हैं तथापि क्या करें यह धारी मुच्छदिवस (अभी विद्यमान हैं), अर्थ यह है कि अनुचित होने के कारण वह वृत्तित है । माह्व में पुष्टि और नपुसकदिग का नियम नहीं होता । 'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ क्योंकि मैं यही हूँ इसलिये देखने में दूसरे स्थान पर नहीं जा रही हूँ, अतएव एक दूसरे के वदनावलोकन के विनोद से तब तक हम दिन बिता लें' यह अर्थ है । रात्रि के आते ही अन्ये होकर मेरी चारपाई का आश्रित न बनना अपितु छिप छिपकर सासनामक निद्रास्थित कण्टक की निद्रा का भान करते हुये (अपना) वह ध्वनि होता है ।

चारावली

कामना और मेरेका उमो 'मैं' शब्द से प्रवृत्त हो गई । अतः यहाँ पर अभिवाचन से ही विभिनक अर्थ निरुक्त आता है इसके लिये स्वप्नवाचन मानने की आवश्यकता नहीं । इसके अन्तर में मेरा निवेदन है कि 'अहम्' शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं जिसमें अभिवा मानो या सके, 'बाहु' या कण्ठधनि की हम भी स्वप्नवा का सहकारी मानते ही हैं । बाहु से व्यक्त होनेवाला अर्थ स्वप्नवाचनसारजन्य ही होता है यह तो ध्वनि का मूल है ।

यहाँ पर 'सास' के निर्देश का आशय यह है कि सास की वस्तुस्थिति में स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता । जब रात्र में वह सो भी जावे तब भी तुम्हें आकर्षित होकर हो सुतर में भरव होना चाहिये । 'दिवसकम्' में निद्रा अर्थ में 'क' शब्द हुआ है । इसका आशय यह है—'यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम्हारा हृदय काजदेव के बाणों से आलस्य विरोगें हो गया है और तुम्हारी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, फिर भी क्या करें यह धारो दिन मुझे तुम्हारी हन्टा पुरी नहीं करने देगा । यह वस्तु कार्य अनुचित है । अतएव यह निन्दनीय है ।' इसी निद्रा को व्यक्त करने के लिये यहाँ पर 'क' शब्द का प्रयोग किया गया है । दिवस शब्द पुष्टि भी है और नपुसकदिग भी । किन्तु वस्तु प्रयोग पुष्टि में ही होता है, तब नपुसक दिग में इसका प्रयोग अननुचित दोष से दूरित है । किन्तु माह्व में पुष्टि और नपुसक निग का नियम

ध्वन्यालोक

अन्ये चैवप्रकारा वाच्यादिभेदिन, प्रतीयमानभेदा सम्भवन्ति । उदा-
दिहमात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रमेदो वाच्यादिभिन्न सप्रपञ्चमपे दार्-
पिप्यते । तृतीयस्तु रसादिद्वयप्र प्रमेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त प्रकाशते न तु
साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्यादिभिन्न एव ।

(अनु०) इसी भाँति और भी बहुत से प्रतीयमान के प्रकार हैं जो वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य-
के भेद के उदाहरण के रूप में दिखलाये जा सकते हैं । यहाँ पर मैंने उनका विवरण नहीं
करा है । ध्वनि का दूसरा भेद है अलङ्कारध्वनि, यह वाच्यार्थ से भिन्न होती है इस बात
की विरुद्ध विवेचना आगे चलकर की जावेगी । तीसरा रस इत्यादि नावशास्त्रा भेद तो वाच्य
सामर्थ्य से काजित होकर ही प्रकाशित होता है यह सभी भी छात्रात् स्वप्नवाच्य नहीं हो
सकता और न वाच्य की ज़िन्ना हो उसका प्रकाशन करा सकती है । अतएव रसादिध्वनि न
वाच्य से भिन्न होती है ।

वारावली

पर पति का क्रोध शांत हो जायेगा । इस शक्तिशाली को देखकर तुम्हें हर्षित नहीं होना
चाहिये । यह स्वयंका 'मित्रावा' इस वाच्य के अन्त पर निकलती है । (४) नायिका के प्रति
इसका व्यंग्यार्थ होगा—'तुम्हारे अपराधों को देखकर पति को क्रोध आ गया है, तुम उसको
मित्रता नहीं दाती तो उसे क्रोध ही नहीं आता । अब सीतों का बीच अपने इस अदमान को
देखकर तुम्हें अपने अन्दर छुपना का भाव नहीं होना चाहिये । अब मैंने बात बना ली है
और तुम्हारे प्रति पति का क्रोध भी जाता रहेगा ।' यहाँ पर सहस्र का लक्ष्य है 'नायिका
है' । इस प्रकार नायिका के सीमावर्त का स्थापन यहाँ पर स्वयं है । (५) वरपति के प्रति
इसका व्यंग्यार्थ होगा—'तुमसे प्रपञ्च मम करनेवाली तुम्हारी हृदयवत्तमा की आज्ञा ही
मैंने उसके पति के क्रोध से बचा लिया किन्तु भविष्य में तुम्हें सतर्क रहना चाहिये और
कभी एक दृष्टान्त की देवी बात नहीं करनी चाहिये । यहाँ पर वरपति के विषय में बोले
कानुज्जना व्यक्त होती है । (६) निकटवर्ती रसिक्तमात्र के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—
'देखो मैं किन्तु निपुण हूँ । ऐसी बातों का बनावना तो मेरे शौच ही का खेल है । इस
प्रकार विषयभेद से व्यंग्यभेद की व्यवस्था कई रूपों में की जा सकती है । विषयभेद भी
स्वरूपभेद के समान अनेक प्रकार का हो सकता है । मनुज वष उदाहरण मात्र है । दूसरे
प्रकार भी इसी भाँति सामान्य लिये जाने चाहिये । इसी लिये मूल में व्यवहित वाच्य का प्रयोग
किया गया है । (देवचन्द्र ने आन्यानुशासन में कई एक ध्वन्य की उदाहरण लिये हैं—जैसे—
विधि में दूसरी विधि, निषेध में दूसरा निषेध अनिषिद्धनिषेध में विधि, अतिरिक्तिविषय में निषेध
विषयविषय में दूसरी विधि, विविधविषय में दूसरा विषयव्यपत्ति । अब सबक उदाहरण नहीं
देने जाने चाहिये । छात्रात् नहीं है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों एक दूसरे से तरावा

ध्वन्यालोक

वर्चसाद्ये प्रतिषेधरूपऽनुमयरूपी यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिगेह्वाविलुत्ततमणिवहे ।

अहिंसारिआण विग्ग करोमि अण्णाण वि हआसे ॥

(धनु०) वही वाक्य निषेधरूप होता है और व्यर्थ विधि निषेध दोनों से भिन्न । जैसे—‘मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कृपा करके जाने से रक जाओ, क्योंकि तुम्हारे मुखचद्र की चोटियों से अंधकार का समूह क्लिप्त हो रहा है और हे हता । तुम अन्य अभिसारि जाओ के अभिप्राय में भी विघ्न कर रही हो ।’

छोचनम्

दे इति निपात प्रार्थनायाम् । आ इति तावच्छ्रद्धार्थे । तेनापमर्थ —

प्रार्थय तावत्प्रसीद निवर्तस्व सुखशशिग्योस्नाविलुत्ततमोनिवहे ।

अभिसारिकाणां विघ्न कराध्वन्यासामपि हतागो ॥

दे' यह प्रार्थनाार्थक निपात है 'आ' यह तावत् श्रद्धार्थक निपात है । इससे यह अर्थ निकलता है—‘प्रार्थये' इत्यादि ।

सातावली

कार दो वडाहरण दिये गये हैं—एक में वाक्य विधिरूप है और व्यर्थ निषेधरूप, दूसरे में वाक्य निषेधरूप है और व्यर्थ विधिरूप । अब बीमरा वडाहरण दिया जा रहा है जिसमें वाक्य विधिरूप है और व्यर्थ न विधिरूप न निषेधरूप —

नारिका के साम नायक बैठा हुआ है । अकस्मात् नायक योद्धवृत्तन का बैठना है जिसमें अपने मुखर अनुयायि ऐसा शोक खाती है और वह गहरी वसाध भा लेता है । नारिका इस विधि को स्मृति कर कहती है कि 'तुम उसी अपना प्रियतमा के पास जाओ, मुझे ही लेता और गहरी वसाध लेना पडे तुम्हें इस दाम्पत्य का दण्ड कभी मोगना पडे ।' यही पर वाक्यार्थ है—‘मैं अनेहो दुःखी रहूँ, तुम सुखी रहो, अतएव तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ ।’ व्यर्थार्थ है—तुम सर्वदा कदा करत हो कि अन्य नारिका से तुम्हारा सम्बन्ध हर्षोत्पन्न हो हो गया, कमजोर तुम उसने मेन नहीं करत हो किन्तु आज तुम्हारे मुखरान और गणकान्तर इत्यादि को देखकर मैं समझ गइ कि तुम मुझमें वाग्मयिक मेन नहीं करते । तुम्हारा वाग्मयिक मेन तो मग मीत से है । तुम मेरे पास पहले क जाने वादी को पूरा जाने क लिये केवल दाम्पत्य क दिखाव के हतु हा आये हा । तुम सर्वदा दण्डनायक हा ।’ इस वसाध दंड पर योद्धा के यद्धवृत्त व्यर्थार्थ को व्यञ्जना होती है । अब कि वाक्यार्थ निषेधरूप है वह व्यर्थार्थ छण्डिता का मन्त्रु न ता जाने का निषेध करता है जिसमें निषेधरूप कदा अन्य और न दूसरी किसी बात का विधान करता है । अब वह विधि निषेध दानों से निघ्न है ।

उक्त वर्णमाला के प्रत्यक्ष वही वही वाक्य निषेधरूप होता है और व्यर्थ विधि निषेध

लोचनम्

अप्र इति । द्वितीयोद्योते 'असंस्तब्धप्रमथ्यः कमणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे । यथा हि विधिनिषेध-सदनुमयात्मना रूपेण सङ्कल्य वस्तुध्वनि सक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कार-ध्वनि, अलङ्काराणां भूयस्त्वात् । तत एवोक्तम्—सप्रपञ्चमिति । नृतीयस्त्विति । तु शब्दो व्यतिरेके । वस्तुवत्कृतावपि शब्दाभिधेयत्वमप्यासाते तावत् । रम-भावतदाभासतत्प्रसमा, पुनरं कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चारवाद्यभासताप्राप्त्याप्या-मान्ति । तत्र ध्वननव्यापाराद्ये नास्ति कल्पनान्तरम् । दृष्टान्तगतिवामाधे-मुत्पार्थबाधादेर्लक्षणावियम्भनस्यानारुद्धनीयत्वात् । भौचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्ते-

'आगे दिक्काया जावेगा' अर्थात् द्वितीय उद्योत में 'असंस्तब्धप्रमथ्यः कमणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्य नामक द्वितीय प्रभेद के वर्णन के अवसर पर जिस प्रकार विधि निषेध तथा अनुमय आत्मा के रूप में संवर्तित करके वस्तुध्वनि का सक्षेप में सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है उस प्रकार अलङ्कारध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत अधिक है । उल्लिख कहा है—सप्रपञ्च आगे चलकर दिखावेगे) । नृतीयस्त्विति । 'तु' शब्द-व्यतिरेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वस्तु और अलङ्कार भी शब्दाभिधेयता की मज्जीकृत कर लेते हैं । रस मात्र सामान्य भासाभास भावप्रदान कभी भी अभिहित नहीं हो सकते तथा वे आनन्दभावमात्र के ही माध्व बनाकर बोधित होते हैं । इसमें ध्वनन व्यापार का छोड़ कर शब्द की रस के संवर्तित न होने के कारण मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणा निरूपण की आवश्यकता की हो नहीं जा सकती । भौचित्य के माध्व प्रवृत्त होने पर व्यापिनी विल-तात्पर्यता

व्यवार्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अवधार और रस । वस्तुध्वन्य बाध्य से भिन्न होता है इसपर प्रकाश काटा जा चुका । अलङ्कार ध्वन्य और अभिधा का भेद द्वितीय उद्योत की 'असंस्तब्धप्रमथ्यः' (२-४) इस शक्तिवा की व्याख्या के अवसर पर बिलम्बपूर्वक समझाया जावेगा । विधि और निषेध का संकलन करके वस्तुध्वनि का सक्षेप में बयन करना सम्भव था । अब उसका दिग्दर्शन करा दिया गया । वस्तुध्वन्य के कारण अलङ्कारों का सङ्कलन कर संज्ञना यही पर सम्भव नहीं है । उपर्युक्त व्याख्यान द्वितीय उद्योत में विवक्षितान्यपर-वाच्य के द्वितीय भेद के वर्णन के अवसर पर उनका निरूपण दिशा जावेगा । तीसरा भेद है रमभ्यञ्जना । रस तथा अलङ्कार की अवस्था रमभ्यञ्जना में एक जन्म है । वस्तु तथा अलङ्कार में कभी कभी अभिध होने की सम्भावना होता है, किन्तु रस कभी भी बाध्य नहीं हो सकता, वह सर्वदा बाध्य ही रहता है । रस इत्यादि का माध्व हो है आनन्दन विधा जाना । अतएव विधी २११ में आनन्दनोपमा नहीं आनी तकतक उभे रस की सदा ही नहीं जा सकती । रस अ-व्यञ्जनीयता की । रस ही ही ही व्याख्या की जा सकती है जब कि ध्वनिविज्ञान की

लोचनम्

प्रथमिज्ञापनाप्यंमेव नमंचनं हताश इति । अन्यासा च विघ्नं करोपि तव चेत्सितकामो भविष्यतीति का प्रयाशा । अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेयुमयत्रापि तात्पर्यादनुमयरूपो बल्लभाभिप्रायश्चाटवात्मा व्यहृत् इत्येव व्यचतिष्ठते । अन्ये तु तदस्याना सहृदयानामभिसारिका प्रतीय-मुक्ति' इत्याहुः । तत्र हताशे इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम् ।

रही है । इसलिये अपना पगिच देने के लिये ही 'हताशे' यह नमंचन है । औरों का भी विघ्न नरती हो और मुंहारा भी ईप्सित लाभ हा जावेगा इसका भी क्या प्रयासा ? चाहे मेरे घर को आजा या मुंहारे घर को हम दोनों चर्चें, इस प्रकार दोनों ओर भी तात्पर्य होने से चाटुकारिता रूप बल्लभ का अभिप्राय या कि अनुभवरूप (विधिविधेरूप रहित) है व्यक्त होता है । यही सिद्धान्त वहाँ पर स्थिर होना है । दूसरे लोग सो—वृत्त्य सहृदयों की यह अभिसारिका के प्रति वक्ति है यह बड़व है । उसमें 'हताशे' यह सम्बोधन उचित है या अनुचित इसमें सहृदय ही प्रमाण है ।

तारावती

दोनों से भिन्न । इसका उदाहरण है 'दे वि हमासे ।' 'दे' यह निपात सटक अन्यव है जिसका अर्थ होता है प्रार्थना । 'आ' का अर्थ है 'तावत्' जिससे पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम मज जाओ क्योंकि तुम अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डालोगी और मुंहारी भी आशा पूरी न हो सकेगी ।' इस पद्य के सन्दर्भ की व्याख्या कई प्रकार से की गई है । निम्नलिखित व्याख्याओं पर लोचन कर ने विचार किया है—

(१) नायिका नायक के घर आई है और सहवास में प्रवृत्त हो गया है । इसी अवसर पर सयोगरत नायक गोशरछन्न का अपराध कर बैठता है जिससे नायिका रुठ होकर जाने को उद्यत हो जाती है । तब नायक उक्त शब्द कहता है, जिसका अर्थार्थ यह है—'तुम जैनी विश्वसुन्दरी को छोड़कर मैं दूसरी नायिका से प्रेम कैसे कर सकता हूँ ? यदि तुम मुझे छोड़कर जाओगी तो मैं अव्यक्त पीड़ित हो जाऊँगा और तुम्हें भी पछताना पड़ेगा । तुम्हारी भी आशा पूरी नहीं हो सकेगी और दूसरों का भी विघ्न करोगी । इस प्रकार यहाँ पर श्रियतम की चाटुकारिता श्रम्य है और 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा मन्त्रिय में पछताने की बात कहकर नायिका को बर्णाद किया गया है ।

उक्त अर्थार्थ में दोष यह है कि इस अर्थ में मुख्य अर्थ नायिका को रोचना ही है या वि वाच्य है । मुख्यार्थ नायक की चाटुकारिता उक्त वाक्यार्थ का अर्थ बन गई है । अतएव यह उदाहरण अवराज गुणोन्मुख्य का हो जाता है अर्थात् उदाहरण नहीं हो पाता ।

बोधनम्

एकस्मिन् शब्दे पराङ्मुखतया धीतोत्तरं साम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुमये संरक्षतो गौरवम् ।
दम्पत्योः शानकैरपाङ्गवलनान्मिथीमवचचक्षुधो-
भङ्गो मानकलिः सहास्रमसस्यासक्तकण्ठग्रहम् ॥

हृत्प्रेमैर्प्यतोपात्मनो मानस्य प्रथमः । न चार्थं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः'

'एक ही शब्दा पर पराङ्मुख होने के कारण उत्तरकालिककार्यरहित होकर सन्तान का अनुभव करते हुए, एक-दूसरे के हृदय में अनुभव के विरत रहते हुए भी गौरव को रक्षा करते हुये, दम्पति ॥ धीरे से अपाङ्गवलन के कारण चक्षुर्भों ॥ मिलाने से हास और शीघ्रता के साथ कण्ठग्रह की सम्पन्नतापूर्वक मान-कलह नष्ट हो गया ।

यहाँ पर ईर्ष्यायोगात्मक मान का प्रथम हो गया है । वह रस इत्यादि अर्थ 'पुत्रस्ते पुत्र

वारावती

वाद में होगा । रस की उस दशा में जब बाष्पक सम्भव हो जाता है उसके आस्वाद में रति ही कारण होती है । जब हम रागण के मुख से ऐसे शब्द सुनते हैं कि—'वस सीता के नाम में एक बाहु है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानों आकर्षण का मोहनमन्त्र हो' इत्यादि वाक्यों की सुनने से चित्तवृत्ति रति इत्यादि भावों में ऐसी तन्मय हो जाती है कि विभाव (नायक और नायिका) का ध्यान ही नहीं रहता, जिसमें ओचित्य-अनीचित्य का निर्णय किया जा सके । उस समय विभाव अनुभाष इत्यादि का विचार सर्वथा लुप्त हो जाता है और रसा-स्वादन ही मग्नता रह जाता है । बाद में जब विभाव इत्यादि पर विचार किया जाता है और वह दात होता है कि वह रति तो सीता के प्रति रागण की है जब इस गृह्णार के प्रति हास्य का उदय होता है । गृह्णार के प्रति हास्यवर्चसा ही गृह्णारापास के नाम से पुकारा जाती है । जो व्यक्तिवारीभाव रसाभास का अङ्ग होता है उसे भावाभास कहते हैं । भावप्रति में ही भावप्रथम का भी समावेश हो सकता था, किन्तु यहाँ पर पृथक् परिगणन किया गया है । इसका कारण यह है कि कभी-कभी जब चित्तवृत्ति आस्वादरूपता को धारण करने लगती है उस समय भाव नहीं भाव प्रथम ही हृदय को आनन्द देने में कारण होता है । अर्थात्—

'नायक और नायिका ने एक दूसरे से मान किया है, दोनों एक ही चारपाई पर बैठे हैं, दोनों ने एक दूसरे की ओर से करवट बदल रखी है, लौटने ॥ बाद के सारे कार्य बन्द हैं, दोनों के बिचो में सन्तान है, हृदय में एक दूसरे से अनुभव करने की इच्छा होती हुई भी अपने-अपने गौरव की रक्षा करते हैं सभी समय दोनों के अवाङ्मनस में पूर्ण और दोनों की बाँधे मिल गई, दोनों को हँसी आ गई, दोनों अटपट एक-दूसरे के लठे में चिरत गये और बन्धन प्रदूरीत का कलह समाप्त हो गया ।'

ध्वन्यालोक

वचिदाच्यादिभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्य वग होई रोमो ददृष्टुं पिआण सवण अहरम् ।

मममरपदमग्वाहणि चारिअवाम सहसु पृत्तिम् ॥

(अनु०) कहीं विषयमेव मे भी वाच्यार्थ और व्यवस्था के भेद का व्यवस्था की जा सकती है। जैसे—‘अपनी प्रियता के कारण’ अथवा ‘आ देवकर जिसका काव उग्यन्न नहीं होगा ? तुम्हारा स्वभाव ही कुटिल है, तुम मेरा बना करना तो कभी मानती ही नहीं। मैंने तुम्हें बना दिया था कि हम फूल का मन मूषा क्योंकि हममें मौला बैठा है तुमने नह मना और वह फूल मूष ही लिया। अब इस समय उसका दुष्परिणाम तुम्हें सहनी ही पड़ेगा।

लोचनम्

एव वाच्ययद्गद्ययोर्धार्मिकपान्यप्रियतामभिमारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूप भेदाद्भेद इति प्रतिपादितम् । अनुना तु विशयभेदादपि स्वरूपस्य वाच्यभेदेद द्वाभ्याम्—वचिदाच्यादिति । व्यवस्थापित इति । विषयभेदाऽपि विचित्ररूपो व्यनतिष्ठमानः । महद्वैषम्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः ।

कस्य वा न भवति रोमो एषा प्रियाया मममरपदम् ।

मममरपदमग्वाहणि चारिअवाम सहस्वेदनाम् ॥

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य में धार्मिक, मान्य, प्रियता और अभिमारिका इनकी विषय की एकता होने पर भी स्वरूपभेद के कारण भेद माना जाता है यह प्रतिपादित कर दिया। अब तो विषयभेद से भी व्यङ्ग्य का वाच्य से भेद होता है यह कह रहे हैं—कहीं कहीं वाच्य से इतनी व्यवस्था किया गया है तक। आशय यह है कि अतिरिक्त होनेवाला विचित्ररूप कौन विषयभेद भी सहज ही के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

तारावती

का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। प्रथम उदाहरण में धार्मिक व्यक्ति के प्रति विधि वाच्य और निषेधविधि व्यङ्ग्य है। द्वितीय उदाहरण में वचिद के प्रति शय्या पर जाने का निषेध वाच्य और विधि व्यङ्ग्य है, तृतीय उदाहरण में नायक के प्रति भयविधि और ‘मैं रहस्य की समझ गई हूँ’ यह सन्धिवाक्य व्यङ्ग्य है। चतुर्थ उदाहरण में अभिमारिका के प्रति अभिमारिनिषेध वाच्य और प्रियता की वाच्यकृति व्यङ्ग्य है। इन सब उदाहरणों में एक ही व्यक्ति अभिप्राय से एक ही सन्तान है और व्यङ्ग्यवृत्ति से दूसरा। अतएव यहाँ पर वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि विषयभेद से भी वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद हो सकता है। विषयभेद का अर्थ यह है कि वाच्यार्थ तो सभी भेदों के प्रति एक ही होगा किन्तु व्यङ्ग्यार्थ भेदों के कारण क अनुमान बदलता जायेगा। श्लो० ३ के सूत्र में लिखा है कि कहीं कहीं वाच्य से विभिन्न विषय के रूप में ‘व्यङ्ग्य’ का जा सकती है। कहीं पर यह मान उठता है कि ‘व्यङ्ग्य की जा सकते’ का अर्थ तो यह है कि स्वयं उनमें एक नहीं होता, केवल कल्पन हा की जा सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है वे

छोचनम्

यथा मट्टेन्दुराजस्य—

यदिभ्रम्य विलोकितेषु बहुशो नि रथेमनी छोचने
यद्गात्राणि दृष्टिर्वाति प्रतिदिनं छन्नाच्चिर्नानालवत् ।
दृषाकाण्डविदम्बकश्च निविष्टो यत्पाण्डिमा गण्डयो
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्त्वेषैव वेपस्थितिः ॥

जैसे मट्टेन्दुराज का— बीच बीच में कर-कर कर हानेवाले दृष्टिगतों में जो कि नेत्र
अगिरता को प्राप्त हो जाय है, काटी हुई कमलिनी की नाल के समान या कि उसके छारे
अद्भुत करने वाले वा रहे हैं, दृषाकाण्ड को भी विरहवृत्त करनेवाली धनी पीठिमा या कि उसके
कपेहों पर व्याप्त है, यौवन को प्राप्त कृष्ण के प्रति यौवनवत्ता वनिताओं की वत्त वही
वेपस्थिति है ।

वारावती

उत्पन्न हो जाता है । हमें भी वस समय वस याव में आनन्द की प्रतीति होने लगती है ।
इसी आनन्द का नाम रस है । आस्वादन करना ही इसका एक मात्र माण है । यह रस
लौकिक सुखाद से इस अर्थ में भिन्न होता है कि लौकिक सुख साध्य होते हैं किन्तु यह
स्वयं सिद्ध स्वमकानन्दस्वरूप होता है । यह उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वयं स्फुरित होता
है । इसीलिये मूल में कहा गया है यह प्रकाशित होता है ।

उपयुक्त विधि से यह मूर्तिका रसध्वनि वाक्यसामर्थ्य से आश्रित होकर स्वयं प्रकाशित हुआ
करती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि रसादि की प्रकृति में अर्थ सहकार के साथ शब्द का
ध्वन्यन्यता ही हुआ करता है । विभाव इत्यादि वाक्यार्थ भी रसादिरूप विपरीति का वत्त
प्रकार उत्पन्न नहीं किया करता जिस प्रकार पुत्रव्रत के समाचार से आनन्दानन्दक विपरीति
उत्पन्न होती है । अतएव रसानुभूति में अर्थ का भी ध्वन्यन्यता ही होता है । रस की
वाक्यता दो ही रूपों में हो सकती है या तो रस, शृंगार, रति इत्यादि शब्दों का प्रयोग
करके वा विभाव इत्यादि के अस्वादन के द्वारा ध्वन्यन्यता से । यदि हम रस को शब्दवाच्य
मानेंगे तो रस इत्यादि शब्द और रसानुभूति में अन्वय-व्यतिरेक मानना पड़ेगा । 'वहाँ
रसास्वादन होता है वहाँ शृंगार इत्यादि शब्द अनर्थ होते हैं' यह अन्वय है और 'वहाँ
शृंगार इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसानुभूति भी नहीं होती' यह व्यतिरेक है । किन्तु ऐसा
होता नहीं है ।

['रस' शब्द व्यक्ति रसमग्न पर आधारित कह दे मैं आप में भरा हूँ 'मैं रति से युक्त हूँ'
हम लज्जा आ रही हैं' और 'मैं रति लज्जा इत्यादि के अनुभावों का अभिनय न करे तो
सहृदयों का चमत्कार रसास्वादन नहीं हो सकेगा । इसके अतिरिक्त होता यह है कि रस
इत्यादि शब्दों का न होने पर भी वे वत्त अनुभावों का ही प्रयोजन कर देने से रसास्वादन
हो जाता है ।]

ध्वन्यालोक

तथा हि वाच्यत्व तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वामावे रसादीनां प्रतीति-प्रसङ्गः । न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम् । यथाप्यस्ति एव तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः । स्वशब्देन सा केवलमनुच्यते न तु तत्कृता । विषयान्तरे तथा तस्याः सदर्शनात् । नहि केवलशब्दारादिशब्दमात्रमात्रं विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये सनामपि रसवाक्यप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वामिधानमन्तरणं केवलम्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलाच्च स्वामिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयम्यतिरकाभ्यामभिधेयसामर्थ्यां श्रितत्वमप्य रसादीनाम् । न त्वभिधेय कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रश्नो वाच्यान्निज एवेति स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहैव प्रतीतिरिति पक्षे दशमिष्यते ।

(अनु०) शब्दो रस प्रकार समक्षिणे—रस इत्यादि को वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है—या तो रस इत्यादि शब्द के द्वारा निवेदित किये गये हों या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा उनका प्रत्यायन कराया गया हो । यदि प्रथम रूप (रसादि का स्वशब्द वाच्य होना) माना जावेगा तो जहाँ पर रस इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया होगा वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति हो ही नहीं सकेगी । इसके प्रतिकूल रस इत्यादि के प्रतिपादन के अन्तर पर सर्वत्र रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता । वहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया भी जाता है वहाँ भी उनकी प्रतीति रसादि के प्रतिपादन के द्वारा ही हुआ करती है । रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुशासक होता है । उन शब्दों के द्वारा रस इत्यादि की प्रतीति होती ही नहीं । क्योंकि दूसरे विषय में वहाँ विभाव इत्यादि का अभाव होता है केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है वहाँ प्रतिपादन देखा जा नहीं पाता । केवल शब्द रसादि शब्दों के होने पर और विभाव इत्यादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में योही भी रसज्ञा प्रतीत होती हुई देखी ही नहीं आती । अब चूँकि वहाँ पर रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति नहीं होती अतएव अवश्यतरेक से यह निश्चित होता है कि रस इत्यादि का सर्वत्र वाच्यसामर्थ्य से आगर हा होता है रस इत्यादि किसी प्रकार भी वाच्य नहीं हो सकते । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि तत्सरा प्रमेय रस इत्यादि भी वाच्य से भिन्न ही होता है । यह बात आग चलकर निष्कर्ष जायेगी कि साथ न होत हुए भी रस इत्यादि की प्रतीति वाच्य के साथ हाती हुई भी कदा जान पड़ती है । यह अर्थ दिखाना जावेगा कि इसका प्रतीति वाच्य के साथ की ऐसी होती है ।

वारायता

निज हुआ करते हैं । महिम यह ने ध्वन्यालोक के साथ सभी उदाहरणों को या हा अमृत रसवा है या उनका समावेश अनुमन में करने की चेष्टा की है । किन्तु उनके वृत्तान्तों को अधिकतर हेतु देखाभास की कटि में आ जाते हैं अतः अपमान्यिक हैं ।)

श्रोतवत्

सा केवलमिति । तथाहि—

यावे द्वावर्ती तदा मधुरिपौ तद्वत्तत्त्वमानतां
कालिन्दोत्तररूढवज्रलतामालिङ्गयसोत्कण्ठया ।
तद्गीतं गुर्याप्यगदगदगलधारस्वरं राघव्या
येनान्तर्जलधारिमिजलचरैर्युक्तमुन्मूर्जितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभाववम्बानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठानाब्द केवल सिद्ध साधयति, उत्कमित्यनेन सूक्ष्मानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठा नाब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि भावयंक, पुनानुभवप्रतिपादनं हि पुनर्लक्षितमर्थमाशो वा । न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुनाह विषयान्तर इति । यद्विधम्य इत्यादौ । न हि यदभावेऽपि यद्ववति तत्कृतं तदितिमात्र । अदर्शनमेव ददयति—नहीति । केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभाषादिति । काव्य इति । तव अतः काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः । मनागपीति ।

सा केवलमिति । वह इसप्रकार—“अब मधुपदन मधवान् कृष्ण द्वारा का चने गये तब समुदा पर वगी ॥ और विहरयकाष्ठ में मधवान् कृष्ण के द्वारा चने जाने के कारण मुकी हुई बज्जुलता का आटिङ्गनकर लक्ष्म्या से मरी हुई राधा ने वाक्यमहाद के कारण गुरद कण्ठ से उत्तर में देता गाना गवा कि स्वतन्त्रियों का तो बदला ही क्या बल के अन्दर निराश करनेवाले बीरो ने भी शत्रुकायाग करना आरम्भ कर दिया ।”

यही पर विभाव और अनुभाव अम्बान रूप में प्रतीय हो रहे हैं, और केवल चर्वणा गोचरता को प्राप्त होती ही है । ‘सोत्कण्ठ’ शब्द केवल सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है । ‘वक्’ शब्द शब्द के द्वारा कुछ अनुवाची का भावार्थ करने के लिये ही सोत्कण्ठा शब्द का प्रयोग किया गया है । इसप्रकार अनुवाद भी निरर्थक नहीं है । ‘पुन अनुभाव क द्वारा प्रतिपादन करने में पुनर्लक्ष अथवा अत्यन्तदीमात्र उसके द्वारा नहीं होता’ इस विषय में बहुत बतला रहे हैं—‘विषयान्तरे’ इत्यादि । ‘यद्विधम्य’ इत्यादि श्यानी पर । जिसके अन्तर्गत में भी को हो गया है वह उतका बनाया हुआ नहीं कहा जा सकता । न देखे जाने को ही दृष्ट कर रहे हैं—‘न हि’ इत्यादि । केवल शब्द को स्पष्ट कर रहे हैं शिवाय इत्यादि । काव्य इति । काव्य दुम्हारे मन में काव्य के रूप में जो तत्त्व प्रसक्त होगा है । ‘मनागपीति’ ।

तारावती

‘अब मधुपदन मधवान् कृष्ण द्वारा का चने गये तब समुदा पर वगी ॥ और विहरयकाष्ठ में मधवान् कृष्ण के द्वारा चने जाने के कारण मुकी हुई बज्जुलता का आटिङ्गनकर लक्ष्म्या से मरी हुई राधा ने वाक्यमहाद के कारण गुरद कण्ठ से उत्तर में देता गाना गवा कि स्वतन्त्रियों का तो बदला ही क्या बल के अन्दर निराश करनेवाले बीरो ने भी शत्रुकायाग करना आरम्भ कर दिया ।’

बोधनम्

रासगायत्रे स्थायिन्या रसो, न्यभिचारिण्या भाव, अनौचित्येन तदामास, रावण-
स्यव सीतायां रते । यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि मनेन्द्रास्य' इति
वचनात् । तथापि पात्रात्येय सामाजिकानां स्थिति । तन्मयीभवनदशाया ॥
रतेरेवास्याद्यतति शृङ्गारतैव माति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र
इव म सत्ताग्निं याते धुतिम्' इत्यादौ । तदमौ शृङ्गाराभास एव । तदङ्ग भावा
भासश्चित्तवृत्ते, प्रथम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, अत एव
तन्मद्गृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ । यथा—

वृत्ति की आत्वादनीयता होने पर रस होता है, न्यभिचारिणी के आत्वादनीय होने पर भाव
होता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर रसामास और भावामास होते ॥ । जैसे रावण
की सीता में रति (आत्वादनीय होकर रसामास हो गई है) । यद्यपि वहाँ पर हास्यरसरूपता
ही है क्योंकि कहा गया है कि शृङ्गार से हास्य होता है । तथापि सामाजिकों की यह बात की
रिक्ति है तमय होने की दशा में तो रति की ही आत्वादनीयता होती है, रस प्रकार 'दूरा
कर्षण मोहमन्त्र' के समान उम (सीता) का नाम के वर्णगोचर होने पर' इत्यादि में पौर्वापर्य
के विवेक की अपेक्षा से शृङ्गारता ही प्रोक्षित होती है । अतः यह शृङ्गाराभास ही है ।
उमका अङ्ग भावामास होता है । "यौकि रसन्यम्रता के लिये प्रारम्भ की हुई चित्तवृत्ति का
प्रणम ही विशेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है इसीलिये उसके द्वारा समग्रहीत भी यह
भावप्रणम एवम् गिना गया है जैसे—

चारावर्ती

स्वीकार कर लिया जाव । अभिधा का वही प्ररन ही नहीं उठता वर कि 'मानन्द आ रहा
है' यह कहने से या सुनने से किसी का आनन्द नहीं आ जाता विभिन्न वपनों और अभिनयों
से मान-दातुमूर्ति असम्भव होती है या कि ध्वनि का हा रूप है ।) अभिपेयाय व वाप
नहीं होता इसलिये यही पर-रणा नहीं हो सकती ।

रसध्वनि में रसध्वनि, भावध्वनि, रसामासध्वनि, भावामासध्वनि, भावोदय, भावगान्धि,
भासस्थ और भावगन्ता ये सभी यद् सम्मिलित हैं । स्थायिना चित्तवृत्त अब औचित्य
प्रवृत्ति के साथ आत्वादरूपता का धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं, अब न्यभिचारिणी
चित्तवृत्ति आत्वादरूपता का जाता है तब उसे भावध्वनि कहते हैं । अब वही चित्तवृत्तियों
अनौचित्य प्रवृत्त होता है तब अमग रसामास और भावामास ध्वनियां होती हैं । जैसे राम
का सीता के प्रति प्रथम रसध्वनि कहा जावेगा और रावण का सीता के प्रति प्रथम रसामास
कह जावेगा । यद्यपि इस प्रकार का रसामाससम्बन्धी प्रेय हास्य हो कहा जावेगा । क्योंकि कहा
गया है कि 'शृङ्गार से हास्य उत्पन्न होता है ।' किन्तु रसामास का प्रण तो सामाजिकों का

सोचनम्

मूत्रात्रिमोत्रनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्ति-
विशिष्टमभिविक्तं वाचकमाकल्पयामिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वनन व्यापातः ।
एव ही पञ्चावुपक्रम्यापो दूषितः द्वितीयस्तु कथमिदं दूषित कथमिदं प्रोक्तः ।
जननानुमानध्यायाराभिप्रायेण दूषितः 'ध्वननाभिप्रायेणाप्रोक्तः ।

यस्यैवापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वनन मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी । विमा-
चानुमावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्मेव संमते वा पर्यवस्येत् न तु
रस्यमानतामारे रसे इत्येवं बहुता । इति शब्दो हेतुवै । इत्यपि हेतोर्मूर्ती-
योऽपि प्रकाशे वाक्यादिषु प्रवेति सम्बन्धः । महेवेति । इवशब्देन विद्यमानोऽपि
कर्मो न संसृज्य इति दर्शयति महे इति । द्वितीयोपादे ॥ ४ ॥

अनुमान व्याप्ते इवे रसिमात्र से विरल्य होने के कारण अनुमान से व्यतिरिक्त, ध्वनन
करने से तात्पर्य अर्थात् शक्ति अर्थात् विशेषता से युक्त वाचकमाकल्प । इस प्रकार शब्द
और अर्थ इन दोनों का हा ध्वनन ध्वनन होता है । इस प्रकार दो पक्षों का सम्बन्ध करके
मयन का ध्वनन कर दिया, द्वितीय किमीयकर दूषित कर दिया और किमीयकर ब्रह्माहत
का दिया । ध्वनन और अनुमान के अभिप्राय से ध्वनन कर दिया और ध्वनन का अभिप्राय
से ब्रह्माहत कर दिया ।

तो वही पर भी तात्पर्यशक्ति को ही ध्वनन मानता है । वह अनुमान को नहीं समझता ।
विमल और अनुमाव के अभिप्राय वाक्य में निम्नलिखित तात्पर्यशक्ति में से वा ससर्ग
में परवर्तित होगा, व्यापारन ही जिसका मत है इस प्रकार का रस में परवर्तित नहीं होगा ।
अधिक करने की वदा वाचकमाकल्प । इति शब्द हेतु अर्थ में व्यापार है । वही पर सम्बन्ध इस
प्रकार का है—'इस हेतु से भी तृतीय को शब्द वाक्य में मिल ही होता है ।' 'महेवेति' ।
'इस' शब्द से विद्यमान की रस दर्शित नहीं हो रहा है यह रस दिखाना रहे है—अपने वाक्य-
कार । अर्थात् दिग्गज दर्शन में ।

साधवर्गी

विमल इत्यदि के द्वारा प्रदर्शन न किया गया हो केवल शब्दों इत्यदि शब्दों का व्यवहार
ही वही पर समझता की विमल शक्ति नहीं होती । जैसे 'शब्दों इत्यदि शब्दों' इत्यदि
मान दुर्ग की शक्ति में मही मही का लय मिलता गया है विमल शब्दों विमल की
नहीं होती । विमल अभाव में कई वाक्य व्यवहार हो जावे तो वह उस वाक्य में व्यवहार नहीं
माना जा सकता ।

वही पर अनन्त-अर्थिक के द्वारा सिद्ध किया गया है कि रस इत्यदि शब्दों का प्रयोग
रसव्यवहार में निमित्त नहीं होता अर्थात् विमल अनुमान के द्वारा उनका दर्शन हो रस-
व्यवहार में निमित्त होता है । अनन्त का अर्थ है सदा और अर्थिक का अर्थ है अभाव ।

छोषनम्

इत्यतो यया हर्षो जायते तथा । नापि लज्जयया । अपि तु सहृदयस्य हृदय-
सयादबलादिमावानुभावप्रतीतिं तन्मयीभावेनास्वाद्यमानं पुनरस्यमानतैकप्राप्य
मिदस्वभावमुलादिविलक्षणं परिस्फुरति । उदाह—प्रकाशत इति । तेन तत्र
शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति । विभावाद्यर्थोऽपि न पुनस्तन्महर्ष-
न्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननाविरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वनन-
मत्रोपपत्तेः । स्वशब्देति । शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाभ्यापारवशादेव निवेदितावेन ।
विभावादीति । तात्पर्यं शक्येत्यर्थः । तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानता-
सार रस प्रति निराकृत्यं ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति ।
तत्र दुःखा हे' रसमे जेता हर्ष होता है वैसा नहीं है । तृण के द्वारा भी नहीं । अनितु
सहृदय के हृदयस्य के वृत्ति पर विभाव और अनुभाव को प्रतीति में समझना के आ जाने
से आत्मा के वर होते हुए ही रसमानता को ही एकमात्र माय के रूप में रखनेवाला सिद्ध
रसमात्र ही रसादि से विलक्षण स्फुरित होता है । यज्ञ कहते हैं—प्रकाशित होता है ।
इससे वृत्ति पर अर्थसहकृत शब्द का ध्वनन हो व्यापार होता है । विभावादि अर्थ भी पुनः
अनर्थ न्याय से वर चित्तवृत्ति का ध्वनन करता है इस प्रकार अर्थ का भी जननाविरिक्त
व्यापार ध्वनन हो कहा जाता है । स्वशब्देति । अर्थात् शृङ्गार रसादि शब्द हैं अभिधा व्यापार
का ही निवेदिता होने के कारण । विभावादि । अर्थात् तात्पर्य अर्थ से । वहाँ पर रसमान
तत्त्व (रस) के प्रति स्वशब्द के अन्वयव्यतिरेक का निराकरण करते हुए ध्वनन के ही से
दोनों (अन्वयव्यतिरेक) होते हैं यह दिखाना रहे है—न च सर्वत्रेति ।

पारावती

वहाँ पर ईश्वर और रोग आनन्दन से निमित्त नहीं है किन्तु सनका प्रश्न ही निमित्त
है । (रसी प्रकार मायन्द, मायमर्ष और मायानवृत्ति के विषय में भी समझना चाहिये ।
यह है रसध्वनि के विचार का सचित्त परिचय ।)

इस रसात्मान से तृण होनेवाला आनन्द अभिधावृत्ति हैं सगृहीत नहीं हो सकता ।
अभिधावृत्ति के द्वारा भी आनन्द तृण हुआ करता है और वह इस प्रकार का हुआ करता
है जैसा कि 'हृदय' तुम्हारे पुनः तृण हुआ ।' यह करने से आनन्द को होता है ।
रसमानन का आनन्द उससे विलक्षण होता है क्योंकि उसने करने-बरावे का भाव विरोधित
हो जाता है । बाप रसादि के न होने से तृण भी नहीं हो सकता । किन्तु जिस समय
हम कल्प में किसी अशुभजन के प्रति तृण होनेवाले आश्रयगत किसी भाव का परिशीलन
करते हैं और अशुभजन तथा अशुभजनता चेता रसादि को अशुभ के रूप में और आश्रय
गत चेता को अनुभाव के रूप में प्रतीति करते हैं उस समय से वह आश्रयगत भाव अपने
हरण से भूत होता हुआ सा महान् प्रकाश है । उस समय हमारा अन्तःकरण उस भाव से

ध्वन्यालोक

काव्यस्यास्यारमा ता पृथार्पस्तथा चादिकवे पुता ।

श्रीशङ्खद्विविधयोगाद्यः शोकः श्लोकस्वभागतः ॥ ५ ॥

विविधवाच्यवाचकवचनाप्रपञ्चचारण. काव्यस्य स पृथार्पः सारभूतः । तथा चादिकवेः वाच्यशोकः निहतमहत्परविरहकातरकौश्याद्भन्दनमनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः । शोको हि कल्पस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेद-दर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणप्राधान्यात् ।

(अनु०) 'वही अर्थ काव्य की आत्मा है' इसमें वही प्रमाण है कि प्राचीन काल में शौच के भेदों के परस्पर वियोग से उत्पन्न हुआ आदिकवि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया ॥ ५ ॥

विविध वाच्यवाचकवचनाप्रपञ्च से सुन्दरता को प्राप्त काव्य का वही (प्रतीयमान) अर्थ सारभूत है उसमें यह प्रमाण है कि गारे हुए सहचर के वियोग से कानर शौचों के आश्रय से उत्पन्न हुआ आदिकवि वाच्यशोक का शोक ॥ श्लोकस्व में परिणत हुआ । निम्नभेद शोक कक्षा का स्थायीभाव है । प्रतीयमान के अर्थ भेदों को देखते पर भी रस, भाव के द्वारा ही वलक्षण किया गया है क्योंकि प्रचलता वही ही है ।

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यायता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । भवतु काव्यात्मत्वमितिहामस्याजिन य दर्शयति—काव्यस्यामेति । य एवेति । प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रकाशे लक्ष्य एव रसध्वनिरितिमन्तव्यम् । इतिहासबलान् प्रकाशतृप्तिप्रत्ययलाभ । तेन रस एव वस्तुत आत्मा । वस्तुतद्व्याख्यातनी तु संपद्य, रस प्रत पयंचस्येति इति व्याख्यादुरदृष्टो तावत्सिद्धिप्राप्तेण 'ध्वनिः काव्यस्यामेति' सामान्येनात् । शोक इति । श्रीशङ्ख द्विविधयोगेन सहचरो-हननोद्भूतं मादृश्यध्वनौगिषो यः शोकः व्यापिभावो निरपेक्षमात्रवादि-प्रत्ययमद्वारोचितरित्यादिभावाद्वय एव, ता एव तथामूठविभावतदुपा-

इस प्रकार 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यने से ध्वनिस्वरूप की व्याख्या कर दी । इस समय इतिहास के रूप में भी काव्यप्रमाण दिखाना रहे हैं—काव्यस्यामेति । 'वही' रस शब्द के द्वारा समग्र प्रतीयमान के प्रत्ययन होते हुए भी इतिहास के रूप पर और प्रकरणगत कृतिप्रत्यय के अर्थ के रूप पर पूर्ण व रसध्वनि ही समग्री जानी चाहिये । इसमें रस ही काव्य में आत्मा है, वस्तु तथा वस्तुध्वनि तो रस के ध्वनि ही पर्यायित हाता हैं इसप्रकार काव्य की अपेक्षा के दोनों वस्तु ही हैं इस अभिप्राय से सामान्य रूप में कह दिया गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है । शोक इति । शब्द का द्विविधयोग से उत्पन्न सहचरोहनन से उत्पन्न सादृश्य-पक्ष से उत्पन्न हुआ भी शोक स्थायीभाव (वह) निम्नभावा के कारण विदग्धमाद्वारोचित रित्यादिभाव से निर हो है । वही इस प्रकार के विभाव तथा समये बड़े हुए आश्रय

लोचनम्

हृष्यप्रानुसारविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयाभवनसुरक्षा तद्विभावातु-
मावोचितचित्तवृत्तिवायनाजुगतिस्वसंविदानन्दधर्माणां चेतोऽर्थो रमा मा स्तु-
रत्येवामिवायचित्तौ मुख्यनिद्रावृत्तिग्लान्याहृष्यप्रानुसृतिवितर्कादिसन्धानावेऽपि।
एवं व्यतिरेकानां प्रत्ययान्वयानां दशपति—यथागीति। तद्विधि स्वशब्द-
निवेदितत्वम्। प्रतिपादनमुत्तेनेति। शब्दप्रयुक्त्या विभावादिप्रतिरत्येव्ययम्।

यहाँ पर अनुभाव विचार के बंधन के बाद ही तन्मय होने को, बुद्धि के इस विचार और
अनुभाव के दोनों विच्छृति को बाधना से अनुसृष्टि की अपनी सचेदनमया अन्तर्धर्मा का
विन्यस्त धर्म हो रस की अन्तर्धर्मा सुरित होता है, यद्यपि यहाँ पर अनिष्ठ, विद्या,
अन्तर्धर्मा, निद्रा, इति एव न, अन्तर्धर्मा, मन, सृष्टि, विच्छृति इत्यादि किसी शब्द का प्रयोग
नहीं किया गया है। इस प्रकार व्यतिरेक का अन्तर्धर्मा विच्छृति अन्तर्धर्मा अन्तर्धर्मा विच्छृति
रहे हैं—यथागीति। 'तत्' का अर्थ है स्वशब्दनिवेदित। अन्तर्धर्मा शब्द के
आश्रय को ही इस विचार इत्यादि को प्रतिरति के द्वारा।

वाराणसी

बैठे मन्त्रमुखा का निम्नलिखित उदाहरण—'कृष्ण का रंगन प्रत्यक्ष हो रहा है और
उपर युक्ति' भी उसे कृष्ण रंगन से व्यतिरेक है। अब कृष्ण को देखकर रंगनवरी
रंगनवरी का रंग ही बदल जाता है। बीच बीच में एक-एक कर के कृष्ण को देख लेते
हैं जिससे उनके नेत्र अस्थिर हो जाते हैं। जैसे—क्यों पुरे कलिलों सूखी जाती है जैसे ही
उन रंगनवरी के आगे भी एक-एक कर के रहे हैं। उनके कलेटों पर कृष्णरंगन पड़ने की
पेठ रही है जो कि ऐसे पुरे रस को पड़ने को भी उचित कारणवती है।'

यहाँ पर कृष्ण अन्तर्धर्मा है रंगनवरी अप्रत्यक्ष है, चन्द्र नेत्रों से एक-एक कर के देखना
इत्यादि अनुभाव है, कृष्ण का रंगन रंगन विचार है। इन विचार और अनुभावों का बीच
हो जाने के बाद विच्छृति में जो तन्मयता आ जाती है और विच्छृति अनुभाव और विचार
के दोनों बिना बाधना से अनुसृष्टि हो जाती है उसके द्वारा स्वप्रकारतन्म विचार रस का
प्राप्य होने लगता है। यद्यपि यहाँ पर भी अनिष्ठ, विद्या, अन्तर्धर्मा, निद्रा, इति, एव न,
अन्तर्धर्मा, मन, सृष्टि, विच्छृति इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु इन सबकी
प्रति विचार और अनुभाव के बंधन पर ही हो जाती है।

इस प्रकार यहाँ पर व्यतिरेकान्विति 'जहाँ शब्द इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसमुद्रति
नहीं होती' में दोष दिखला दिया गया कि उक्त पद में शब्द इत्यादि शब्दों के न होने पर
भी रसमुद्रति हो जाती है, अब अन्तर्धर्मा का अन्तर्धर्मा विचार का रहा है—कन्म में
कहीं-कहीं रस, शब्द इत्यादि शब्दों का प्रयोग में लिखा है। यहाँ पर मा उन्हीं प्रति
विचार से विचार इत्यादि के अन्तर्धर्मा के ज्ञान हो होती है, शब्दों का प्रयोग से केवल
उन शब्दों का अनुवाद करने के लिये ही होता है। जैसे—

सातवती

यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह ध्वनि ही वाक्य की आत्मा है। यद्यपि वहाँ पर प्रकरण प्रतीयमान मात्र था है तथापि आदि कवि के लोकम्भ इतिहास के दृष्टान्त से तथा कृत्तिवार आनन्दवर्धन की व्याख्या के आधार पर 'स एव' का अर्थ रसध्वनि हो ठहरता है। अतएव वस्तुतः रसध्वनि ही वाक्य की आत्मा है यही अर्थ समझना चाहिये। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि वही पर शान्धरूपता को धारण करता है जहाँ पर रसध्वनिनिर्गमतायी होती है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी वाक्यार्थ का अपेक्षा उत्कृष्ट होती है अतः सामान्य रूप से ध्वनि को वाक्य की आत्मा कह दिया गया है।

[कारिका न० ४ में 'प्रतीयमानं पुननन्देव' लिखकर वाक्यार्थमन्त्रिरित्वा व्याख्यानार्थ का परिचय दिया गया था, इसमें वस्तु, अलङ्कार तथा रस ये तीनों प्रकार की ध्वनियाँ आ जाती थी। उसी व्याख्यानार्थ का ध्वनिवार ने वस्तुतः कारिका में वाक्य की आत्मा बतलाया। केवल प्रमाण या उदाहरण के रूप में शोक की श्लोकध्वनिरिति का उदाहरण दिया जिसका अर्थ रसध्वनिपरक हो सकता था। किन्तु कारिका और उसके प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्वनिकार तीनों प्रकार की ध्वनियों का वाक्य की आत्मा मानते हैं। आनन्दवर्धन ने इस कारिका की व्याख्या उपलक्षणरत्न की। उनका आशय यह है कि 'ध्वनिकार ने उदाहरण के रूप में जो शोक की श्लोकध्वनिरिति लिखलाई है उसका अर्थ यह नहीं है कि रसध्वनि ही वाक्य की आत्मा होती है। रसध्वनि तो उपलक्षणमात्र है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी रसध्वनि के समान ही वाक्य की आत्मा हो सकती हैं।' इसके प्रतिवृत्त अभिनव गुप्त ने रसध्वनि को ही वाक्य की आत्मा माना है। वहाँ पर वह ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनि समुद्र के दो वर्ग हैं—एक ओर तो वे लोग हैं जो ध्वनिमात्र को वाक्य की आत्मा मानते हैं और दूसरे वे लोग हैं जो केवल रसध्वनि को ही वाक्य की आत्मा मानने के पक्षपाती हैं। आनन्दवर्धन प्रथम वर्ग में हैं और अभिनवगुप्त द्वितीय वर्ग में किन्तु दोनों में अधिक भेद नहीं है। स्वयं आनन्दवर्धन ने अनेक स्थानों पर रसध्वनि की प्रधानता प्रतिपादित की है।

एव भीष्मी के सहचर का वध कर दिया गया और उसका परस्पर सहचर्य मरु हो जाने के कारण उन्हें जा शोक हुआ उसे हम विषयम्भ के स्वादीभाव रति का सञ्चारीभाव शोक नहीं बढ़ सकते। कारण यह है कि जबकि गुण सम्मिलन की आशा रहती है तभीतक हम उसे रतिव्यापी में सन्निविष्ट कर सकते हैं। सहचर की हत्या के बाद अलम्भन के निष्पन्न हो जाने से वह शोक रति की सोमा के बाहर हो गया। अब वह शोक स्वादीभाव का। कविवर बाणभट्ट जी के चित्त में वामनारूप में जो शोक विद्यमान था उसे रस की वरगुण सामग्री प्राप्त हो गई। मृत भीष्म अलम्भन था और उसके शिवोत्तम से बाहर भीष्मी आ प दी। भीष्मीका आनन्द इत्यादि अनुमान था और विवाद इत्यादि उच्चारणमात्र थे। इनकी सहायता से अनुमात्रों के आस्तान के द्वारा भीष्म के शोक के साथ वाक्यार्थ की का

लोचनम्

मृत्कारहास्यकरुणवीररौद्रमयानकाः ।

वीमत्सान्द्रुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र । एवं स्वशाब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य
छधैवोपसंहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन । अभिधेयमेव सामर्थ्यं
सहकारिणाभिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये अभिधेयस्य च
पुत्रजन्महर्षभिक्षयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवामोजनाभावविशिष्टपीनत्वानु-
'मृत्कार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक तथा वीमत्स और सान्द्रुत सहावाले ये आठ
रस नाट्य में माने गये हैं ।'

यहाँ पर । रसमकार स्वशब्द के साथ रस इत्यादि का व्यतिरेकभाव और अन्वयभाव
को व्यपत्ति के द्वारा दिखानाकर उसी प्रकार उपसंहार दिखाने हैं—'यतश्च' से लेकर 'कथ-
ञ्चिद्' वहाँ तक । ('अभिधेयसामर्थ्यातिमत्त्व' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—कर्मधारय के
आधार पर और तत्पुरुष के आधार पर । एक के द्वारा शब्द आता है और दूसरे के द्वारा
अर्थ) अभिधेय ही है सहकारिताशक्तिरूप सामर्थ्य अर्थात् शब्द के रसध्वनन करने में विभाव
इत्यादि । अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ का सामर्थ्य अर्थात् पुत्रजन्मजन्य हर्ष से भिन्न स्वभाव होने
के कारण जननव्यतिरिक्त और दिन में भोजन न करने की विशेषता से युक्त पीनत्व के द्वारा

तारावती

यहाँ पर कृष्य आलम्बन है, राधा आलय है, विहरण काल में झुकी हुई बञ्जुल लता
उदीपन है, नाचमग्राह, गद्गद कण्ठ, तारस्वर में गायन अनुभाव हैं । इन विभाव और
अनुभावों की प्रतीति में किसी प्रकार की मछिनता नहीं है । इनके द्वारा रसिमात्र की प्रतीति
होती है । यहाँ पर औत्पुन्य सञ्चारीभाव का अन्वयान अनुभावों के द्वारा ही होता है ।
'वक्ष्ण्टा से मरी हुई' यह विशेषण अनुभावों के बलपर मरुत की हुई वक्ष्ण्टा का अनुवादक
भाव है । यहाँ पर अनुवाद अर्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभावों का प्रयोग तो वक्ष्ण्टा
का आत्मादन करने के लिये किया गया है और 'सोत्वण्ट' तथा 'वक्त' शब्दों का प्रयोग
राधा की वक्ष्ण्टा से बलचरों की वक्ष्ण्टा की सङ्घति भिक्षाने के लिये किया गया है । यदि
अनुभावों का अनुवाद करने के लिये सोत्वण्ट तथा वक्त शब्दों का प्रयोग न किया गया होता
तो बलचरों के द्विपृथक् अनुभाव लिखने पड़ते जिससे एक तो पुनरुक्ति होती दूसरे तन्मग्रा
व्यपन्न नहीं हो सकती थी । शब्द के द्वारा अनुवाद करने पर यह दोष व्यपन्न नहीं होता ।

यहाँ पर अनुभावों के द्वारा भी किसी भाव की अविव्यक्ति हो और उदात्तक शब्द का
उत्पादन भी कर दिया गया हो, उस अविव्यक्ति में अनुभाव ही कारण होते हैं शब्दजन्य
आनन्दानुभूति नहीं हो सकती । 'शब्द केवल अनुवादक होते हैं' इसमें यही मनाया है कि
अन्य स्थानों पर मात्रजन्य आनन्दानुभूति तो होती है किन्तु यहाँ पर शब्द का उत्पादन नहीं
होता । जैसे 'यद्भवम्य विजोर्द्विषु' इत्यादि निजके उदाहरण में । इसके मद्द्गुह यहाँ पर

छोचनम्

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—‘यावत्पूर्णा न चैतेन साधनैव समभ्यस्यम् ।’ इति ।
अगम इति च्छान्दसभाष्यमेव । स एवेत्येवकारणेद्रमाह—नान्य भावेति ।
तेन यदाह मद्रनायक —

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।

अर्धतरवेन युक्तं तु घटन्त्याख्यानमंतयोः ॥

इयोरुणत्वे व्यापारप्राधान्ये कान्यधीमवेव ॥

इति तदपास्तम् । व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा स्वभावात्स्वभावस्तत्रापूर्व-
मुक्तम् । अथाभिधेय व्यापारसत्ताप्यस्याः प्राधान्यत्वेत्यादेदित् प्राक् ।

वही हृदयदर्पण में कहा गया है—‘जब तक वह उसके द्वारा पूर्ण नहीं होता तब तक उसका ध्यान नहीं करता ।’ ‘अगम’ वह वैदिक ‘अद्’ है अगम के द्वारा बना है । ‘वही’ इस ‘ही’ के द्वारा वह कहते हैं कि और आत्मा नहीं है । इससे जोकि मद्रनायक ने कहा है ।

शब्द की प्रधानता का आशय लेकर पृथक् शास्त्र को मानते हैं, अर्धतरल से युक्त को तो आस्थान कहते हैं, इन दोनों के मील हो जाने पर तब व्यापार की प्रधानता होने का कान्यबुद्धि हो जाती है ।

इसका निराकरण हो गया, यदि व्यापार ध्वननायक आत्मादन स्वभाववाला है तो कोई गर्ह वाच नहीं करी । यदि अनिवा ही व्यापार है तबानि इसकी प्रधानता नहीं होगी वह कहते ही बतला चुके ।

छायावती

प्रवाहित होने लगता है । इसीछवे हृदयदर्पणकार ने कहा है—‘जब तक कोई व्यक्ति किसी भाव से पूर्ण रूप से भर नहीं जाता तब तक पथ के रूप में वह उसे वर्णनीय नहीं कर सकता ।’ ‘अगम’ में अद् का अगम चान्दस है ।

[पाणिनि व्याकरण में ‘न मास्वीने’ श्रुति ‘मा’ के शेष में अद् नहीं होता, किन्तु वही पर अद् का अगम कर दिया गया है । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राचीन धर्मियों के अन्त करण में वेदमन्त्रों का स्वतः जातिर्भाव ही जाया जाता था वसी प्रकार धर्मिक धर्ममीकिक अन्त करण में इस छन्द का स्वतः प्रकटा हो गया । इस प्रकार इस छन्द का महत्त्व वेदमन्त्र से कम नहीं है । वेदमन्त्र व्याकरण के शास्त्र में पूर्णरूप में नहीं रहते, उनमें वैसे वैसे विधि दर्शा जाती है उसी को सिद्ध कर दिया जाता है । इसीप्रकार वही पर भी व्याकरण में अनुदात्तन का अर्थव्यपण करके अद् का अगम कर दिया गया है । यद्यपि वही पर वेग-भाग के द्वारा है अम । अर्थात् छन्दमीरहित इस सम्बोधन को मानकर के भी काम चल सकता है तबानि वही पर छोकनकार को वह पथ वेदमन्त्र की कोटि में रक्षता है अम-
छिये चान्दस अद् माना गया है ।]

वास्तवता

जहाँ जहाँ रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वही रसास्वादन होता है यह भाव्य है और जहाँ जहाँ रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता वही रसास्वादन भी नहीं हो सकता यह व्यक्तिक है। किन्तु ये दोनों बातें यहाँ पर टाक नहीं सकती। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि रसास्वादन रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग जान पर भी नहीं होता और इन शब्दों के प्रयोग न होने पर भी हो जाता है। अतएव रसास्वादन में रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग वास्तव नहीं हो सकता है, जहाँ इस प्रकार का भाव्य नहीं होता वही रसास्वादन हो नहीं सकता यह दोनों बातें ठीक हैं। अतएव रस वाच्य नहीं स्वाभिप्रेयमामर्थ्यासित हो पाता है।

स्वामिप्रेयसामर्थ्यासित शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की हो सकती है—(१) समानाधिकरण तत्पुत्र्य अर्थात् अभिप्रेय या वाच्यार्थ ही वह शक्ति है जिससे शब्द पर शब्द रस का अंग बन जाता है। आगे यह है कि शब्द की शक्ति होती है अभिप्रेय या वाच्यार्थ। रस के प्रसङ्ग में वाच्यत्व होता है विभाव इत्यादि। विभावशक्ति का आश्रय लेकर शब्द प्रयोग—रसामिव्यञ्जन में वाच्यार्थ का अन्वयित्व निम्न हो जाती है। (२) वैयर्थिकरण तत्पुत्र्य—अभिप्रेय का सामर्थ्य—वाच्यार्थ की शक्ति है गुण और भङ्गद्वारा से दुष्क तथा रस के अनुरूप वाचकसमुदाय। यह अभिप्रेय सामर्थ्य रस इत्यादि का ध्वनन किया करता है। इस व्युत्पत्ति से रसामिव्यञ्जन में शब्दसहकारिता की व्याख्या हो जाती है। यह ध्वनन आधार रस इत्यादि का जनक नहीं होता जैसा कि पुत्रजन का समाचार पिता के हृदय में हृष का जनक हुआ करता है, और न रस इत्यादि का अनुमान ही करता है जैसा कि दिन में मोमन न जाने पर भी स्थूल होना रात्रिमौन का अनुमान कराया करता है। अतएव ध्वननआधार शब्द और अर्थ दोनों का हो सकता है। यहाँ पर रस की वाच्यता के दो पक्ष उठाये गये थे—(१) रस शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकता है, (२) रस विभाव इत्यादि के प्रसङ्ग-रस के द्वारा वाच्य हो सकता है। प्रथम पक्ष का खण्डन कर दिया और द्वितीय पक्ष का एक रूप में स्थापन कर दिया और एक रूप में स्वीकार कर लिया। विभाव अनुभाव इत्यादि रस के जनक या अनुभावक होते हैं इस बात में खण्डन कर दिया और ध्वनन करता है इस रूप में स्वीकार कर लिया। [प्रतिहार नाम के अनुसार उद्धृत ने रसास्वादन के ५ प्रकार माने थे—स्वाभिव्यञ्जक, स्वाधी सङ्गति, विभाव या अभिनय के द्वारा ध्वनन। इस प्रकार यह स्वाभिव्यञ्जक ध्वनिमदान के प्रतिकूल है। इसका उत्तर कुन्तल ने बड़े ही मनोरञ्जक ढङ्ग से दिया है। उन्होंने लिखा है कि—हमने तो सभी रस का स्वाभिव्यञ्जक माना नहीं। यह तो बड़ा अच्छा है की इत्यादि शब्दों का नाम लिया और स्वाद का रस और गुणाधि टांग प्रत्यक्ष राज्य, सुख, समृद्धि सम्पत्ति इत्यादि को केवल हल शब्दों

सारांश

यदि अभिप्रायक है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है' यह खण्डन भी ठीक नहीं। क्योंकि आश्वलायनव्यास को सभी लोग नहीं समझ सकते उनके हिये उसके बड़बुदने में महीनता विद्यमान है। किन्तु मैं प्राचीन लोगों के बचनों की अधिक परीचीचना करना उचित नहीं समझता। यह है दोषितिकार के कथन का अनुवाद।

उपर सोचन और दोषित दोनो टीकाओं का आशय मस्तुत किया गया है। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक कौश्र का हो सकता है जो कि मारा गया है, दूसरा शोक कौश्र का हो सकता है जो कि अपने सद्यस्व के विरह से कातर है और तीसरा शोक रस वदना का साक्षात् अनुभूति करनेवाले बचनर काव्यीक का हो सकता है। सद्यस्व सामाजिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर रसास्वादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ पर शोक की श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। कौश्र का शोक काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि कौश्र आत्मन है और आत्मन का भाव रसरूपता को धारण हो नहीं कर सकता। अब रही कौश्र के शोक की बात। उसका भी शोक रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक किंबाधून्य भाव है। शोक की पराकाष्ठा इसी में है कि हाथ पैर टीते पक जायें और चेतना शिथिल हो जाये। श्लोकरूप में परिणति सन्निकता का परिणाम है जो शोक जैसे निश्चित भाव में समाप्त नहीं है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जाये तो उसमें भी ऐसी ही निश्चितता आ जायेगी और शोक को श्लोकरूप में परिणति अवलम्ब हो जायेगी। मुनि का शोक शुद्ध शोक नहीं है किन्तु उस शोक में सहानुभूति का भी मिश्रण है। यही सहानुभूति का मिश्रण शोक में रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही सोचनकार का आशय है। इसी हिये उन्होंने लिखा है—आश्वलायन के उपर्युक्त शोक ही कथ्य रस की आत्मा है क्योंकि उच्छलित होना उसका स्वभाव है।

मट्टनायक ने शब्द और अर्थ को गीण मानकर आश्वलायन की प्रशानता में काव्यमृदा माना। यो। इसपर सोचनकार ने लिखा कि यदि मट्टनायक का आश्वलायन की प्रशानता से अभिप्राय शब्दनायक से है तो उसमें कोई नई बात नहीं और अभिप्रायवाचक का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। इसपर दोषितिकार ने लिखा कि 'आश्वलायन की प्रक्रिया सप्रबलसंवेद्य नहीं है अतः उसका खण्डना आवश्यक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि मट्टनायक शब्दनायक नहीं मानते। सोचनकार का यहाँ पर आशय है कि यदि शब्दनायक की प्रशानता मान ली जाये तो मट्टनायक हमारे ही मन के ही बने हैं, वे कार्य देनी महीन बात नहीं कहते किमती हम न मानते हैं। दोषितिकार ने सोचन के कुछ अभिप्राय को न समझकर ही खण्डन किया है। शब्द का काम ही यह है कि जो बात

लोचनम्

ऊन्दापनुभावचर्चणया हृदयसंवादतन्मयीमवनकभादास्वाद्यमानता प्रतिपद्य
करुणारसरूपता शौकिकशोकम्यतिरिक्ता स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारा प्रतिपद्यो
रसपरिपूर्णकुम्भोद्यमनवक्षितवृत्तिनि ध्वन्दस्वभाववाग्विद्यापादिवद्य समयानपेक्ष-
त्वेऽपि चित्तवृत्ति-यञ्जकत्वादितिनयनाकृतकतयैवावेगवशात्समुचितशब्दछन्दो-
वृत्तादिनिपन्नितश्लोकरूपता प्राप्त ।

मा निषाद प्रविष्टा स्वमग्न शशवती समा ।

यत्क्रीडमिधुनादेकमवधी काममोहितम् ॥ इति ।

इत्यारि अनुभाव की चर्चणा के द्वारा हृदय संवाद तथा तन्मय होने के क्रम से आत्मापमानता
की मात होकर लौकिक शोक से मित्र करुण रसरूप को जिसका कि सार अपने चित्त की द्रुति
का समास्वादन ही है, प्राप्त होकर रस से मरे हुए बड़े के छनकने के समान और चित्तवृत्ति
के प्रवाह स्वभाववाले वाग्विद्या इत्यादि के समान संकेत की अपेक्षा ॥ करते हुए चित्तवृत्ति
के व्यञ्जक होने के कारण इस नीति से बिना ही बनावट के अर्थात् बिना ही पूर्वपूर्व विचार
दिये हुए 'आदेशरस (वह शोक) सलुब्ध शब्द छन्द वृत्त इत्यादि से नियमित होकर
श्लोकरूपता की मात हो गया ।

'हे निषाद ! शशवत बहों में तुम प्रविष्टा को न प्राप्त हो ओ ओ कि कौन मिधुन से
काममोहित एक को तुमने मार डाला है ।'

शारावती

का उच्चारण करते ही प्राप्त कर लेंगे । उद्भट ने कुमारसम्भव के उदाहरणों से ओ स्वार्थ
वाच्यता दिखालाई है उसका भी उद्धर दे दिया गया कि ऐसे स्थानों पर भी रसानुमृति
विभावानुभाव इत्यादि के द्वारा ॥ होती है । स्वार्थ अनुवादक मात्र ही हो सकते हैं ।]

कुछ लोगों ने ठिंसा है कि 'अभिधेयसामर्थ्यापि' का अर्थ है तात्पर्यगतिक । तात्पर्यगतिक
ही ध्वनित्वोपाय है ।' यह व्याख्या करनेवाले वस्तुवत्त से सर्वथा अनभिष्ट हैं । विभाव
अनुभाव इत्यादि के अभिवादक वाक्य में तात्पर्यगतिक का पर्यवसान या तो भेद में हो जाता
है या संसर्ग में । (जैसे 'गम् भनव' इस वाक्य में तात्पर्यवृत्ति का तो अन्य क्रियाओं की
कर्मों से भेद बतलाती है या कान्यदन क्रिया के प्रति गो का कर्मत्व बतलाती है ।) यह वृत्ति
रस को अनुमृतिगम्य नहीं बना सकती जिसका सार आस्वादन करना ही है । इतना पर्याप्त
है अधिक विस्तार को क्या आवश्यकता ? मूल में 'इति वृत्तयोऽपि प्रमे' वाच्यद्वित्र एव'
इस वाक्य में 'इति' का अर्थ है हेतु । इसप्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'उक्त कारणों
से वृत्तों में रसपनि भी वाच्य से मित्र ॥ होती है । 'वाच्येन स्वस्य सदेव प्रतीति' इस
वाक्य में 'इ' शब्द का अर्थ है—'असत्पश्यन्मन्यस्य में विद्यमान भी कम लपित नहीं होता
इस बात का विवेचन दूसरे उद्योत में किया जावेगा ॥४॥

चौथी कारिका में ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की गई । अब इतिहास के बहाने से भी

छायावर्णी

यदि अमिषात्मक है तब उसका अध्यन करते ही किया जा चुका है' यह स्पष्टन भी टोक नहीं। क्योंकि आत्मादानम्यापार को सुभी लोग नहीं समझ सकते, उनके लिये उसके रहस्यने में नवीनता विद्यमान है ही। किन्तु मैं प्राचीन लोगों के वचनों की अधिक पर्याप्तोचना करना उचित नहीं समझता।' यह है दीपितिकार के कथन का अनुवाद।

उत्तर छोचन और दीपिति दोनों टोकाओं का आशय प्रस्तुत किया गया है। वहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक कौशिक का हो सकता है जो कि मारा गया है, दूसरा शोक कौशिक का हो सकता है जो कि अपने सहचर के विरह से फातर है और तीसरा शोक इस बटन का सत्तात्पर्यदाकन करनेवाले काँवर बात्मीक का हो सकता है। सहृदय सामाजिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर रसादादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। वहाँ पर शोक के श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। कौशिक का शोक काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि कौशिक आत्मन है और आत्मन का भाव रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। अब रही कौशिक के शोक की बात। इसका भी शोक रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक क्रियागुण भाव है। शोक की पराकाष्ठा तब ही है कि हम पर दीठे वष बाँवे और घेतना निमित्त हो जावे। श्लोकरूप में परिणति सक्तिवत्ता का परिणाम है जो शोक जैसे निमित्त भाव में सम्भव नहीं है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जाये तो उसमें भी वेसी ही निमित्तवत्ता हो जावेगी और शोक को श्लोकरूप में परिणति सम्भव हो जावेगी। मुनि का शोक शुद्ध शोक नहीं है किन्तु उस शोक में सहानुभूति का भी मिश्रण है। यही सहानुभूति का मिश्रण शोक में रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही छावनकार का आशय है। इसीलिये उन्होंने लिखा है—'आत्मा के उपर्युक्त शोक ही कथ्य रस की आत्मा है क्योंकि उच्छलित होना इसका स्वभाव है।'

महर्नायक ने शब्द और अर्थ को गीत शान्तर व्यापार की प्रधानता में काव्यसदा माना था। इसपर छावनकार ने लिखा कि यदि महर्नायक का व्यापार की प्रधानता से अमिषाव्यञ्जनावृत्ति से है तो उसमें कोई नई बात नहीं और अमिषाव्यापार का अध्यन करते ही किया जा चुका है। इसपर दीपितिकार ने लिखा था कि 'आत्मादान की प्रक्रिया सप्रजनमवेष्ट नहीं है अतः उसका बहलना आवश्यक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि महर्नायक काव्यन्यापार को नहीं मानते। छावनकार का यही पर आशय है कि यदि अमिषाव्यापार की प्रधानता मान ली जावे तो महर्नायक हमारे ही मन के हो जाते हैं, वे कोई ऐसी नवीन बात नहीं कहते जिसको हम न मानते हों। दीपितिकार ने छावन के सक्त अमिषाव को न समझकर ही अध्यन किया है। शब्द का काम ही यह है कि जो बात

लोचनम्

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति दुःखेन तोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यामतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति । एवं चर्वणोचितशोकस्यायिमावात्मककल्परससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्य-; स्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः ।

मुनि का शोक है वह नहीं समझना चाहिये । ऐसा होने पर उसके दुःख से वह भी दुःखी हुये इस हेतु को लेकर रस का आत्मा होना निरवकाश हो जावेगा । दुःखसन्तप्त की यह दशा नहीं होती । इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकस्यायिमावात्मक कल्परस के उच्चलन का स्वभाव होने के कारण वही काव्य की आत्मा अर्थात् सारभूत स्वभाव सा है तथा (उसका वह स्वभाव ही) दूसरे शब्द (बोधो) से विच्छिन्नता करनेवाला है ।

वाराचरी

शोक स्वरूपता को प्राप्त हो गया और कमलाः सन्त्य हो गया । वह शोक लौकिक शोक से भिन्न था, उसका आस्वादन केवल चित्त को द्रव्यशोभता के द्वारा ही किया जा सकता था । जिस प्रकार बड़े के अधिक मर जाने से रस छलछने लगता है अथवा जिस प्रकार चित्त के भावनाविभोर हो जाने से विज्ञान प्रलय इत्यादि होने लगते हैं क्योंकि चित्तवृत्ति का स्वभाव ही उच्छिन्न होना होता है; प्रयत्न करनेवाला विचारपूर्वक करने दुःख को प्रकट करनेवाले शब्दों का प्रयोग नहीं करता और न उस प्रयत्न का वाच्यार्थ ही किसी प्रकार का मान होता है; किन्तु उस प्रयत्न के द्वारा असङ्केतित होते हुये भी उस भावना की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार शोक को भावना के अधिक मर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्ति से निरन्तर होकर कविवर वाल्मीकि की चित्तवृत्ति श्लोकरूप में परिणत हो गई । इस रचना में विचारपूर्वक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया था, भावनाविभोर होने के कारण उनका प्रत्युत्पन्न स्वतः हो गया था । यद्यपि उस रचना में कोई शब्द शोकवाचक नहीं था तथापि वह श्लोक शोक की अभिव्यक्त कर रहा था । श्लोक का अर्थ यह था—'हे निराद ! जानेवाले शाश्वत वनों में तुम प्रतिष्ठा को मग्न प्राप्त हो, जो कि लोच के ओढ़े में क्षममोहित एक की तुमने मार डाला है' यहाँ पर वह नहीं समझना चाहिये कि कविवर वाल्मीकि को शोक हुआ । यदि ऐसा समझा जावेगा तो वह बात जाती रहेगी कि रस ही काव्य की आत्मा है । शोकमिभूत व्यक्ति की यह दशा नहीं होती अर्थात् वह न वो शाय ही देने लगता है और न श्लोक ही बनाने लगता है । आस्वाद के अनुकूल स्यादोमावात्मक शोक ही कल्प रस होता है और उसका स्वभाव ही होता है उच्छिन्न होना । वह शोक ही काव्य की आत्मा होता है अर्थात् वह स्वभावतः काव्य का सारभूत स्वतः होता है । उसका सारभूत उत्पन्न होना भी उसे अन्य शाब्दरूपों से प्रकट करनेवाला होता है । अतएव यह है कि जब चित्त इस प्रकार की भावना से भर जाता है तब वह एक नहीं सकता और कविता के रूप में

सारावती

‘स एव’ में ‘एव’ का अर्थ है कि ‘काव्य की भीर कोर आमा नहीं है।’ इससे मट्टनायक के इस कथन का निराकरण हो गया—‘जो शास्त्र शब्द की प्रधानता को लेकर प्रवृत्त होता है वह और हो प्रकार का शास्त्र (वैदिक शास्त्र) होता है। जो अर्थ शत्रु में युक्त होता है उसे आस्थान कहते हैं और उन दोनों के गौण होने पर व्यापार की प्रधानता में काव्यसंज्ञा प्राप्त होती है।’ इस पर मेरा प्रश्न यह है कि कौन सा व्यापार प्रधान होता है? यदि आत्मका मन्त्रव्य आत्मादनात्मभाववाले व्य-वनाम्यापार की प्रधानता से है तो हम इसका खण्डन पहले ही कर चुके।

[यहाँ पर दीर्घविकार ने एक प्रश्न उठाया है कि शोक एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है। उस चित्तवृत्ति का परिणाम शब्द और अर्थरूप कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये दीर्घविकार ने लिखा है—यहाँ पर परिणाम साध्यों का जैसा नहीं है। जिसप्रकार सांख्यशास्त्र साकार्यवाद को मानता है जिसका अर्थ यह है कि कारण सदा कार्य में सन्निहित रहा करता है और भवसर पर एक सत्ता में आ जाता है। उनका कहना है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार का परिणमवाद यहाँ पर अभीष्ट नहीं है किन्तु यहाँ पर ऐसे परिणाम से मन्त्रव्य है जैसा कि कहा जाता है ‘शून्य पुन्य और फल के रूप में परिणत हो गया।’ जिस प्रकार फल केवल कार्य होता है और जो जिसके तत्काल पूर्व होता है वह वस्तुका कारण माना जाता है, इसी अर्थ में यहाँ पर शोक का परिणाम श्लोक माना गया है। इसी विविध परिणति के कारण तो स्वयं मुनि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपना आश्चर्य अपने शिष्य महात्मा के सामने प्रकट किया। छोवन में जो यह लिखा है कि ‘मुनि का शोक नहीं समझा जाना चाहिये’ यह कथन ठीक नहीं है। स्वयं छोचनकार ने लिखा है कि कौशल शोक का आलम्बन-विभाव है। अतएव यह कहा ही नहीं जा सकता कि शोक कौशल के अन्दर था। मरीप में लिखा है कि ‘आत्मादनात्मभाववाले को होता है, अतएव सामाजिकों में ही रस की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिये।’ इससे स्पष्ट होता है कि आलम्बन में रस की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। (कोई दूसरा सामाजिक वहाँ पर विद्यमान नहीं है।) अतएव और कोई थारा न होने के कारण मुनि में ही शोक की कल्पना करने पड़ेगा। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मुनि का दुःख मानने पर उनका शोक दुःख से युक्त होगा और वह आत्मादनात्मक काम्य का रूप नहीं धारण कर सकेगा। इसका उत्तर यह है कि रस तो आनन्द विभव है उसके जाना मानने में क्या बाधा हो सकती है? यद्यपि शौकिक शोक उद्बेक होता है तथापि जब उसे अनौदिकभाव प्राप्त हो जाता है तब उसकी आनन्दरूपता सभी को माननी पड़ेगी। शोक तभी रस कहा जाता है जब वसुधे आत्मादनात्मक करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मट्टनायक की कारिकाओं को उद्धृत कर जो कि छोचनकार ने उसका खण्डन किया है ‘वदि व्यापार ध्वननात्मक है तो उसमें कोई नवीनता नहीं आई और

तारावली

व्यभिचारीभाव की भी चर्चणा इस रूप में होती है कि यद्यपि केवल उसमें ही रसास्वादन की परिसमाप्ति नहीं होती और न उसे रस की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाती है जैसी कि स्वायीभाव की चर्चणा के पदवसान में उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है, तथापि उतने से ही यह व्यभिचारीभाव भी उस काव्य का प्राण बन जाता है । जैसे—

‘यह नायिका मग्न हो दूसरे नर के अपमान से गिंस रही थी, चञ्चल वस्तु को बार बार श्पर से उधर हटा रही थी और पैर के माखून से पृथ्वी को कुरेद रही थी जिससे नूपुरों का शिञ्जाशब्द बग़ा हो मधुर तथा गम्भीर माहूम पक रहा था ।’

यहाँ पर छत्रा भाव को ध्वनि काव्य का प्राण है । रस और भाव शब्द से रसामास और साधामास का भी संग्रह हो गया । क्योंकि यद्यपि इनमें अवन्तर वैचित्र्य होना है तथापि एकरूपता ही होती ही है । ‘रस और भाव प्रधान होते हैं’ कहने का अभाव यह है कि चर्चणा का पदवसान रस और भाव में ही होता है । इसीलिये ये प्रधान होते हैं । यद्यपि केवल वस्तु तथा वस्तुकार में काव्यरसास्वादन की विमान्ति नहीं होती तथापि दूसरे शास्त्रबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ विदग्धता होती ही है । इसीलिये उचित होने के कारण यहाँ भी काव्य का प्राण कह दिया गया है ।

[ध्वन्यालोक की अधिकतर प्राचीन पाठकों में निहत्तसहचरीविरहकावत ‘यह पाठ पाया जाता है और इसी के अनुसार छोचन में ‘निहत्तसहचरीविभाष वच’ तथा सहचरी हननोद्भूतेन’ ये पाठ पाये जाते हैं । इन पाठों से यह प्रतीत होता है कि निषाद ने कौश्ली का वच लिया था । किन्तु वाल्मीकि रामायण देखने से अवगत होता है कि वच नर कौश्ली का हुआ था कौश्ली का नहीं । वाल्मीकि रामायण में वचम् अवधी’ इस पुद्गल का निर्देश किया गया है तथा श्लोक में कौश्ली के रहने की बात बहो गयी है (इष्टा कौश्ली शरीरार्था) इसी प्रकार एक दूसरे श्लोक में स्पष्ट ही ‘पुमांस’ शब्द आया है (तस्मात्तु निपुनायैक पुमांस पाप निक्षय) इसी आधार पर शोधितकार ने निहत्तसहचरिविरहकावत’ तथा शौण्ड्यात्रज्जनित’ ये पाठ कर दिये हैं । दिव्याम्बन नाम की पाठटिप्पणी में लिखा है ‘अनेक पुस्तकों में निहत्त सहचरी’ यही पाठ पाया जाता है और छोचन से भी सहचरी का मारा जाना सिद्ध है । अब सवय टोल्क का प्रमाद नहीं मान सकते यद्यपि अमिषा से कौश्ली का मारा जाना ही सिद्ध होता है किन्तु ध्वजना से एक अर्थ और निकलता है—राम और सीता के मिथुन में रासपञ्चमी निषाद ने सीता का अपहरण किया जो कि मरण से भी अधिक बड़ा देने वाला था । इस कारण राम सीता के विभोग से कातर होकर जनरूपान में श्पर-उधर विदग्ध करने लगे । इस अर्थ की स्पष्टता होने के कारण कौश्ली का मारा जाना ही उचित प्रतीत होता है । ध्वन्यालोक ध्वजनामृति का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुआ है । अतएव उसी ध्वजनामृति के आधार पर कौश्ली का मारा जाना ठीक दिया गया है ।’

लोचनम्

श्लोकं व्याख्ये—विविधेति । विविधं तत्तदभिन्नप्रज्ञानीयसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाञ्च प्रपञ्चेन यच्चास्त्रान्दार्पालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवम्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतद्विरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—‘सर्वत्र तर्हि काम्यम्यवहारः स्यादिति’ । निहतसहचरीतिविभाव उक्तः । आक्रन्दित-शाब्देनानुभावः । जनित इति चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः ।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि । विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुये । वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से युक्त । इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी वैसा (काम्यत्व का) व्यवहार नहीं होता । आत्मा के होते हुये भी कहाँ ही जीव का व्यवहार होता है वह पहले ही कहा आ चुका है । उससे यह बात निरवकाश हो गई जो कि हृदयदर्पण में कहा गया है—‘तो सर्वत्र काम्य व्यवहार हो आवेगा ।’ ‘निहत-सहचरी’ इस शब्द से विभाव कहर गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है ।) जनित शब्द के साथ ‘चर्वणागोचर होने के रूप में’ शब्दा और जोड़ दिया जाना चाहिये ।

सारावली

श्लोक में प्रायः अनुभूत और मयुक्त हो उनकी स्वरूपा और प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्प्रान्त व्यक्तियों के सामने रस देते हैं । काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वत्रनसत्त्व नहीं होती, उसी को समझा देना शास्त्रकार का काम है । अतः यदि वही मद्दतनायक ने भी किया तो उसका अभितर गुण को आरति हो क्या हो सकती थी ? हाँ भलन यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया मद्दतनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अवश्य नहीं । यदि मद्दतनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेते हैं तो उनके व्यापार में कोई गरीबता नहीं रह जाती । यही लोचनकार का आशय है ।]

मूठ में ‘विविध वाच्य.....परिणतः’ इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है । विविध शब्द का अर्थ है विभिन्न प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसमयता के कारण, जो कि विभिन्न तरंगों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । रस को अभिव्यक्त करनेवाले तरंग होते हैं वाच्य, वाचक और रचना । इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चास्त्रा आती है । वाच्यवाक्ता का अर्थ है अर्थात्वाचक, वाचकवाक्ता का अर्थ है शब्दान्वाचक और रचना-वाक्ता का अर्थ है गुण । अहाँ पर इन तीनों तरंगों की चास्त्रा रसानुकूल होकर विद्यमान हो वहाँ पर काम्यमय अर्थवर्णी होती है और उस काव्य का वही अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ और विशेष रूप से रसध्वनि) आत्मा का रूप धारण करता है । अतएव सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काम्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा को सृष्टा होते हुए

ध्वन्यालोक

सरस्वती स्वादु तदयं वस्तु निःस्पन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमस्मिन्नस्ति परिस्फुरत् प्रतिमाविशेषम् ॥ १ ॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःस्पन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्य प्रतिमाविशेष परिस्फुरन्तमस्मिन्नस्ति । यनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि ससारे कालिदामममृतयो द्वित्रा पञ्चया वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

(अनु०) आत्मादर्शपूर्ण उसी अर्थवस्तु को प्रत्यक्ष करनेवाली महाकवियों की भारती भारती देशी चारों ओर स्फुरित होनेवाली प्रतिमा की ऐसी विशेषता को अस्मिन्न किता कारती है जिसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती ॥ ६ ॥

जिस रसध्वनि और भावध्वनि रूप वस्तुतत्त्वं का रहते वर्णन किया जा चुका है उसी के प्रवाह को महाकवियों की भारती प्रकट किया करती है जिसमें चतुर्दिग् स्फुरित होनेवाली कवियों की प्रतिमा प्रकट हो जाती है और उसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती । यही कारण है कि इतने बड़े सत्तार में, जहाँ कवियों की परम्परा अत्यन्त विविधता के साथ निरन्तर चलती ही रहती है, महाकवियों की श्रेणी में दो तीन वा शीघ्र बह कवि ही आते हैं ।

लोचनम्

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य कान्यात्मतां प्रदर्शय स्वसंविस्तिद-
मन्यतदिति दर्शयति—सरस्वतीति । वाक्परा मगधतीत्यर्थः । वस्तुशब्देनार्थ
शब्द तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्द व्याचष्टे—निःस्पन्दमानेति । दिव्यमानन्दरस
स्वयमव प्रस्तुतानेत्यर्थः । यदाह मटरनायकः—

रस प्रकार इतिहासमुख से प्रतीयमान की कान्यात्मता दिखलाकर वह स्वसंवेदना सिद्ध
भी है यह दिखला रहे हैं—सरस्वती इत्यादि । अर्थात् वाणीरूपा मगधती । वस्तु शब्द से अर्थ
शब्द की और तत्त्व शब्द से वस्तु शब्द की व्याख्या कर रहे हैं—निःस्पन्दमाना इत्यादि ।
अर्थात् दिव्य मानन्द रस को स्वयं प्रस्तुत करती हुई । जैसा कि मटरनायक ने कहा है—

गारावती

जब कविवर वात्पीकि के शोक की घटाकरुम में परिणति का उदाहरण देकर इतिहास
के आधार पर सिद्ध किया जा चुका कि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का व्याप्य होता है ।
प्रस्तुत कारिका में यह निश्चयता गया है कि प्रतीयमान अर्थ को कान्यात्मता रसवेत्त सिद्ध
भी है और ना वस्तु रसवेत्त सिद्ध होती है उस पर किसी को अनुसर्ति दा ही नहीं
सकती । प्रस्तुत कारिका का अर्थ यह है कि महाकवियों की वाणी उसी रसध्वनि, भाव
ध्वनि, इत्यादि रूप प्रतीयमान अर्थ को प्रवाहित किया करती है । सामान्य व्यक्ति वाक्यार्थ के
द्वारा ही व्यवहार किया करते हैं किन्तु महाकवियों की वाणी में व्यवहारार्थ का तोरव
मलज्जग रहता है जिसमें सामान्य वस्तु को अपने-कवियों की विशेष प्रकार की प्रतिमा
प्रकट होती है । इसके लिये महाकवियों को उद्योग नहीं करना पड़ता अपितु वह प्रतिमा

लोचनम्

श्लोकं व्याचष्टे—विविधं विविधं । विविधं तत्तदमिव्यञ्जनीपरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाश्च प्रथम्येन यच्चाख्यशब्दायांलङ्काराणामुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननमन्नावेऽपि न तथा व्यवहारः । आरमसन्नावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतद्विरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—‘सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति’ । निदितसहचरोतिविभाव उक्तः । आकन्दित-शब्देनानुभावः । जनित इति चर्वणगोचरत्वेनेति शेषः ।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि । विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुये । वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और भलशुभ से युक्त । इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी वैसा (काव्यव्यवहार) व्यवहार नहीं होता । आरम के होते हुये भी कहाँ ही जोर का व्यवहार होता है वह पहले ही कहा आ चुका है । इससे यह बात निरवकाश हो गई जो कि हृदयदर्पण में कहा गया है—‘वो सर्वत्र काव्य व्यवहार हो जायेगा ।’ ‘निदित-सहचरो’ इस शब्द से विभाव कहा गया है; आकन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है ।) जनित शब्द के साथ ‘चर्वणगोचर होने के रूप में’ इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये ।

सारावली

श्लोक में प्रायः अनुभूत और प्रयुक्त हो उनकी व्यवस्था और प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्प्रान्त व्यक्तियों के सामने रख देते हैं । काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वमानसवेध नहीं होती, उसी को समझा देना शास्त्रकार का काम है । अतः यदि वही मूढनायक ने भी क्रिया तो वसुध कर्मिण गुप्त को आपत्ति हो क्या हो सकती थी ? हाँ मगर यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया मूढनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अथवा नहीं । यदि मूढनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेते हैं तो उनके व्यापार में कोई नवीनता नहीं रह जाती । यही लोचनकार का आशय है ।]

मूल में ‘विविध वाच्य...परिणतः’ इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है । विविध शब्द का अर्थ है विचित्र प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसप्रवणता के कारण, जो कि विविध तत्त्वों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । रस को अभिव्यक्त करनेवाले तत्व होते हैं वाच्य, वाचक और रचना । इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चास्ता आती है । वाच्यवाचना का अर्थ है अर्थात्लङ्कार, वाचकचास्ता का अर्थ है शब्दालङ्कार और रचना-वाचना का अर्थ है गुण । अहाँ पर इन तीनों तत्वों की चास्ता रसानुकूल होकर विद्यमान हो वहाँ पर काव्यमय अर्थवनी होती है और उस काव्य का वही अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ और निरर्थक रूप से रसप्रति) आत्मा का रूप कारण करता है । अत्रय सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्यव्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा को स्रष्टा होते हुए

लोचनम्

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमयत्त उक्तम् । अमिष्यनक्ति परिस्फुरन्त
मिति । प्रतिपत्तन् प्रति सा प्रतिमा नानुमीयमाना अपि तु उदावेरोन भात
मानस्यर्थः । यदुक्तमस्मदुपाध्यायेन मट्टतीतेन—‘नायकस्य कवे प्रोतु
समानोऽनुभवस्ततः ।’ इति । अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्या विशेषो
रसावेनावैद्यमसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह मुनि —‘कवेरन्तर्गतभावम्’
इति । येनति । अमिष्यन्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकविचरण
नेति यावत् ॥ ६ ॥

इससे हिमालय का समस्त वस्तुगणना कला ही गई है । ‘परिस्फुरित होने वाले को
अमिष्यन्त करती है अर्थात् प्रतिपत्तियों के प्रति वह प्रतिमा अनुमानमय नहीं होती है
अपितु रसावेश से प्रकाशमान होती है । ऐसा कि हमारे उपाध्याय मट्टतीत ने कहा है—
‘उससे नायक, कवि और भाषा का समानानुभव होता है ।’ प्रतिमा अपूर्व वस्तु निर्माण में
समय मर्यादा को कहते हैं । उसकी विज्ञापना का अर्थ है रसावेश के वैशेष का सौन्दर्य उपा
तद्रूप काव्यनिर्माणक्षमता । ऐसा कि मुनि ने कहा है—‘कवि के अन्तर्गतभाव को
‘जिससे’ अर्थात् अमिष्यन्त होनेवाले तथा स्फुरित होनेवाले प्रतिभाविशेष को निमित्त बनाकर
महाकवित्व की गणना होती है ॥ ६ ॥

प्रासादो

समय पुराणकारी भाव से प्रकाशमान राज और औपनिषा दुही गई वस समय दुहने में निपुण
सुमेध दुहनेवाला या और सब बवों ने हिमालय को बरका बनाया या’ हिमालय को बरका
कहने का कालिदास का आशय यही है कि हिमालय ही सारमूत्र प्रधान रत्नों और औपनिषों
का पात्र है । जिस प्रकार बड़े का ही उत्तम रूप मिलता है वही प्रकार काव्य रसिक को
ही तथा आनन्द प्राप्त होता है बोली को नहीं ।

यहां पर वह ध्यान रखना चाहिये कि काव्यपरिणोक्त उस प्रतिमा का अनुमान प्रमाण
के आधार पर नहीं जान सकते किन्तु उनके हृदयों में रसाभिनिवेश होता है और उनमें
आस्वात्मान की समता होती है । अतएव वह रस सदृशों के हृदयों में स्वयं प्रतिमासिद्ध होने
लगता है । कवियों के सामान रसिकों में भी सदृशता अव्यक्त होती है । श्लोठिये अभिनव
गुप्त के उपाध्याय मट्टतीत ने लिखा है—‘कविता की सबसे बड़ी सफलता यही है कि
उसके द्वारा वह प्रतीत होने लगे कि किसी भाव को नायक ने जिसनी सम्मोहना के साथ
अनुभव किया हागा कवि की भावनामा में भी उसे वही ही सम्मोहना के साथ अनुभव किया
और वह पाठकों की भावनाओं को भी वही गहराई तक पहुँचाने में समर्थ हो सता
है । प्रतिमा शब्द का अर्थ है अपूर्व वस्तु के निर्माण में सम्यक् बुद्धि । उसको विन्यास है रस
के सामान्यकार के लिए उपयुक्त निर्मलता के द्वारा सौन्दर्यमय काव्यनिर्माण करने की शक्ति ।

लोचनम्

अनु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिमेद प्रतिपादित न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रमस्यैवात्मभूतबभूवुः भवतीत्याशङ्क्यामुपगमनैवोत्तरमाह—
प्रतीयमानस्य चेति । अन्यमेदो वत्स्वच्छाकारात्मा । भावप्रज्ञेन व्यभिचारिणोपि चर्च्यमाणस्य तावन्मात्रविधान्तावपि स्थायिचरणापर्यवसानोचित-
रसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राग्व भवतीत्युक्तम् । यथा—

सत्त नत्तामेन विप्रवृत्त्यन्ती विवर्तयन्ती बलप बिलोत्तम् ।

आमन्त्रमासिचितनूपुरेण पादेन मन्द मुवमाञ्जितन्ती ॥

इत्यत्र छन्दोभा । रसभावच्छेदेन च तदामासतप्रज्ञाभावपि सगृहीता-
वेव, भवान्तरवैविध्यमपि तदेकरूपत्वात् । प्राधान्यादिति । रसपर्यवसाना
द्विरर्थः । तावन्मात्रविधान्तावपि चान्यशाब्दवैयर्थ्यकारिण्येन वत्स्वच्छा-
चनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुद्भूतिमिति भावः ॥ ५ ॥

अन्ता प्रतीयमान रूप है उसने तीन मेदो का प्रतिपदन किया गया है एक रसरूप
ही नहीं और रस इतिहास से रस का ही भावप्रज्ञ कह दिया है । यह कहा करके लोचन
के साथ उत्तर दे रहे हैं—प्रतीयमानस्य च इति । अन्य मेद वस्तु तथा अन्तर रूप है ।
मार्गान्तर के प्रयोग से यह कहा गया है कि वरचणोपर अनिवार्यता की भी प्रत्यक्षता
होती है । यद्यपि हमने भी ही चर्चणा की विधानि नहीं होती और स्थायिचरणा पर्यवसान के
बेध रस की प्रतिष्ठा उसे नहीं भी प्राप्त होती है । जैसे—

‘नर से नरप्रा को विभजो दुर, चञ्चल राज्य को शरवरर हान्ती दुर, लम्पट
पिञ्जर से शरीर्य मुरुरीने रै से धीरे धीरे मूनि को कुदेती दुर ।’

यहाँ पर लम्पट का । रस और मर इन्हें से उनके अन्तर और उनके अन्त सगृहीत
ही हो गये हैं, लम्पट अन्तर वैध ३ होने दुवे भी उनमें एकस्वता होती ही है ।
‘मार्गान्तर’ का अर्थ है रसरसरान के कारण केवल अपने में विभजित न होने पर भी तथा
हमारे लम्पट से बैठकर अपने करने के कारण अविच होने से वस्तु तथा अन्तरात्मनि
का भी अविचल दृष्टा दिया है ।

कारावली

(प्रल) प्रतीयमान अर्थ काव्य की अन्ता है, उसके तीन मेद किये गये केवल रस ही
नहीं । रस इत्यन्त से रस का ही अन्ता बलुता गया है, कि प्रतीयमान अर्थान्तर की
अन्ता को कहा गया है । (उत्तर) इसी अन्त का उत्तर देने के लिये अन्तेककार ने लिखा
है कि ‘यद्यपि प्रतीयमान के अन्य मेद देखे जाते हैं लम्पट अपने मनुष्य रस तथा मर ही
होते हैं, अन्तर गच्छाव के रूप में उसी का उल्लेख किया गया है । अन्य मेद होते हैं वस्तु
तथा अन्तरों की अनिव । रस से इतक मार्गान्तर करने का अन्त यह है कि कभी कभी

ध्वन्यालोक

सोऽर्थो यस्मात्कवल काव्याथतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावय स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिरस्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतध्वन्याना काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुक्तानां स्वरध्वन्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावयम् ।

(अनु०) हम दोनों में भेद इसीलिये है कि रसरूप ध्वनि का ज्ञान केवल काव्यरूप तत्त्वज्ञानों को ही होता है । यदि यह रसरूप अथ वाच्यरूप होता तो उसको भी प्रतीति वाच्य और वाचक के परिज्ञान मात्र से ही हो जाया करती । किन्तु देखा यह जाता है कि जिस प्रकार गा-ध्वनिवा न जाननेवाले (न तो स्वयं ही गानविद्या की योग्यता रखनेवाले और न दूसरों के गान का मन समझने वाले) स्वरमुक्ति इत्यादि गान विद्या के अर्थों के लक्षण नहीं जान पाते वही प्रकार जिन्होंने वाच्य और वाचक के जानने में ही अपना सारा समय नष्ट किया है और इसा में परित्यक्त करते रहे हैं तथा वाच्यार्थ को सीमा से परे काव्यतत्त्वार्थ की निरन्तर चवणा से जो लोग विमुख रहे हैं उन लोगों को अर्थार्थ का कभी साक्षात्कार ही नहीं सबण ।

लोचनम्

योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यतिरेकज्ञानघरतत्त्वज्ञाना तत्र विमुक्तानाम् । स्वराप्यजादयः सप्त । श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्द्रुपा तरतरपरिमाणं स्वरतदन्तराक्षोभभेदकस्त्रिधा द्वारविंशतिधा । आदिशब्देन ज्ञाप्यशकप्रामाण्यमापाविभाषान्तरमापादेयीमार्गा गृह्यन्ते । प्रकृष्ट गीत गानं येषां ते प्रगीता, गानु वा प्रारम्भ्या इत्यादिकर्मणि च । प्रारम्भेण चान्न फलपयेन्मत्ता लक्ष्यते ॥ ७ ॥
है । काव्य का तत्त्वज्ञान जो अर्थ उसकी भावना अर्थात् निरन्तर वाच्य से विन्नरूप में निरन्तर चवणा उसमें जो विमुख है । शब्द इत्यादि सात स्वर होते हैं । श्रुति उसे कहते हैं जिसका परिमाण चतुर्णा ही ही जितना शब्द की विचक्षणतामान ध्वन्य करनेवाला रूपान्तर होता है और जो स्वर तथा उसके सम्बन्धी दोनों के अर्थों के द्वारा कल्पित नहीं हैं । २२ प्रकार की होती है । आदि शब्द से आति अग्रे आगे गान भाषा विभाषा अन्तरमापा देगा मार्ग इत्यादि का ग्रहण होता है । प्रगीत शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट गीत अर्थात् गान है जिसका अथवा जिन्होंने गाना प्रारम्भ किया है इस अर्थ में आन्ध्र में एक प्रत्यक्ष हो जाता है, प्रारम्भ स वही पर पटपटन्तत्र लभ्य होती है ॥ ७ ॥

तारायत्नी

प्रतीति नहीं होती अतः उसके अवयवों के लिए काव्यतत्त्वज्ञान होना आवश्यक है । आलोककार का कहना है कि जिस प्रकार सङ्गीत के स्वर को गा-ध्वनि विद्या जाननेवाले ही जान पाते हैं वही प्रकार अर्थार्थ को भी काव्यतत्त्वज्ञान ही जान पाते हैं । यह भी एक प्रमाण है जो वाच्य और अर्थार्थ के भेद को सिद्ध करता है । कारिका में केवल इस विद्या का दो बार

सारावली

पाठ होता है कि टीकाकार रामसोतापरक व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते आये होंगे और सर्वसाधारण में यह धारणा बन गई होगी कि कौशमिथुन में एक को मारने का अभिप्राय सीता का अनहरण रूप कार्य है जिसके लिये कवि ने रावण के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। इसी सामान्य धारणा के कारण किसी ऐलक ने जान-बूझकर वृत्तिग्रन्थ को भी बदल दिया और छोचन में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिया। वही परम्परा का शासन दूसरे लेखकों ने भी किया। यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि ध्वनिकार का मन्तव्य शोक की दशोक रूपता में परिपति का कथन करना ही है उसमें की या पुरुष किसी का भी मारा जाना समान महत्त्व रखता है। रामायण को क्या के आधार पर दोषितिकार का माना हुआ पाठ ही ठीक ठहरता है।

दोषितिकार ने व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये 'मानिषाद' इस श्लोक का एक टीका के आधार पर एक नया अर्थ दिया है—'हे मानिषाद ! (लक्ष्मी के निवास भगवान् रामचन्द्र जी) तुमने निरन्तर यहाँ में प्रतिष्ठा प्राप्त की। क्योंकि नृन्ना (कुटिलगामिनी कैवली रागसी) के पुत्र रावण और उसकी पत्नी मन्दोदरी में काममोहित रावण का वध किया।' किन्तु इस भाष्य के मानने में कई आपत्तियाँ हैं—एक तो अर्थ करने में यह अभिप्रेषार्थ ही हो जाता है, इसकी व्यङ्ग्यता जाती रहती है। दूसरी बात यह है कि इस अर्थ में राम के वंशाद के प्रति वाल्मीकि जी की चित्तवृत्ति का विस्फारण तो प्रवीण होता है किन्तु रावणवध के कारण शोक की अभिव्यक्ति नहीं होती। तीसरी बात यह है कि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का समानपदेवमाव स्थापन किया जावे तो राम को निषाद की उपमा देनी पड़ेगी जो कि सर्वथा अनुचित है। यदि कामाध होने के कारण रावणवध का औचित्य सिद्ध किया जावे तो मिथुन का वल्लेख अर्थ हो जावेगा और यदि मिथुन का वल्लेख कामान्धना का साधक हो तो रामकर्णवध अनुचित हो जावेगा। अतएव यह अर्थ सर्वथा अमान्य है। रामायण से पुत्रवध का मारना ही सिद्ध होता है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये कौश का पुस्तक अविशेषित माना जा सकता है। कवि का तात्पर्य केवल विषय से ही है।

आचार्य भी विरहेवर जी ने नई व्याख्या का सहारा लिया है—'निहतसहचरीविरह काव्यकौशप्रन्दजनित' की म्युत्पत्ति सहोने इसप्रकार की है—'निहत सहचरीविरहकारर आसौ ब्रैश निहतसहचरीविरहनाउरजौश, तदुरेश्यक कौशिकनकोशम्य आवन्द तज्जनित' एक यह समाधान तो अच्छा है किन्तु इससे पूरा निर्वाह नहीं हो पाता। उक्त व्याख्या से आशोक का तो समर्थन हो गया, छोचनकार ने निहतसहचरीनि विभाव उक्त' लिखा है। इसके लिये आचार्य जी ने 'निहतसहचरीचादिग्रन्थेन' यह कर दिया है। किन्तु इस ग्रन्थ से केवल विभाव ही नहीं बगलाया गया है अनुभाव का भी उल्लेख किया गया है दूसरी बात यह है कि 'सहचरीहूननोद्गत' में आचार्य जी को पाठभेद का ही सहारा लेना पड़ा है। अतः मेरी समझ में सर्वत्र पाठभेद स्वीकार कर लेना ही अच्छा है।]

सारासवी

यहाँ पर आलोचकार का वास्तविकता कुछ बटिक भी हो गई है। आलोचकार का ध्यान यही बात होता है कि जिस प्रकार केवल पुस्तकों से सङ्गीतशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन कर लेने से सङ्गीत का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता उसके लिये सङ्गीत रसास्वादन के अभ्यास और श्रुति की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार वास्तविकता के ज्ञान के लिये परिश्रम करनेवाले व्यक्ति को भी काव्यरसास्वादन नहीं कर सकते इसके लिये काव्यचर्चा का अभ्यासनेपुण्य अपेक्षित होता है। यहाँ पर दो बातें प्राप्त होती हैं—किसी किसी पुस्तक में 'प्रगीतानां' पाठ है और किसी किसी में 'अप्रगीतानां' वह पाठ है। दीपतिङ्कार ने 'प्रगीतानां' इस पाठ को ही शुद्ध माना है और उसका अर्थ 'वस्तुतः कोटि का गान' करके उसकी सङ्गति दो प्रकार से बिठाई है—(१) केवल गानचर्चा के लक्षण को जाननेवाले जिस प्रकार वस्तुतः कोटि के गीतों के स्वर श्रुति इत्यादि स्वरूप को नहीं जान पाते। (२) जिस प्रकार गानचर्चा के जाननेवाले स्वर श्रुति इत्यादि को समझ लेते हैं इसी प्रकार वास्तविकज्ञानमान से ही लोग काव्य के स्वर को नहीं जान पाते। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है और इसमें 'अप्रगीत' शब्द की सङ्गति ठीक नहीं बैठती। इसके प्रतिपक्ष लोचनकार ने 'प्रगीतानां' शब्द में बहुव्रीहि समास मानकर दोनों शब्दों की सङ्गति बैठा दी है। प्रगीत शब्द का अर्थ है जो लोग प्रकृत रूप में गानविद्या को जानते हैं और अप्रगीत शब्द का अर्थ है—'जो लोग उन विद्या को नहीं जानते।' यदि केवल 'प्रगीतानां' पाठ माना जावे तो यहाँ पर क प्रत्यय कर्ता में मानना पड़ेगा। शबिनि व्याकरण के अनुसार 'क' प्रत्यय कर्म में हुआ करता है किन्तु यदि कर्म का अर्थ मारम्भ हो लिया गया हो तो कर्ता अर्थ में भी क प्रत्यय हो जाता है। 'आदिकर्मणि क कर्त्तरि च' पा० ६० ३३।७।११ अतएव प्रगीत शब्द का यहाँ अर्थ हो सकता है 'गानविद्या का मारम्भ करनेवाला।' इस प्रकार लोचनकार के मत में 'अप्रगीतानां' तथा 'प्रगीतानां' दोनों शब्दों का अर्थ 'गानविद्या का पूर्ण ज्ञान रखने वाले' यही होता है। वस्तुतः लोचनकार का ही मत ठीक है क्योंकि प्रस्तुत में 'वास्तविकज्ञानमान' और 'काव्यवस्तु' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। अप्रगीत में भी दोनों का प्रतिरूप होना चाहिये। अतएव गानचर्चाविद्या का अर्थ है 'गानविद्या का पुस्तकीय ज्ञान रखनेवाला।' और 'अप्रगीतानां' का अर्थ है 'जिन्होंने गीत के रसास्वादन का ठीक परिचय प्राप्त नहीं किया है'। जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को गानविद्या का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता इसीप्रकार जो काव्यमर्मज्ञ नहीं हैं उन्हें भी केवल वास्तविकता के ज्ञानमान से ही वास्तविकज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मारम्भ से वस्तुवस्तु संपन्न होती है।

खोवनम्

भाष्येऽनुदुग्ध एतं हि रस पद्मालतृष्णाया ।

तेन नास्य समः स स्याद् दुःखते योगिमिहिं सः ॥

मदावेगेन विनाप्याक्रान्त्या यो योगिमिदुःखते । अत एव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य चरत्तं मेरी स्थिते दोम्भरि दोहदक्षे ।

मास्वति रत्नानि महौपधीश्च पृथूपदिष्टा दुदुर्ध्वरित्रीम् ॥

रत्नोरूपो धेनु (सहृदयरूपी) रत्न के रूप से रस (दिग्भ्य) रस को प्रवाहित करती है । अतः रस के समान वह नहीं हो सकता जो योगियों द्वारा दुःखा जाता है ।

रस (रस) के आवेश के बिना ही रत्नकार के साथ जो योगियों द्वारा दुःखा जाता है । अतः—

‘दुःखने में रस सुख के दोम्भर रूप में स्थित रहने पर रस (दिग्भ्य) को सब पर्वतों ने रस रूप में कल्पित कर रस के द्वारा वल्लभों द्वारा पूर्ण से प्रकाशमान रत्न और महती औपधियों को दुःखा ॥’

तारावली

सर्व ही पुरित होती है । कारिका में वापी के लिये सरस्वती शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है कि कवियों की वापी देवी के समान पूजनीय होती है । कारिका के ‘अर्थ’ शब्द का आशय है व्यङ्ग्यार्थ अर्थात् रस वस्तु और अलङ्कार, और वस्तु शब्द का अर्थ है सार । इस प्रकार अर्थवस्तु शब्द का अर्थ है व्यङ्ग्यार्थ का सार । इसी लिये आशोक कार ने अर्थ के लिये वस्तु शब्द का प्रयोग किया है और वस्तु शब्द के लिये तत्त शब्द का प्रयोग किया है । कारिका का निम्नान्वयाना शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । इसका आशय यह है कि महाकवियों की वापी दिग्भ्य आनन्द रस को स्वयं प्रवाहित करने लगती है । जब कवि का अन्तःकरण किसी भावना से भर जाता है और वह आनन्द हृदय में समा नहीं सकता तब वह प्रवाहित होने लगता है । आनन्द योगियों को भी जाता है, किन्तु योगियों के अन्तः की प्रेरणा कवियों के आनन्द में एक मौनिक अन्तर है जिसको मृगनादक ने इस प्रकार समझाया है—‘कविभारती एक दुष्टरूप यव है । जिस प्रकार यव अपने बलों की वृद्धि गान करने के लिये अपने पत्तों से स्वयमेव दूध बहाते लगती है उसी प्रकार रसिकों की रससम्पत्ति की वृद्धि शान्त करने के लिये कविभारती रसरूपी दूध को स्वयमेव प्रवाहित करने लगती है । योगीश्वर परमात्मसाक्षात्कार के लिये साधना का ऋतु सहकर जिस आनन्द रूपी दूध को दुःखते हैं उसको प्रेरणा रसिकों के लिये स्वयं प्रवृत्त हुआ कविभारती का रसरूपी दूध बड़ी अशक्त वृद्ध होता है ।’ योगीश्वर जिस आनन्दरूपी दूध को दुःखते हैं उसमें रसवेग नहीं होता अतः उन्हें रत्नकार के साथ योगसाधना से वह आनन्द प्राप्त होता है । उसको स्वयं प्रवृत्त आनन्द रूपी दूध से दुःखना ही क्या हो सकती है ? इसीलिये कविभारत ने कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन करते हुये लिखा है—‘यथा दूध के अन्तरे से जिस

लोचनम्

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्स्फुरति तथापादमित्थमिति विरोपतो निरूप्यमाण सहस्रशास्त्री भवति । यद्योक्तमस्मत्परमगुरमि श्रीमदुत्पलपादै —

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनयस्तन्मया स्थितोऽप्यन्तिके

कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तु यथा ।

लोकस्यैव लयानवेक्षितगुण स्वाग्मापि बिभ्रदेश्वरो

मैवाल मित्रबैभवाय तदिय तत्पद्यमिश्रोदिता ॥ इति ॥

इस मीति से यद्यपि यह स्वय ही शब्द के लिये परिच्युत होता है तथापि यह इसी प्रकार का है यह विशेष रूप से निरूपित किये जाने पर सहस्र शास्त्रियों में विमर्श हो जाता है । वेता कि हमारे परम गुरु श्रीमान् उत्पल राजदेव ने कहा है—

‘विभिन्न उपायों से श्राव्यता किवा हुआ भी तन्वी के निकट स्थित भी वास्तु लोकमान्य रूप में न पहिचाना हुआ जिस प्रकार रमण के लिये नहीं होता, इसी प्रकार स्वाभिरूप में स्थित भी विशेषकर न देखे हुये गुणोंवाले होकर लोक के समान अपने वैभव के लिये नहीं ही समर्थ होते हैं इसलिये यह इस प्रकार की वस्तु को अत्यभिज्ञा कही गई है ।’

छायावर्ती

का अर्थ होगा—‘महाकवि को इस प्रकार के व्यंग्यार्थ और व्यञ्जक शब्द का अत्यभिज्ञान करना चाहिये । यदि ऐसाही मानी जायेगी तो ‘सदृश्ये’ का शब्द को ओदहर इसका अर्थ हो जायेगा—महाकवि के इस प्रकार के अर्थ और शब्द का अत्यभिज्ञान सदृश्यों द्वारा किया जाना चाहिये । सभी लोग ऐसे ही शब्द और अर्थ का अत्यभिज्ञान करने का प्रयत्न किया करते हैं । इस प्रकार सदृश्यों के प्रयत्न की बात कहकर यह भी सिद्ध कर दिया गया कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता में सदृश्यों के हृदय ही प्रधान है और इसकी प्रधानता ओदृष्टि हो जाती है । साथ ही निवेगार्थक वा प्रत्यय के प्रयोग से अधिज्ञाना भी प्रकट हो जाती है ।

यहाँ पर अत्यभिज्ञा शब्द की गहरीमीति समझटना चाहिये । अत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है किसी पुरानी बात वस्तु को पहिचान देना । यहाँ पर कहा गया है कि ‘महाकवि को चाहिये कि व्यंग्यार्थ और व्यञ्जकशब्द को पहिचान ले ।’ अब प्रश्न यह उठता है कि जब कवि स्वय ही शब्द और अर्थ का जनक है तो वह उसे गहरीमीति पहिचान ले यह कहने का क्या आशय है । इसका उत्तर यह है कि कवि व्यंग्यार्थ और व्यञ्जकशब्द का अन्वय नहीं होता अतः इस प्रकार शब्द और अर्थ स्वयं स्फुरित हुआ करते हैं । बिंदी ने कहा है —

‘जिसी प्रतिभावाली कवि का काव्य सयोगवग कभी ही बन जाता है ।’

आगे यह है कि काव्य का स्फुरण स्वय ही होता है, प्रयत्नपूर्वक नहीं रचना कभी

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दाद्यंशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु काव्यार्थतावज्जैरेव केवलम् ॥ ७ ॥

(अनु०) प्रतीयमान अर्थ को सच्चा सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रमाण यह है—

यह (प्रतीयमान अर्थ) शब्दशासन और अर्थशासन अर्थात् व्याकरण और कोश के द्वारा ही नहीं जाना जाता, किन्तु यह केवल काव्यवस्तुवेषाओं के द्वारा जाना जाता है ॥ ७ ॥

छोचनम्

इदं चेति । न केवल 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदादेव; यावद्विज्ञसामग्रीवेद्यत्वमपि धाव्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत् । वेद्यत्वं इति । न तु न वेद्यते, येन न स्यादिति भावः । काव्यस्य तत्त्वभूतो

'इदं च' इत्यादि । केवल 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' इस कारिका से सूचित स्वरूप और विषयभेद ही नहीं होते निम्नसामग्रीवेद्यत्व भी बाव्यातिरिक्तत्व में प्रमाण है । वेद्यते इति । निवेदित नहीं किया जाता है यह बात नहीं है जिससे इसकी सच्चा सिद्ध न हो यह आशय

सारावली

काव्यपरिशीलकों के लिये भी सत्तात्वादन के निमित्त प्रतिमा की आवश्यकता है । इसीलिये भट्ट मुनि ने भाव की परिमाण करते हुये लिखा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को जो मावित करता है उसे ही भाव कहते हैं।' दो चार या पांच छंद महाकवियों के होने की बात कहने में आलोककार का आशय यह है कि महाकवि पद की प्राप्ति के लिये सुप्रसन्नोत्त प्रतिमा-विशेष की अनिवार्यता अपेक्षित हो नहीं किन्तु अनिवार्य है । रामेश्वर ने लिखा है :—

मुक्तके कवयोऽनन्ता मन्वे कवयः शब्दम् ।

महामन्वे तु कविरको द्वी यदि वा त्रय ॥

संस्कृत के कर्तृत्व का आशय यह है कि अर्थवस्तु की संपदना सात्वती स्वयं ही कर देनी है, इसके लिये कवि को प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । स्वयं मन्वकार ही चतुर्थ उद्योत में कहेंगे :—

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु मुक्तये

संस्कृत्यैवैषा घटयति मयेष्ट मगवती ॥

चतुर्थ कारिका 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव ...' में यह दिखाना जा चुका कि बाव्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपभेद होता है और विषयभेद भी होता है । ५ वीं कारिका में शतहास के प्रमाण से व्यङ्ग्यार्थ की सच्चा सिद्ध की गई और छठी कारिका में उसे स्वसंवेदनासिद्ध बताया गया । अतः कारिका में यह बताया जा रहा है कि बाव्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की महक सामग्री में भी भेद होता है । कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार बाव्यार्थ की प्रतीति वाशानुशासनज्ञानमात्र से हो जाती है इस प्रकार केवल उतने से ही व्यङ्ग्यार्थ की

अध्यालोक

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपादाने कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जन ।

तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदाह ॥ ९ ॥

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया । नहि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति । तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्ग्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥ ९ ॥

(अन्तः) अब यहाँ पर यह दिखाना जा रहा है कि यद्यपि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक की प्रधानता होती है फिर भी कविगण वाच्यवाचक का ही पहले उपादान करते हैं । यह भी ठीक ही है—जिस प्रकार लोगों को आवश्यकता हो किसी वस्तु के अवलोकन की होती है और प्रयत्न करते हैं दीपशिखा के लिये । क्योंकि दीपशिखा वस्तु प्रत्यक्ष का उपाय है, इसी प्रकार कवियों को समीष्ट होता है व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन किन्तु उसका उपाय होने के कारण उन्हें वाच्य अर्थ के लिये भी प्रयत्न करना पड़ता है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार आलोक का इच्छुक होते हुए भी कोई व्यक्ति दीपशिखा में प्रयत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा आलोक का उपाय है, उससे अंधार में आलोक हो सकना सम्भव नहीं है—इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति की इच्छा रखनेवाले कवियों को भी वाच्यार्थ के लिये उद्योग करना पड़ता है । यहाँ पर प्रतिपादक (कवि) कवि का व्यङ्ग्यार्थ के प्रति किस प्रकार का व्यापार होता है यह दिखाना गया ॥ ९ ॥

लौचनम्

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकत्वदावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं अवर्तारयमिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्यं साध्यं हेतु-
रिति दर्शयति—इदानीमित्यादिना । आलोकनमात्रात् कवितावदनारविन्दादि
विलोकनमित्यर्थः । तत्र लौचनयोः दीपशिखा ॥ ९ ॥

निरासरेह प्रथम उपादान किया हुआ होने के कारण वाच्य, वाचक तथा वाच्यवाचकत्व का ही प्राधान्य होता है यह जागृता करके उपायों का ही प्रथम उपादान होता है इन अभिप्राय से प्राधान्य को सिद्ध करने में यह हेतु विशुद्ध है यह दिखाना रहे है इदानीम् इत्यादि के द्वारा । आलोक का अर्थ है आलोकन अर्थात् साधन प्राप्त अर्थात् अनित्यवदनारविन्द इत्यादि का अवलोकन । उसमें उपाय है दीपशिखा ॥ ९ ॥

लौचनम्

हम ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति कर्तृवाचक मन्त्र के द्वारा (ध्वन्यतीति ध्वनि) यह करने पर ध्वनि करनेवाला व्यञ्जक शब्द ध्वनि का अर्थ होगा । जब हम इसकी व्युत्पत्ति कर्तृवाच्य द्वारा (ध्वन्यं यद्) करने पर इसका अर्थ होगा “जो ध्वनि उत्पन्न करने वाले” अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ ।

वारावती

प्रयोग किया गया है। पूर्वाध के प्रयोग का आशय यह है कि व्यंग्यार्थ को शास्त्रानुशासन और अपानुशासन के धान के बल पर नहीं जाना जा सकता। इससे यह सूझा जा सकता भी कि जो वस्तु शास्त्रानुशासन के आशय से अवगत नहीं होती उसकी सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाती है। इसी तरह उपरार्थ में 'पेयते' कृष्ण का पुनः प्रयोग कर यह बतला दिया गया कि काव्य सशब्दताओं को वस्तुकी प्रतीति होती है और उसका अश्लेष नहीं हो सकता। केवल सामर्थ्यमेद से वस्तु की भिन्नता सिद्ध होती है। साहित्यदर्पण में एक ही कारिका में वाच्य और व्यङ्ग्य के भेदक तन्त्रों को मिला दिया गया है—

शब्दस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकाठानाम् ।

आशयविषयादीनां भेदाङ्गिर्लोडमिषदयो व्यङ्ग्य ॥५-२॥

यहाँ पर काव्यशब्दों का कहने से यह नहीं समझना चाहिये कि अधिकारी-भेद का इन कारिका में उल्लेख है। यहाँ पर आशय केवल इतना ही है कि वाच्यार्थदान में कारणमूल सामग्री शास्त्रानुशासन धान है और व्यंग्यार्थ धान में सामग्री सहस्रवृत्ता इत्यादि है। 'काव्य के सशब्द अर्थ की भावना से जो लोग विमुख हैं' इस वाक्य में भावना का अर्थ है— 'वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की निरन्तर चर्चणा करना।'।

आलोचक ने गन्धर्व विद्या जाननेवालों का दृष्टान्त दिया था। उसकी व्याख्या करते हुये आलोचक ने स्वर भुक्ति शब्दादि परिभाषिक शब्दों का परिचय दिया है। अब अनपेक्षित होते हुये भी इन परिभाषाओं का सक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। विस्तृत विवेचन सज्जीव की पुस्तक में प्राप्त होगा। प्राणवासु और शरीररामि के संयोग से जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद कहते हैं। यह नाद विभिन्न भावियों से अभिव्यक्त होता है और नादीभेद से इसके २२ प्रकार हो जाते हैं। इन्हीं प्रकारों को भुक्ति कहते हैं। इन भुक्तियों से ७ स्वर उत्पन्न होते हैं। भुक्ति शब्द का सामान्य अर्थ है जो अवयवोच्चर हो और स्वर शब्द का अर्थ है—जो श्रोता के विषय को निरपेक्ष भाव से स्वतः अनुरजित कर दे। ये स्वर ७ होते हैं—बहुव, अक्षम, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं को संक्षेप में 'संरिगमपधो' भी कहते हैं। भुक्तियों परस्पर भेदमात्र करनेवाली होती हैं, उनका परिमाण बड़ा होता है किन्तु कालोश में उनका उच्चारण होता है। ये स्वरों में भी व्यक्त होती हैं और स्वरों के मध्यभाग में भी व्यक्त होती हैं। यदि समस्त स्वर एकत्र रहें तो उनमें पूर्णतया अनुरजन नहीं हो सकता। अतएव इनके समूह की कल्पना की जाती है। स्वरसमूह को ग्राम कहते हैं। ग्राम दो प्रकार के होते हैं—बहुव ग्राम और मध्यम ग्राम। ये ग्राम २२ भुक्तियों से उत्पन्न होते हैं। इनकी २१ मूल्यायें होती हैं और इन ग्रामों के मेल से १८ भुक्तियाँ उत्पन्न होती हैं इन भुक्तियों के १३ अंग होते हैं। इनसे प्राणराग, माता, विभाषा, आन्तर माता, देवीमार्ग इत्यादि हंसे हैं किन्तु कल्पन सहस्रवृत्ता का विषय है।

ध्वन्यालोक

प्रतिपाद्यम्यापि त दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थे सम्प्रतीयते ।

वाक्यार्थपूर्विका वद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुन ॥ १० ॥

यथाहि पदार्थद्वारस्य वाक्यार्थावगमस्तथा वाक्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्य-
स्वार्थस्य प्रतिपत्तिः ।

(अनु०) प्रतिपाद्य (आत्मा) को इति से भी नहीं दिसता रहे है—

जिस प्रकार पदार्थज्ञान के द्वारा वाक्यावगम होता है उसी प्रकार वाक्यार्थज्ञान के
द्वारा ही उस वस्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है ॥ १० ॥

जिस प्रकार पदार्थ के भाव्यम से वाक्यार्थ का अवगम होता है उसी प्रकार वाक्यार्थ की
प्रतीति के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है ।

सौचनम्

प्रतिपत्ति आये विषय । 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थ ।
अनेन श्लोकेनाप्यन्तसद्वदयो यो न भवति तस्यैव स्फुटसर्वेष एव क्रम ।
यथाप्यन्तशब्दवृत्तौ यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रम । काष्ठाप्राप्त-
सद्वदयमात्रस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सद्यपि क्रमोऽप्यस्तानुमानाविनाभाव-
स्मृत्यादिवदसर्वेष इति दर्शितम् ॥ १० ॥

'प्रतिपत्ति' शब्द में मात्र में विषय मत्व है । 'उस वस्तु का' का अर्थ है व्यङ्ग्यरूप सार
का । इस श्लोक से अप्यन्त सद्वदय को नहीं होता है उसके लिये क्रम स्फुटरूप में सर्वेष
ही होता है । जिस प्रकार अप्यन्त शब्द और वृत्त को जाननेवाला को नहीं होता उनके
लिये पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम होता है । जिसका सद्वदयभाव पराकाष्ठा को प्राप्त हो
चुका हो उसके लिये तो वाक्य वृत्त में कुशल के समान विद्यमान भी वस्तु अभ्यस्त विषय में
अनुमान और न्यति स्मृति इत्यादि के समान असर्वेष ही होता है यह दिखला दिया
गया है ॥ १० ॥

तात्पर्यं

किया जाता है वह उसे ही गौण नहीं बनाता । जैसे उदक इत्यादि के उपारान के छिप पर
इत्यादि का उपारान दिया जाता है । वही उदक इत्यादि पर इत्यादि को गौण नहीं बना सकता
है । नही तो प्रधान और अप्रधान की व्यवस्था ही निराधार हो जाय । अतएव पर इत्यादि
का प्रतिनिधिपत्ति करत है उदक इत्यादि नहीं । इस पर केरा निवेदन है कि जिस वस्तु का
उदक होता है वही वस्तु प्रधान मानो जा सकती है । पर के बिना भी जल गिर रह सकता
है किन्तु जल का नाम केवल पर से नहीं पड़ता । दूसरी बात यह है कि पर जल की दृष्टि
से गौण न भी हो किन्तु जलवा की दृष्टि से तो वह गौण ही होता है । आगेय यही है कि
पर व्यापमान होता है, अतः वह उपर-वर्कट को कभी प्राप्त नहीं कर सकता ।]

ध्वन्यालोक

एव वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भाव प्रतिपाद्य प्राधान्य तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽप्यंतद्वयनिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।

यस्मिन्तः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्वयनिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तत्रैव शब्दार्थौ महाकवे प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभ्यामेव सुप्रयुक्तान्वा महाकवि-
त्यसामो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

(अनु०) इस प्रकार वाच्यव्यतिरेकी व्यङ्ग्य वा वक्ता प्रतिपादित करके वक्ता का प्राधान्य होता है यह दिखाने हैं—

‘वह अर्थ और उस अर्थ की व्यञ्जना के सामर्थ्य में योग रखनेवाले किसी शब्द की प्रधान पूर्वक परता जाना चाहिये, क्योंकि वे शब्द और अर्थ महाकवि के हाथे हैं’ ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्य अर्थ और उसकी व्यञ्जना के सामर्थ्य में योग रखनेवाला कोई शब्द सभी शब्द नहीं । वे ही शब्द और अर्थ महाकवि द्वारा दत्त किये जाने योग्य हैं । महाकवियों को सुप्रयुक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जक से ही महाकवित्व पद का लाभ होता है वाच्यवाचकरचनामात्र से नहीं ।

लोचनम्

प्रथमिति । स्वरूपभेदेन मिस्रमामग्राज्ञेयत्वेन चेत्थयं । प्रथमिज्ञेया-
शिवर्थायै कृत्य । सर्वो हि तथा यतते हृत्तीयता प्राधान्ये लोकमिद्वार्य प्रमाण-
मुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उत्त । प्रथमिज्ञेय शब्देनैदमाह—

काव्य तु जातु जायेत कस्यचिप्रतिभावत ॥

प्रथमिति । अर्थात् स्वरूपभेद से और भिन्नमामग्रीयेव होने से । (कारिका में) ‘प्रत्यभिज्ञेय’ शब्द में अर्थ अर्थ के कृत्य प्रत्यय हो जाता है । सभी लाभ वैसा ही प्रयत्न करते हैं इस प्रकार इस शब्द के द्वारा लोकसिद्ध प्रमाण बनता दिवा । नियोगार्थक कृत्य प्रत्यय के द्वारा शिक्षाक्रम इतना दिवा गया । प्रत्यभिज्ञेय शब्द से यह कह रहे हैं ‘प्रतिभाषाओं किसी कवि का कवि ही कोई वाच्य उत्पन्न होता है ।’

तारावली

ऊपर दो रूपों में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद बनजाता गया था स्वरूप भेद और स्वरूपभेद । इस कारिका में व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यञ्जकमामग्री दोनों को प्रयत्नपूर्वक पहचानने का परामर्श दिया गया है । यही पर ‘प्रत्यभिज्ञेय’ शब्द को समझ लेना चाहिये । यह शब्द ‘प्रति’ अर्थात् ‘अभि’ उपसर्गपूर्वक ‘जा’ धातु से ‘अहं’ अर्थ में ‘अहं कृत्यवृत्त’ इस एत से प्रत्यय होकर बना है । अतः इस शब्द का अर्थ हुआ ‘व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जक शब्द’ दोनों प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं । ‘महाकवे’ इस शब्द में बड़ी दो प्रकार से हो सकती है— एक तो कवि में बड़ी दूसरे दोस्तड़ी । यदि बड़ी पर कवि में बड़ी मनी जायेगी तो इस वाच्य

ध्वन्यालोक

इदानीं वाक्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्ध्वन्यस्यार्थस्य प्राधान्य
यथा न व्युत्पद्यते तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थप्रतिपादनम् ।

यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विमान्यते ॥ ११ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थ प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ
न विमान्यत विद्यततया ।

तद्वत्सत्वेत्तां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम् ।

इदो तत्पदार्थदर्शिन्या स्मरित्यवयवमायते ॥ १२ ॥

(अनु०) अब यह दिखानाया जा रहा है कि यद्यपि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाक्यार्थ की
बाद होती है फिर भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता विस प्रकार हम नहीं हा जाती—' निम्नकार
पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य से हो वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हुये व्यापार की निष्पत्ति में
पृथक् रूप में प्रतीत नहीं होता' ॥ ११ ॥

आशय यह है कि पदार्थ अपने सामर्थ्य (आवांश, बोध्यता और सन्निधि) के द्वारा
वाक्यार्थ का प्रकाशित करते हुए भी व्यापार की निष्पत्ति में पृथक् रूप में प्रतीत नहीं होता ।

" हमी प्रकार वाक्यार्थ से विमुक्त अर्थात् उसी से सन्तुष्ट न होनेवाले सहृदयों को देखी
हुकि मैं जो कि तत्पदार्थ को दोष ही देख लेती हूं वह व्यंग्यार्थ एकदम भा जाता है ॥ १२ ॥

शेषनम्

न व्युत्पद्यत इति । प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुमाशरणशक्यता मध्ये
विभ्रान्ति न कुर्वन्ति इति प्रमत्त सतोऽप्यलक्षण प्राधान्ये हेतु । स्वसामर्थ्य-
माकाङ्क्षायोग्यतासन्निधय । विमान्यत इति । विशब्देन विमन्तव्यता ।

व्युत्पद्यत इति । प्रधानता के ही कारण तत्पर्यन्त अनुसरण में औत्पत्य को शीघ्रता करते
हृद मध्य में विभ्रान्ति नहीं करते हैं यह मन के होते हुए भी लक्षित न करना प्रधानता में हेतु
है । स्वसामर्थ्य का अर्थ है आवांश, बोध्यता और सन्निधि । विमान्यत इति । विमन्त से विम

शारदावती

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यंग्यक वाक्य भी होता है और निरर्थक वर्ण
इत्यादि भी व्यंग्यक होते हैं । उक्त वाक्यार्थ और व्यंग्यार्थ का इष्टान्त ऐसे ही स्थान पर सङ्गत
होता है जहाँ वाक्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । जहाँ निरर्थक वर्ण इत्यादि
से ही व्यंग्यार्थ अवगत हो जाता है वहाँ पर वाक्य इत्यादि का प्रत्यक्ष होना ही व्यंग्यार्थ में
कारण होता है । अब यहाँ के लिये यह इष्टान्त नहीं है (पदार्थ वाक्यार्थ के लिये देखो
च० १) ॥ १० ॥

११ वीं और १२ वीं कारिकाओं का निम्नकार एक पूर्ण अर्थ होता है ११ वीं कारिका में
इष्टान्त है १२ वीं कारिका में दाटीन्त है । इसीलिये दोनों कारिकाओं का एक ही सन्दर्भ

छोवनम्

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञान, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम् । महाकवेरिति । यो महाकविर्हं भूयासमित्याशास्ते । एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-
स्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्न-
मित्युक्तम् ॥ ८ ॥

इतिष्ठिये पात का भी अनुसन्धानात्मक निरूपण यहाँ पर प्रचयिज्ञा है, केवल इतना ही नहीं कि 'यह वही है' । महाकवेरिति । जो वह आशा करता है कि मैं महाकवि बन जाऊँ । इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का प्राधान्य बतलाते हुये व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का भी प्राधान्य कह दिया गया है; इस प्रकार 'ध्वनित करता है' 'ध्वनित किया जाता है' और 'ध्वनन' ये तीनों ही उपपन्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

तारावली

नहीं हो सकती । किन्तु फिर भी उस काव्य की वास्तविकता का ठीक रूप में निरूपण करने से वह संयोगवशा भी उत्पन्न हुआ काव्य सहस्र शाखाओं में विभक्त हो जाता है । यही प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है । इसका परिचय देते हुये छौवनकार के परम गुण श्री उत्पलरामदेव ने लिखा है—

त्रिम प्रियतम को हुलाने के लिये इती सम्प्रेष्य आत्मवृत्तान्तनिवेदन प्रभृति वषाओं से विभिन्न प्रकार से मार्चना की थी, वह प्रियतम भा भी गया और निकट भी बैठा है । किन्तु नायिका वह नहीं समझ रही है कि वह वही प्रियतम है जिसको अपने निकट हुलाने के लिये मैंने इतनी चेष्टाएँ की थी । वह उसे साधारण व्यक्ति के समान ही समझ रही है । अतः वह करने वक्त प्रियतम से रमण करने में कभी प्रवृत्त नहीं हो सकती । इसी प्रकार यद्यपि सभी व्यक्ति जानते हैं कि विश्व का स्वामी परब्रह्म परमेश्वर सभी संसार की आत्मा है तथापि अनेक वक्त परमात्मा के गुणों का साक्षात्कार नहीं होता तबतक उसने वैभव का प्रभाव किसी प्रकार पक नहीं सकता । इसीलिये वक्तका परिचय कहने की मैंने चेष्टा की है ।

इसी प्रकार कुछ शब्दों में रमणीय अर्थ को अभिव्यक्त करने की उममा होनी है । अर्थात् शब्दों में इस प्रकार की विशिष्ट अर्थ के घोटन की शक्ति स्वतः विद्यमान होती है और हम प्रथम उस शक्ति से परिचित भा होते हैं; किन्तु उस ओर हमारा ध्यान प्रायः नहीं जाता । हमका अनुसन्धान और परिचय ही महाकवि का काम है । ऐसे शब्द प्रतिभा के बर पुरित हुआ करते हैं । किन्तु जबतक इनको रमणीयता की ओर ध्यान नहीं जाता तबतक काव्यनन्द की दृष्टिभी नहीं होती । अतः जो महाकवि अपने ही काव्य का रसास्वादन करना चाहते हैं अथवा जो परिलोभक महाकवि बनना चाहते हैं उन्हें आदिये कि स्वतः पुरित होनेवाले भी व्यञ्जक शब्दों की विशेषताओं का परिचय प्राप्त करें । इस प्रकार शब्द अर्थ और व्यञ्जक शब्द दोनों की प्रभावता बतलाने से व्यञ्जनरूपि की भी प्रधानता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है । ध्वनि शब्द का प्रयोग इन तीनों अर्थों में किया जा सकता है । जय

सारांश

श्रुत की प्राप्ति की उत्पत्ति में बढ़ते ही चले जाते हैं। व्यंग्यार्थ प्रधान होता है इसलिये सहृदय लोग उस तक पहुँच जाने के लिये उठावले हो जाते हैं और गीतज्ञ करते हुए मध्य में पड़नेवाले वाक्याय पर रुकने नहीं और न उसे छानि हो कर पाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ ही उनका अर्थ है अतएव वही प्रधान होता है।

अतुत कारिका में 'अब्धसामर्थ्य' के द्वारा वाक्याशय का दृष्टान्त दिया गया है। अब 'अब्धसामर्थ्य' को समझ लेना चाहिये। वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

वाक्य स्याद्योग्यतावाचास्तित्युक्त एतेष्वेत्य ।

अर्थात् वाक्य ऐसे पदसमूह को कहते हैं जिसमें योग्यता आकाङ्क्षा और आसक्ति विद्यमान हो। पद की वही तीन विशेषताएँ वाक्यार्थबोध में कारण होती हैं और इन्हीं की वही पर पद सामर्थ्य से समीहित किया गया है। कारिकावाली में योग्यता की निम्नलिखित परिभाषा दी हुई है—

परार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यतापरिकीर्तिता

अर्थात् एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध योग्यता कहलाता है। योग्यता की दूसरी परिभाषा यह की गई है—

‘योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधायाम् ।’

अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा न होना ‘योग्यता’ कहलाता है। जैसे ‘अग्नि से सौचता है’ इस वाक्य का वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि सौचना किया या करण अग्नि नहीं हो सकती। अब इनका सम्बन्ध बाधित है और इन शब्दों में परस्पर मिलने की योग्यता नहीं है। यदि किसी पद के अभाव में एक पद के अर्थ की पूर्ति न हो तो उस पद की उस पद के साथ आकाङ्क्षा होती है। जैसे विद्याद की कारवाण के साथ आकाङ्क्षा होती है। यदि शाय, धागा हाथी बैठ इत्यादि दस पाँच शब्द जोड़ दिये जायें तो इनसे कोई वाक्य नहीं बन सकेगा क्योंकि उनमें परस्पर आकाङ्क्षा नहीं है। आसक्ति का अर्थ होता है निरुत्पत्ता। यदि शब्द साथ-साथ न चले अथवा बिलम्ब से चले जायें तो निरुत्पत्ता न होने के कारण उनमें वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता। अब शब्द समूह में ये तीनों लक्षण विद्यमान होते हैं तभी वाक्याशय होता है। किन्तु वाक्याशय में शब्द तथा उनके इन सन्धियों का पूरक बाध नहीं होता। वाक्यार्थ परन्तु प्रकट हो जाता है शब्दार्थ की आश्रयान भी नहीं जाता। विभाषा में कि का अर्थ है विभक्त्यर्थ में और आसक्ति का अर्थ है मग्न होना। अर्थात् पदार्थ वाक्याय में विभक्तरूप में प्रतीय नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द अर्थ परन्तु प्रकट नहीं हो पाता। कुछ लोगों ने इस सम्बन्ध की यह व्याख्या की थी कि वैध्याकरण शास्त्र पदार्थ का मानते ही नहीं। उनके मन में वाक्य शब्दों का वाक्य का अर्थ होता है, पदों का अर्थ कुछ मात्र नहीं होता। अतएव वही पर पदार्थ और वाक्यार्थ का अर्थ भी नहीं होता। किन्तु यह व्याख्या विपरीत है। वाचस्पत्य ने शब्द रूप में विभाष्य शब्द का प्रयोग किया है, विभक्ता अर्थ है अर्थ होता है किन्तु विभक्तरूप में प्रतीय नहीं होता।

कारावली

अब हम सहायक लघुत मयव करने (ध्वननम्) तब इसका अर्थ हाभा ध्वनित करनेवाला व्यापार अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति इस प्रकार दोनों ही अर्थ सङ्गत हो जाते हैं ॥ ८ ॥

कुन्व ने शब्द और अर्थ को विच्छिन्नता तथा लोकोत्तरता की ओर संकेत किया है । उनका कहना है—

शब्दो विवर्णिनैवाधवाचकाऽन्येषु सत्त्वपि ।

अथ सहस्रधाद्वादकारि-स्वस्पन्द सुन्दर ॥ १-९ ॥

अर्थात् एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते हैं किन्तु कवि ऐसे शब्द का ही प्रयोग करता है जो उसके विविध अपूर्व अर्थ का कह सके । इसी प्रकार कवि का अर्थ भी इस प्रकार का होता है जो सहस्रों को आह्लाद दे सके और स्व स्फुरित होने के कारण सुन्दर प्रतीत हो ।

यहाँ तक व्यंग्य व्यञ्जक और व्यञ्जनावृत्ति तीनों की प्रधानता सिद्ध की जा चुकी । अब यह प्रश्न उत्पन्न है कि जबकि व्यंग्यायबोध के पहले ही वाच्यवाचक भाव का परिचालन अनिवार्य है तब प्रथम उपादान के कारण वाच्यवाचकभाव की प्रधानता ही सिद्ध होती है । व्यंग्यव्यञ्जकभाव का तो उपादान बाद में होना है उनकी प्रधानता कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि लोक में उपाय पहले होते हैं और उन्हीं के लिये पहले उद्योग किया जाता है । उपाहरण के लिये यदि अपनी मंथनी के मुख कमल को देखना हो तो पहले दीप शिखा का अवेशन किया जावेगा । इसी प्रकार वाच्य उपाय है और व्यंग्यार्थ उपेय है । अतएव वाच्य में पहले प्रवृत्ति होती है । आलोक का अर्थ है प्रकाश । किन्तु दीपशिखा और प्रकाश का अभेद सम्भव है । अतएव आलोक के लिये दीपशिखा का अवेशन किया जाता है यह वाक्य प्रस्तुत प्रकरण में अधिक सङ्गत नहीं होता । इसीलिये लोचनकार ने 'आलोकनमालोक' 'बनितावदनारविन्दादिविच्छेदनम्' यह अर्थ कर दिया है । अतएव इसका अर्थ हो जाता है—हृदयायसन्निकर्षत्रय चाधुन प्रत्यय ।

यहाँ पर पूर्वणी ने अनुमान प्रमाण के लक्ष पर वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध की थी । प्रतिष्ठा का अनुमा प्रयोग इस प्रकार होगा—'वाच्यवाचकभाव प्रधान होता है क्योंकि इसका उपादान पहले किया जाता है । यहाँ पर वाच्यवाचकभाव प्रथम है, प्रधानता साध्य है और प्रथम उपादान हेतु है । किन्तु यह अनुमान प्रक्रिया ठीक नहीं है क्योंकि हमने विरुद्ध देखागम है । यहाँ पर प्रधानता साध्य है, उसका अभाव है अप्रधानता । प्रथम उपादानरूप हेतु उसी अप्रधानता को सिद्ध करता है प्रधानता को नहीं । क्योंकि अप्रधान उपाय का उपादान पहले होता है उपेय प्रधान का बाद में । अतएव यह हेतु विरुद्ध है और वाच्यार्थ की प्रधानता को सिद्ध नहीं कर सकता ।

[उपाय उसे कहते हैं जिसका किसी उद्देश्य से उपादान करके भी परित्याग कर दिया जाय । मंदिर भट्ट का कहना है कि 'यह कहा जा सकता है कि जिसके लिये जिसका उपादान

ध्वन्यालोक

यत्रार्थो वाच्यविशेष वाचकविशेष शब्दो वा तमर्थं स्वच्छन्दः, स वाच्य-
विशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचारुवहेतुम्य उपमादिभ्योऽनुगमा-
दिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

(यत्तु०) यही पर 'अर्थ' शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का वाच्य अर्थ और शब्द
का अर्थ है विशेष प्रकार का वाचक । यही पर वाच्य अथवा वाचक उस प्रधानीय-
को व्यक्त करते हैं उन वाच्यविशेष का ध्वनि कहते हैं । ध्वनि को हम परिभाषा के द्वारा यह
दिखाना चाहा है कि ध्वनि का विषय वाच्यार्थ का वाक्यांश है स्वयं होनेवाले अर्थ
इत्यादि से भी भिन्न है और वाचक को वाक्यांश से उत्पन्न अनुमास इत्यादि से भी भिन्न है ।
छांयनम्

सङ्गाधमिति । सत्ता साधुमान्य प्राधान्य चेत्यर्थं । इयं हि प्रतिवि-
पादयिषितम् । प्रकृत इति लक्षणं । उपयोग्यम् उपयोग गमयन् । तमर्थमिति
चायमुपयोग । स्वच्छन्द आत्मवाचा । स्वस्वार्थश्च ती स्वाधी, ती गुणीकृती
वाच्यम्, यद्यप्युच्येन तमार्थो गुणीकृतारमा शब्दो गुणीकृतार्थमिषेय तमर्थं
मिति । 'सरस्वतीस्यादु तदर्थवस्तु इति यदुक्तम् । स्वच्छन्द इति द्विवचने
नेदमाह—यद्यप्यविशक्तिवाच्ये शब्द एव स्वच्छन्द तथाप्यर्थस्यापि मह
कारिता न युज्यति, अन्यथा भङ्गात्तार्थोऽपि शब्दस्तुप्रत्यक्षं स्यात् ।
विशक्तिरान्यपरवाच्यं च शब्दस्यापि भवत्येव । विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना
तस्यार्थस्याप्यङ्गत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोर्ममयोऽपि ध्वननं व्यापारः । तत्र
वदन्नामकेन द्विवचनं दूषितं तद्गजनिर्मलिकयैव । अर्थं शब्दो केति

सङ्गाधमिति । अर्थात् सत्ता या साधुमान्य अथवा प्राधान्य का । दानों का प्रतिपादन करना
यही पर अभीष्ट है । 'प्रकृत' शब्द का अर्थ है वस्तुवत् वा प्राप्त कराते दृष्टे । 'तमर्थम्' इसके
लिए (अर्थात् 'तम्' शब्द से परामर्श करने के लिये) यह उपयोग है । स्वच्छन्द आत्मवाचक
(अर्थ के स्वरूप का वञ्चनेवाला) है । 'स्वार्थ' शब्द का अर्थ है 'स्व' और अर्थ दानों
मिलकर वे दानों श्रित हो के द्वारा गीत बना दिये जायें । इससे अर्थवाच्य से अर्थ अपनी
अर्थात् का गीत बना देनेवाला होता है और शब्द करने अभिधेय को गीत बना देनेवाला
होता है । उस अर्थ को अर्थात् 'सरस्वती स्यादु तदर्थवस्तु' में जो वाद करी गई थी ।
'स्वच्छन्द' अर्थात् पातित करते हैं । 'स्वच्छन्द' इस द्विवचन से यह कहा है—यद्यपि अर्थवाच्य
वाच्य में शब्द ही अङ्गत्व होता है तथापि अर्थ की भी साकारिता दृष्टा नहीं नहीं तो न
जाने हुए अर्थवाच्य शब्द भी अङ्गत्व अङ्गत्व हो जाये । और विशिष्टशब्दवाच्य में शब्द का
भी सङ्कारिता होती ही है क्योंकि विशिष्ट शब्द के द्वारा अभिधेयता के अभाव में उस अर्थ में
भी अङ्गत्वता नहीं पाती । इस प्रकार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन-कारण होता
है । इस प्रकार सङ्गाधक ने जो द्विवचन का प्रयोग किया है वह गजनिर्मलिका (रत्ना
संघे समस्त सङ्गन पर दृष्ट करना) हो है । 'अर्थ शब्दो वा' इसमें 'वा' का भवगत अर्थात्

तारावती

वाच्यार्थ की अपना व्यंग्यार्थ की प्रधानता पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—नवि के दृष्टिकोण से और सङ्ग्रह के दृष्टिकोण से। प्रस्तुत कारिका में कवि के दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि नवि व्यंग्यार्थ का अवयव बनाने के लिये ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यंग्यार्थ ही नवि का चरमउद्भव होता है, अतएव नवि की दृष्टि में उसी की प्रधानता होती है ॥ १ ॥

दूसरा दृष्टिकोण पाठक श्रोता या दर्शक का होता है। उसके दृष्टिकोण से भी व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता होती है। किंतु यह वाच्यार्थज्ञान में क्यों प्रवृत्त होता है। इसी बात का उत्तर इस १० वीं कारिका में दिया गया है। मानपादक और प्रतिपाद्य ये दो शब्द हैं। प्रतिपादक शब्द होता है और प्रतिपाद्य अर्थ होता है। किन्तु यहाँ पर इन दोनों शब्दों का इन व्यर्थों में प्रयोग नहीं हुआ है। जिस प्रकार ९ वीं कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है कवि, उसी प्रकार इस कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है परिशीलक, जिसके लिये कवि प्रतिपादन करता है। इस भाव्य को न समझकर कुछ व्याख्याकारों ने प्रतिपाद्य का अर्थ वाच्यार्थ किया है जो ब्यापक नहीं हो सकता। ध्यान रखना चाहिये कि वाच्यार्थ कभी प्रतिपाद्य नहीं होता। वह तो व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन का माध्यम मात्र होता है।

‘प्रतिपत्त्य’ का पर्याय होता—प्रतिपत्त्यत्तत्त्व। प्रतिपत्त्यत्तत्त्व पद भाग्य से भाव अर्थ में किन्तु प्रत्यक्ष होकर प्रतिपत्त्य बनता है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। जिस प्रकार वाच्यार्थ का ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम शब्दों का अर्थ न जान लें उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी हमें तब तक नहीं हो सकती जब तक हम वाच्यार्थ को न जान लें। इस दृष्टिकोण में जिस अपस्तुत का उदाहरण हुआ है उससे यह भी सिद्ध होता है कि जो लोग अत्यन्त सङ्ग्रह नहीं होते वही जो इस क्रम का पता चमत्कार है कि पहले वाच्यार्थ होता है और बाद में व्यंग्यार्थ होता है। जिस प्रकार वन में लिये लोगों को पहले शब्दों का अर्थ जानना पड़ता है तब उन्हें वाच्यार्थ का ज्ञान होता है। किन्तु अब भाषा पर विशेष अधिकार हुआ जाता है तब शब्दों के अर्थ की ओर बिना ही ध्यान दिये एक ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार जिन लोगों में सङ्ग्रहश की कमी है उन लोगों को वाच्यार्थज्ञान के बाद दृष्टिगत से व्यंग्यार्थ प्राप्त होता है। किन्तु जो लोग विशेष रूप से सङ्ग्रह हैं उनको वाच्य को सुनने के साथ ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। उन्हें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के पारस्परिक क्रम का पता नहीं चलता। इसके लिये दूसरा उदाहरण यह हो सकता है कि जिस प्रकार पहले हेतु (पुत्रा) के दर्शन होते हैं, बाद में साध्य (अग्नि) से उसकी ध्वनि का श्रवण किया जाता है और तब निष्परायणों के द्वारा साध्य (अग्नि) का अनुमान लगाया जाता है। पहले पट्टन का लोग अनुमान लगाते हैं उन्हें इस क्रम की प्रतीति होती है। किन्तु अन्त्य हो जाने के बाद पुत्र का देखते ही अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उस समय अन्तिम पट्टन शब्दों का अनुमान नहीं होता है।

शारावली

इस शब्द का प्रयोग किया गया है वाच्यव्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता भी बतलाएँ गये हैं और उसका साधुभाव अर्थात् माधान्य भी बतलाया गया है। शेषक ने लिखते प्रकरण में दोनों के प्रतिपादन की इच्छा की है। अब इस प्रतिपादन का ध्वनि सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है उसका प्रस्तुत प्रकरण में क्या उपयोग है यह बात इस कारिका में बतलाई गई है—“जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द, रक्षार्थ को उससेवन (गौण) बनाकर उस अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं वह कान्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है।” यहाँ पर ‘उस अर्थ को’ इस शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसी का परिचय पिछले प्रकरण में दिया गया है। इस परिभाषा में ‘रक्षार्थ’ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें द्वन्द्व समास है। ‘स्व अर्थात् आत्म स्वरूप और अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ’। इनका क्रमशः अन्वय लगता है और इनका अर्थ हो जाता है कि जहाँ पर अर्थ अपनी आत्मा का (धरने को) गौण बना देता है और शब्द जहाँ पर अपने अभिव्येयार्थ को गौण बना देता है वहाँ कान्य ध्वनिकाव्य होता है। ‘उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं’ का आशय यह है कि जिस अर्थ का विवेचन ‘सदसत्त्वो स्वादु उदर्यवन्तु’ इस कारिका में किया जा चुका है। इस परिभाषा के दो एक शब्दों पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है —

(१) ध्वञ्छ—‘दोनों अभिव्यक्त करते हैं’ में दिवचन का आशय यह है कि अविवक्षित वाच्यध्वनि में जहाँ पर अभिव्यक्ति शब्द के आधार पर होती है अर्थ का सहकार भी अपेक्षित होता है क्योंकि वहाँ पर बिना अर्थ ज्ञान के ध्वनि निकल ही नहीं सकती, अन्यथा निरर्थक शब्दों से भी ध्वनि निकलने लगेगी। इसी प्रकार विवक्षितान्वयवाच्य में जहाँ पर अर्थ के आधार पर अभिव्यक्ति होती है, शब्द का सहकार भी अपेक्षित होता है। क्योंकि जबतक वह अर्थ विविध प्रकार के शब्द से अभिहित नहीं होगा तबतक वह अर्थ व्यक्त हो ही नहीं सकता। इस प्रकार ध्वननव्यापार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का सम्मिलित व्यापार होता है। वही दिवचन का अभिप्राय है। इस आधार को न समझकर भट्टनायक ने दिवधन दूषित बतलाया है। यह उनका दावद्वान उसी प्रकार का है जैसे क. १ हाथी स्वभाव से ही अर्धे क्षणकाया करता है। इसी प्रकार भट्टनायक का स्वभाव ही क्षणिक करने का बन गया है। जिस प्रकार हाथी का अर्धे क्षणकालीन उसकी विचारशीलता का परिचायक नहीं बल्कि का सत्ता उसी प्रकार भट्टनायक का क्षणिक करना भी उनकी विचारशीलता का परिचायक नहीं है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि दिवचन का ही प्रयोग करना या तो ‘अर्थ जानने का’ नहीं ठीक। सीधा ‘अर्थशब्दी’ के प्रयोग से काम चला सकता था और उस दिया था दिवचन भी उचित हो जाता। इसका उत्तर यह है—‘अर्थ अथवा शब्द’ में अथवा शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि वर्षों दलों के सहयोग की सर्वत्र अपेक्षा होता है फिर भी प्रधानता जिसकी होती है ध्वनि उसी की बड़ी होती है। वही बात वाच्यप्रकाश को निम्नलिखित कारिका से स्पष्ट होती है—

सोचनम्

विमलतया न मास्यत इत्यर्थः । अनेन विद्यमान एव क्रमो न भवेद्यत
हृत्युक्तम् । तेन यत्स्फोटामिप्रायेणासत्त्वेन क्रम इति व्याचक्षते तत् प्रत्युत
विस्मयेन । वाच्येऽर्थे विगुलौ विश्रान्तिनिबन्धन परिहोपमलममान आत्मा
हृदय येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिप्रेयः । सहृदयानामेव तस्यां
महिमास्तु, न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—अवभासत
इति । तेनात्र विमलतया न भासते, नतु वाच्यस्य सर्ववैयानवभासः । अतः
एव तृतीयोद्योते घटप्रदापदुष्टान्तबलाद्वयङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न
विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः ॥ ११, १२ ॥

कृता वनार्थं गई है । अर्थात् विभक्त होने के कारण शांत नहीं होता है । इससे विद्यमान ही
क्रम सचेतनागोचर नहीं होता यह कहा गया है । इससे आ कि स्फोट के अभिप्राय से न
विद्यमान होते हुए भी मन' वट व्याख्या करते हैं वह ठा प्रत्युत विरुद्ध ही है । वाच्य अर्थ में
विगुल अर्थात् विश्रान्ति के कारण परिहोप को न प्राप्त करनेवाली है आना अर्थात् हृदय
चित्तवा इतमकार इससे 'सचेतनाम्' इसी का अर्थ अभिप्रेय किया गया है । तो यह सहृदयों
की ही महिमा हो यह वाच्य का कोई अतिशय नहीं है, यह आत्मा करके बट रहे हैं—
अवभासत इति । इससे यहाँ पर विमलतया भासित नहीं होता वाच्य का सर्वथा ही अवभासन
हो गया नहीं होता । अतएव तृतीय उद्योत में घट प्रदीप के दुष्टान्त के रूप पर जो यह कहेंगे
कि व्यङ्ग्यप्रतीतिकाल में भी वाच्यप्रतीति विघटित नहीं होती उसके साथ इस भाग का विरोध
नहीं है ॥११, १२॥

तात्पर्यती

दिखा गया है । इन कारिकाओं में यह बताया गया है कि जिस प्रकार शब्दों का अर्थ जान
लेने पर ही वाक्यार्थज्ञान होता है । किन्तु शब्दार्थ अपनी शक्ति से ही वाक्यार्थ का प्रति
पादन कर देता है, वाक्यार्थरूप व्यापार को निष्पत्ति में शब्दार्थ की विलङ्घन प्रतीति नहीं
होती । यह बात मान्य ही नहीं पड़ती कि शब्दार्थ और वाक्यार्थ का पृथक् पृथक् बलपूर्वक
और एक के बाद दूसरे दावों है इसी प्रकार यद्यपि यह निश्चय है कि वाक्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ
प्रतीत होता है तथापि जो सहृदय हैं और जिनकी आत्मा वाक्यार्थज्ञानमात्र से ही सन्तुष्ट नहीं
होती उनकी विशेषज्ञता बुद्धि में व्यङ्ग्यार्थ का अवभास प्रमाण ही जाता है । वही यह पता ही
नहीं चलता कि वाक्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हुई है । यही इन दोनों कारिकाओं
का भाव है ।

वाक्यविज्ञान यह है कि क्रम का प्रतीत न होता हो - व्यर्थ की प्रधानता से प्रभावित है ।
जो बहुत प्रधान होती है हम उसी को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और उसके लिये जो
सामग्री जुगते हैं उस पर चढ़ते नहीं, उस ओर ध्यान भी नहीं देते । किन्तु अपनी अमोह

सारावली

वह जीविये चाहे ध्वनि । कुछ लोगों ने कहा है कि 'यदि चास्ता मतीति ही वाक्य की आत्मा है तो जहाँ पर मयस इत्यादि के द्वारा होने सुन्दरता की मतीति हो चाहे और उसे भी वाक्य कहेंगे ।' इस पर मेरा यह कहना है कि जब हम शब्दार्थमय वाक्य की आत्मा का निरूपण कर रहे हैं तब मयस इत्यादि के द्वारा सुन्दरता मतीति की वाक्य की आत्मा कहने का मसल हो नहीं उठता ।

(३) स ध्वनिरिति । यहाँ पर ध्वनि शब्द का पूर्वोक्त तीनों अर्थों में प्रयोग हुआ है । ध्वनि के अन्दर अर्थ भी आ जाता है, शब्द भी और आकार भी । अर्थ का वाक्य और अर्थमय शब्दों प्रकार का आता है । अब हम इसका स्पष्टतः 'ध्वनित्वाति ध्वनि' इस प्रकार ध्वनित्वाक्य में करते हैं तब उसका अर्थ हो जाता है वाक्यार्थ । शब्द का समावेश भी इसी स्पष्टता में हो जाता है । अब 'ध्वन्यते' यह ध्वनित्वाक्य में शब्द का अर्थ है तब इसका अर्थ हो जाता है वाक्यार्थ । अब स्पष्ट मयस के द्वारा स्पष्टता की आत्मा है 'ध्वनित्वेति' तब इसका अर्थ हो जाता है शब्द और अर्थ का व्यापार । इन सबका समुदाय ही प्रधान होने के कारण वाक्यरूप होता है और इसी की मुख्यरूप में ध्वनि कहते हैं । यह बात हम कारिका में बतलाई गई है । आरम्भ यह है कि वाक्य में शब्द भी होता है वाक्यार्थ भी होता है शब्दार्थ भी होता है, शब्द और वाक्यार्थ के गुण तथा अलङ्कार (रीति और वृत्ति) भी होते हैं और व्यञ्जना व्यापार भी होता है । इन सबका समूह ही मुख्य वाक्य कहा जाता है । इसी की ध्वनि कहते हैं । समुदाय की बनानेवाले वृत्तियों की अपेक्षा समुदाय की प्रधानता होती है और उसमें भी अन्य सब व्यञ्जक होते हैं किन्तु सहाय केवल शब्दार्थ प्रकट हुआ करता है । शब्दार्थ ही प्रधान होकर ध्वनि का रूप धारण करता है । 'मुख्यरूप में वाक्य कहा जाता है' में मुख्य शब्द का अर्थ यह है कि वाक्यमय अन्वय का हो सकना है किन्तु अन्य प्रकार का वाक्य अनुपपन्न ही कहा जावेगा ।

ऊपर शब्दार्थ की सत्ता, उसकी प्रधानता और ध्वनि के स्वरूप का विश्लेषण किया जा चुका । अब इन सभी पर क्रमशः विचार किया जा रहा है जो कि व्यापारमय में ध्वनि का लक्षण बनने के लिये दिखाने लगे हैं । अभाववादियों के अन्वय शब्द का कहना था कि— "शब्द और अर्थ वाक्य के अंग हैं शब्दगत शब्दों अनुपास इत्यादि के नाम से अस्ति है और अर्थगत चास्ता उदमा इत्यादि होती है इसी प्रकार सपत्न्याधर्म मयस इत्यादि तथा उनसे सम्बन्धित वृत्तियों और रीतियों को है । उनसे ध्वनि ध्वनि नाम की यह बात ही नहीं बनी है ।' इन मयस पक्ष का निराकरण तो ध्वनि की मयस परिभाषा द्वारा ही हो गया । व्यञ्जक विश्लेषण से यह बात सिद्ध हो गई कि वाक्यमय की चास्ता में हेतु उपमा इत्यादि और वाक्य की चास्ता में हेतु अनुपास इत्यादि से इस ध्वनि का विशेष ध्वनि है । कारण यह है कि गुण और अलङ्कारों का माय वाक्य और वाक्य ही होते हैं किन्तु ध्वनि का माय शब्द और व्यञ्जक है । यह दोनों में भेद है । इस प्रकार ध्वनित्वेतिविशेष के अन्वय पक्ष का निराकरण

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो न्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयो-
जयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्ग्यः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिमिः कथितः ॥ १३ ॥

(अनु०) इसप्रकार वाच्यव्यतिरेकित व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता और उसकी प्रधानता का प्रति-
पादन कर अब यह दिखलाया जा रहा है कि प्रकृत में उसका उपयोग क्या है ?

‘जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द दोनों अपनी आत्मा आर अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण)
बनाकर उस व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि इन
नाम से अभिहित किया जाता है ॥ १३ ॥

सारावली

‘वाच्यार्थविमुखात्मना’ का अर्थ है—जिसकी आत्मा अर्थात् हृदय वाच्य अर्थ में विमुख
होता है अर्थात् जिन्हें वाच्य अर्थ में सन्तोष नहीं होता और सन्तोष न होने का कारण यही
होता है कि उनकी दृष्टि में अर्थ की विमानति वाच्यार्थ पर ही नहीं होती । वस्तुतः ‘सचे-
रसा’ की ही यह व्याख्या है । सहृदय बहते ही उसे हैं जिसकी दृष्टि वाच्यार्थ तक ही सीमित
नहीं रहती अपितु उससे परे भी उसके प्रतीयमान अर्थ को देखने में समर्थ हो जाती है । अब
यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि प्रतीयमान अर्थ का प्रतीय होना सहृदयों की ही विशेषता
है क्योंकि सहृदयों की ही व्यङ्ग्यार्थबोध होता है, जो सहृदय नहीं होने उन्हें उस अर्थ को
प्रतीति होती ही नहीं । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति सहृदयों
की ही विशेषता ठहरती है । इसीलिये ‘अवमासत्वे’ इस ऋषि का-प्रयोग किया गया है
इसका भाव यह है कि प्रतीयमान अर्थ का अवमास उसी काव्यग्रवण के साथ ही या उससे
बाद ही होता है और उसका आस्वादन भी उसी समय होता है । अतएव अन्वय व्यतिरेक
काव्य का भी बन जाता है । विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ रूप काव्य के होने पर ही
प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति और आस्वादन होते हैं और उनके न होने पर काव्यरसास्वादन
भी नहीं होता । इस प्रकार काव्यरसास्वादन के प्रति शब्दार्थरूप काव्य की भी कारणता
सिद्ध हो जाती है । सहृदय रसास्वादन में निमित्तकारणमात्र होता है । उपादानकारणता
शब्द और अर्थ का काव्य में ही रहती है ।

यहाँ पर केवल इतनी बात बही गई है शब्दार्थ वाक्यार्थ से तथा वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ से
एक-दूसरे में प्रतीति नहीं होती । यह नहीं समझना चाहिये कि वाच्यार्थ की विमुख प्रतीति
ही नहीं होती । इसलिये गृहीत उद्योत का ३३ वाँ कारिका में यह कहा जायेगा कि शब्द और
प्रतीति के इष्टान्त से व्यङ्ग्यार्थ के प्रतीतिकाल में भी वाच्यार्थ विपणित नहीं होता । इस प्रकार
इन दोनों सन्दर्भों का परस्पर विरोध नहीं है ।

छोचनम्

विकल्पामिधानं प्राधान्यामिप्रायेण । काव्यञ्च तद्विसेषयासी । काव्यस्य वा विशेष । काव्यप्रदणानुगुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्टपार्थ ध्वनिद्वयश्र आमे-
त्युक्तम् । तेनैवद्वित्वकान् श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहार स्यादिति । यच्चोक्तम्-
'चास्त्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यात्मा स्यादिति' तदप्यङ्गोक्तम् एव । नास्मि सत्त्वय
विवाद इति । यच्चोक्तम्—'कारण प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणा-
दपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति । तत्र शब्दार्थमयकाव्यामाभिधान-
प्रमात्रे क एष प्रमद्व इति न किञ्चिदेतन् । न इति । अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो
वा । अर्थापि वाच्यो वा ध्वननीति, शब्दोऽप्येवम् । शब्दो वा ध्वन्यत इति
व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकाया तु प्राधान्ये समुदाय एव
काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादिन् ।

विकल्पामिधानं तो प्राधान्य के अभिप्राय से है । काव्य तथा उसकी विशेषता अथवा काव्य की
विशेषता । काव्यप्रमाण से गुण और अलंकार से उन्नत शब्द और अर्थ की पीठ पर आनेवाला
ध्वनि लगाने वाला आना है वह कहा है । हमें यह निश्चय होना चाहिए कि 'श्रुतार्थापत्ति
में भी ध्वनि का व्यवहार हो आवे । और जो कहा है—'हो चास्त्व प्रतीति ही काव्य का
आत्मा हो जाने' उसे हम अङ्गीकार करते हैं । निम्नलिखित यह नाम में ही विवाद है और जो
बत रहा है—यदि चास्त्व की प्रतीति काव्य की आत्मा है तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से भी
होनेवाला (बत प्रतीति) वैसी (काव्य की आत्मा) हो जावेगी । उस पर (यह कहना है
कि) शब्दार्थमय काव्य की आत्मा के निरूपण के प्रमाण में यह प्रमद्व ही क्यों है ? हम
मकर बत करेंगे बत नहीं । स इति । अर्थ अथवा शब्द अथवा व्यापार । अर्थ भी वाच्य भी
(हो सकता है) 'जो ध्वनि कहता है' इस व्युत्पत्ति से, इस प्रकार शब्द भी । अथवा ध्वन्य
अर्थ 'ध्वनित' इस व्युत्पत्ति से अथवा शब्द और अर्थ का व्यापार 'ध्वननम्' इस व्युत्पत्ति
से । कारिका के द्वारा तो प्रधानतया काव्यरूप समुदाय का मुख्यरूप में ध्वनित होता है यह
प्रतिपादित किया है ।

तारावती

सारांश यह है कि वाच्यार्थ कारण है और अभिप्राय कार्य । कार्य प्रधान होता है और
कारण अग्रधान । कारण का सत्ता पड़ते होती है और कार्य की बाद में उत्पन्न पड़ते होने
के कारण वाच्यार्थ प्रधान है यह हेतुविक्रम हेतुमत्त का उदाहरण हो जाता है ॥११॥ १२॥

ध्वनि का परिचय कहना इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है । ११ वीं कारिका में ध्वनि
की परिभाषा दी गई है १२ वीं कारिका तक उसकी मूर्तिका तैयार का गई है । ध्वनि सिद्धान्त
को समझने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वाच्यव्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ का
'सद्भाव' समझ लिया जावे । 'सद्' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है—'सद्भावे, सधुभावे
व सदिधेयव्युत्पत्ते' अर्थात् सद् का अर्थ है सत्ता और सधुभाव । यहाँ पर दोनों अर्थों में

तारावती

तो ध्वनि का उपकारकमान होता है अतएव वह गुण अलङ्कार इत्यादि काव्य वा भाग ध्वनि का अङ्ग ही होता है अर्थात् अथवा प्रधान ध्वनि ही होती है। इसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जावेगा।

यहाँ पर आलोचकार ने एक परिवर्त श्लोक भी दिया है। परिवर्त शब्द का अर्थ है—परिकरोति प्रकृत्यावसिधाधानेनापकरोतीति 'परिकर' अर्थात् प्रकृत अर्थ में अधिकता का आधानकर जो उसका व्यवहार करता है उसे परिवर्त कहते हैं। परिवर्त के लिए अर्थात् कारिका के उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो अर्थ अपेक्षित होता है किन्तु कारिका में उसका करने नहीं किया गया होता उसका अथवा अर्थात् प्रक्षेप करने के लिये जो श्लोक होता है उसे परिवर्त श्लोक कहते हैं। यहाँ पर जो परिवर्त श्लोक लिखा गया है उसका आशय यह है—ध्वनि-व्यय और व्यङ्ग्य के सम्बन्ध से निरुद्ध होती है। अथवा वाच्य और वाचक के आधार पर होनेवाले गुण और अलङ्काररूप वाक्या के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है।

(यहाँ पर कहने का आशय यही है कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार में नहीं हो सकता। इस विषय में द्वितीय उद्योत की ५ वीं कारिका पर टोचन के ये विचार दृश्य हैं—कटक कैमूर इत्यादि यद्यपि शरीर से ही समवेत रहते हैं तथापि उनसे विभिन्न चित्तवृत्तियों के औचित्य की दृष्टि मिलती है अतएव चेतन आत्मा ही अलङ्कार्य होता है। वह इस प्रकार—कुण्डल इत्यादि से उद्येय भी भवगरीर अचेतन होने के कारण शाश्वत नहीं होता क्योंकि वहाँ अलङ्कार्य ही ही नहीं। कटक इत्यादि से कुछ अतिगरीर हास्यवाह हो जाता है क्योंकि अलङ्कार्य अनुचित है। गरीर का तो कुछ भी औचित्य नहीं होता अतएव कलुष आत्मा ही अलङ्कार्य होता है। क्योंकि यह अभिमान होता है कि मैं अलङ्कृत हूँ। सभी प्रकार पकावली में गुण और अलङ्कार में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रतिषेध किया गया है। स्वयं ने अलङ्कारसम्बन्ध में भी अभ्यर्थ की ही आत्मरूपता प्रतिपादित की है और उसपर अवरोध ने टीका करते हुए लिखा है—'गुणों के विषय में ये रसम्यादिना धर्मा और अलङ्कारों के विषय में 'वचकृत्स्नित तत्तत्' इत्यादि न ही अपनई गई है। इस प्रकार शब्दावरूप अङ्ग में अतिगता के आधान के द्वारा गुणों और अलङ्कारों की रसोपमाकरण होती है। रसानुरूप ध्वन्य अर्थ को अलङ्कार करनेवाले अलङ्कारों की अलङ्कारता मुख्य वृत्ति से हानी है। क्योंकि उनका निश्चयन अलङ्कारों की सत्ता के अधीन होता है क्योंकि अलङ्कार्य के रूप में स्थित रसाधारण ही ही प्रतिष्ठा की गई है। इत्यादि)

अभ्यर्थ का इति से अलङ्कार का प्रकार के होते हैं। एक तो वे अलङ्कार होते हैं जिनमें व्यङ्ग्य का अर्थ तथा सुन्दर प्रतीति होता है और दूसरे वे अलङ्कार होते हैं जिनमें व्यङ्ग्य की प्रतीति नहीं होती। ये अलङ्कार केवल व्यङ्ग्य का उपलब्ध करनेवाले होते हैं। यहाँ पर यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिन उपमा इत्यादि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य की विग्रह प्रतीति

लोचनम्

विमक्त इति । गुणादङ्गाराणां वाच्यवाचकभावमागत्वात् । अस्य च तदन्यस्यङ्गपक्षकभावमात्रावाप्त्यस्य तेष्वन्तर्भाव इति । अनन्यत्रभावो विषय-शब्दाय । एव तद्व्यतिरिक्त कोऽयं ध्वनिरिति निराकृतम् ।

विमक्त इति । गुण और अङ्गुली का प्राप्य वाच्यवाचकभाव है और इस का उससे निम्न अन्य-व्यङ्ग्यभाव हा सार होने के कारण इसका उनमें अन्तर्भाव नहीं होता । विषय शब्द का अर्थ है अन्यत्र न होना । इस प्रकार उससे निम्न यह ध्वनि क्या है, इसका निराकरण हो गया ।

सारावली

शब्दप्रमाणेदायो व्यक्तयदन्तरं नृप ।

अर्थस्य व्यङ्ग्यकवे तच्छब्दस्य सङ्कर्षिता ॥

(२) काव्य विशेष-इस शब्द में एक तो सनानशिकाप अर्थात् 'काव्य च विशेष्य' हमारा अभिप्राय अर्थात् 'काव्यस्य विशेष' । काव्य और उसका विशेषता अथवा काव्य की विशेषता ये दोनों अर्थ वहाँ पर हो सकते हैं । आसय यह है कि जिस ध्वनि का काव्य का अर्थ है वहाँ पर क्या है वह ऐसे शब्द और अर्थ की वीथ पर जाना चाहिये जिनमें गुण भी विद्यमान हो और अङ्गुली भी (तथा जिनमें रीतियों और वृत्तियों का अनुसरण किया गया हो) । काव्य विशेष शब्द के ग्रहण करने का यहो आशय है ।

कुछ छोटों का कहना है कि वहाँ पर अन्य प्रमाणों के द्वारा किसी अर्थ की प्रमा (पर्याप्तप्रमाण) हो जाने और वह किसी अर्थ की कल्पना के बिना वगैरह नहीं हो रहा हा तो इसकी वगैरह के छिद जिस अर्थान्तर की कल्पना की जाती है उसे अर्थान्तर कहते हैं । शब्द के अन्तर पर वहाँ इस प्रकार का वगैरह सम्भव का जाती है उसे अर्थान्तर कहते हैं । वह भीमानका का मत है । जैसे माता का देवदत्त दिन में नहीं सुना । न जाने और मोटे काज होने का सामान भिक्षु नही बन सकता क्योंकि जो सुवेग नहीं वह मन्त्र का होना कैसे देवदत्त की बनना से अर्थान्तर के द्वारा उसका रात्रिमोहन सिद्ध होता है । ध्वनिवृत्तियों के मत में वहाँ पर भी ध्वनि कही जावेगी । इस विषय में मेरा (लोचनम् का) उद्देश्य यह है कि अब हम काव्यविशेष की ध्वनि कहते हैं और काव्यविशेष का अर्थ है काव्य और उसकी विशेषता अथवा काव्य का विशेषता अर्थात् गुण और अङ्गुली से व्यक्त शब्द और अर्थ का अनुसरण करनेवाले काव्य की विशेषता हा ध्वनि कहलगा है और उसे ही काव्य की प्रमाण कहते हैं । इस प्रकार अर्थान्तर की सम्मिलित ध्वनि में कभी नही हो सकता ।

दूसरे छोटों ने कहा कि 'यदि ध्वनि का यही रूप है और शब्द काव्य का अर्थ मानते हैं तो उसका ही अर्थ यह हुआ कि वक्ता की प्रतीति ही काव्य की प्रमाण सिद्ध हो गई ।' मेरा निराकरण है कि वक्ता की प्रतीति ही काव्य की प्रमाण मानने में हमें कुछ अनुसरण नहीं है । यह मेरे केवल मनःकल्प का विषय है । यह अब उसे व्यक्तप्रमाण

छोचनम्

गुणीकृतत्वेति—आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यात । न चैतदिति । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम् । प्राधान्यञ्च यद्यपि प्रसी न चकास्ति 'बुद्धौ तत्त्वाव-
भासिन्यां' इति नयेनाखण्डचर्चणाविधान्ते, तथापि विवेचकैर्विधानेपने
क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थं पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरण-
त्वादेव । ततो वाच्यादेव तदुपसृताचमत्कारलाभ इति । यद्यपि पर्यन्ते
रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखोभवति
स्वातन्त्र्येणापि ॥ वाच्यमेवार्थं सस्कृत्तं प्रावर्ततीति गुणीभूतव्यङ्ग्यलोका ।

गुणीकृतानां में आत्मा शब्द से स्वशब्द के अर्थ की व्याख्या की गई है । नचैतदिति ।
अर्थात् व्यङ्ग्य का प्राधान्य । प्राधान्य यद्यपि एति (रसप्रतीति) के अक्षर पर प्रकाशित नहीं
होता क्योंकि कहा गया है कि 'तत्त्वावभासिनो बुद्धि में' इत्यादि नीति से अखण्ड पर्यन्त
में ही विधानि होती है, तथापि विवेचकों द्वारा जीवन का अन्वेषण किये जाने पर जब व्यङ्ग्य
अर्थ वाच्य का ही अनुप्राणन कर रहा होता है तब उसके उपकरण होने के कारण ही उसका
अलङ्कार सिद्ध होता है । तब उससे उपसृत हुये वाच्य में ही चमत्कार का लाभ होता है ।
यद्यपि पर्यन्त में रसध्वनि होती है तथापि मध्य कक्षा में निविष्ट वह व्यङ्ग्य अर्थ रसोन्मुख नहीं
होता स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ का ही सत्कार करने के लिये दौड़ता है, इस प्रकार हमकी
गुणभूता बही गई है ।

साराधती

अलङ्कार में जहाँ बही व्यङ्ग्यार्थ होता है वहाँ वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण स्थान का
अधिकारी होता है और ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है । यही व्यङ्ग्यनामूलक अलङ्कारों में
ध्वनि काव्य से भेद है । ऊपर 'कहा जा चुका है' इस वाक्य में मूकाल का प्रयोग किया
गया है इसका कारण यह है कि यह बात पिलखी कारिका में बही गई है । कारिका में 'स्व'
शब्द का प्रयोग किया गया था जिसकी व्याख्या वही आत्मा शब्द से की गई ।

यद्यपि रसान्वयन के अक्षर पर प्रधानता का पता नहीं चलता, क्योंकि पहले ही यह
छाया जा चुका है कि 'तत्त्वप्रतीति बुद्धि में' इस अर्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है जिसमें
किमी भी वाच्य का पर्यवसान अखण्ड चर्चणा में ही होता है । और उसमें पौरोषर्ष का कुछ
भी अनुभव नहीं होता तथापि जब विवेचक लोग वाच्य के जीवन का अन्वेषण करते हैं तब
तब हमें पता चलता है कि जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अनुप्राणित कला है वहाँ पर व्यङ्ग्य
के वाच्यार्थ के साधक होने के कारण समासोक्त इत्यादि अलङ्कार हुआ करता है । क्योंकि
वहाँ पर वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ से उपसृत होकर चमत्कार में कारण हुआ करता है । यद्यपि
पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है किन्तु वह व्यङ्ग्यार्थ मध्यकक्षा में सन्निविष्ट हो चुका होता
है । अतः वह रसध्वनि की सहायता के बिना उन्मुख नहीं हो सकता । किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक

ध्वन्यालोक

यदप्युक्तम्—प्रसिद्धप्रस्थानातिवर्तिनो मार्गस्थ काव्यस्वहानेध्वनि-
नास्ति' इति, तदप्युक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव न केवल न प्रसिद्ध, लक्ष्ये तु
परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाद्वाङ्कारि काव्यतरङ्गम् । ततोऽन्यच्चित्रमेवे-
त्यग्रे दर्शयिष्याम ।

(अनु०) जो यह भी वक्तृ गया या बि 'प्रसिद्ध प्रस्थान का अतिक्रमण करनेवाले मार्ग
में वाव्याव होता हा नहीं, भगवन् ध्वनि की सत्ता होती नहीं ' यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि
ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है तत्त्व परीक्षा करने पर वही सहृदयों के हृदय
को आनन्द देनेवाला काव्यतरङ्ग है । इसके अतिरिक्त अन्य सब चित्रकाव्य ही कहा जाता है,
यह भागे बहतर विर रत्नमया जावेगा ।

लोचनम्

लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकाराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतु । तत एव हि धारमेन
लक्षणीयता । लक्ष्ये स्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतु । यच्च नृत्तगीतादिकल्प ताकाव्यस्य
न किञ्चित् । चित्रमिति—विस्मयकृद्वाङ्कारादिवशात् न तु सहृदयामिलपणीय
चमत्कारसारसन्निभानन्दमयमित्यर्थ । काव्यानुकारिवाद्वा चित्रम्, आलोल
मात्रवाद्वा, कलामात्रवाद्वा । अत्र इति ।

प्रधानगुणभाषाम्या व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थितम् ।
द्विधा काव्य ततोन्वयचित्रमभिधीयते ।

इति नृत्तीयोषाते बह्वति ।

लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकारों में प्रसिद्ध होना विरुद्ध हेतु है । इसीलिये निम्नदेह भयन्न
पूर्वक लक्षण करना आवश्यक है । लक्ष्य में तो अप्रसिद्ध होना असिद्धहेतु है और जो नृत्तगीत
रत्नादि के समान हैं वही वाक्य वा कुछ नहीं होता । चित्रमिति । विस्मयकारक वृत्त (छन्द)
रत्नादि के कारण (चित्रवाक्य) सहृदयों के द्वारा अभिलषणीय चमत्कार सार रस के निम्नान्द
से युक्त नहीं होता । अथवा काव्य का अनुकरण करने के कारण चित्र कहलाता है या आलोल
मात्र होने के कारण या कलामात्र होने के कारण । अग्रे इति ।

'व्यङ्ग्य के प्रधान तथा गुण भाव से इस प्रकार दा प्रकार का काव्य व्यवस्थित है, उससे
भिन्न वा है यह चित्र कहा जाता है ।' यह सुवीच उद्योत में कहेंगे ।

धारावती

हो गया । आलोचकार ने विभक्त एव ध्वनेरिषय 'इति वाक्य में जो रिषय शब्द का प्रयोग
किया है उसका अर्थ है—'विनेनेन सिनोति ध्वन्यतीति रिषय' अर्थात् जो ध्वने सन्धिपी
पदार्थ को विनेत्र रूप से जानकर ले ले अर्थात् अन्यत्र न होना हो रिषय शब्द का अर्थ है ।
आचार्य यह है कि ध्वनि का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है उससे भिन्न स्थानों पर ध्वनि शब्द का
प्रयोग नहीं पाया जाता । अतएव ध्वनि अपना अनुपात रत्नादि से भिन्न है ।

लोचनम्

प्रमादुत्तम् । उपोदो राग सागध्योऽरणिमा प्रेम च येन । विलोहास्तरका
ज्योतीपि नेत्रविभागाश्च यत्र । तथेति । इत्थित्वेव प्रेमरमसेन च । गृहीतमा
मासित परिचुम्बितुमाश्रान्त च । निशाया मुख प्रारम्भो यदनकोरुनद चेति ।
यथेति । इदित्तिप्रहणेन प्रेमरमसेन च । तिमिर चाशुकाश्च सुस्मोशवस्तिमिरोमुक
रश्मिशवलीकृत तम पटश्च तिमिरोमुक नीलजातिका नयोदामोऽवपूचिता ।
रागाद्विजत्वात् सान्ध्यवृत्तादनन्तर प्रेमरूपाश्च हतो । पुरोऽपि पूर्वस्यां दिशि
अग्रे च गलित प्रशान्त पतित च । रात्र्या करणभूतया समस्त मिथितम्,
उपलक्षणत्वेन वा । न लक्षित रात्रिपारम्भोऽसाविति न ज्ञात, तिमिरसवस्ति-
शुद्धां हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते ननु इषुट आलोके । नायिकापथे
तु तपेति कर्तृपदम् । रात्रिपथे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तर । अत्र च
नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांगुकस्य गलन पतनम् । यदि
वा पुरोऽग्रे 'नायकेन तथा—गृहीत मुखमिति सम्बन्ध । तेनात्र व्यङ्ग्ये
प्रतापेऽपि न प्राधान्यम् । तथाहि—नायकव्यवहारे निशाशस्तिनाथेव शृङ्गार
विभावरूपौ सङ्कुर्वाणोऽलङ्कारां भजते, तत्पत्तु चान्याद्विभावभूतादसन्नि-
वमया कहा गया है । उपोद (परिपूद) राग अर्थात् साध्य अर्थात् प्रेम है जिसके
द्वारा विलोह (चयन) है तारक अर्थात् तारे अथवा नेत्रविभाग जिसमें । तथा अर्थात् शीघ्र
ही अथवा प्रेम की उत्पत्ति है । गृहीत अर्थात् प्रकाशित कर दिया अथवा चुम्बन के लिये
आकांक्ष कर दिया । निशा का मुख अर्थात् प्रारम्भ अथवा मुख कमल । यथा अर्थात् शीघ्र ही
प्रहण के द्वारा अथवा प्रेम की शीघ्रता से । तिमिर और अशुक अर्थात् सुस्म विरसे अर्थात्
विरस जाल से विभित किया हुआ तमपट अथवा तिमिरोमुक अर्थात् नरीदा मोटरधू के
योग नील जाटिका (नामगात्र में प्रसिद्ध नीलवर्ण का वस्त्र) 'रागात्' अर्थात् सान्ध्याकाल का
की हुई छाती के अनन्तर अथवा प्रेमरूप हस्त में । पुरोऽपि अर्थात् पूर्व दिशा में और आगे ।
'गलितम्' अर्थात् प्रशान्त अथवा पतित । 'तथा' अर्थात् करणभूतरात्रि के द्वारा मिलाया हुआ
अथवा उपलक्षण के रूप में । 'न लक्षित' यह रात्रि का प्रारम्भ है यह नहीं जान पाना । तिमिर
से संबन्धित विरसों का देखने से छोड़ के द्वारा रात्रिमुख है यह लक्षित कर दिया जाता है
इषुट आलोक में छँटा नहीं किया जा सकता । नायिका के पथ में 'तथा' यह कर्तृपद है,
रात्रिपथ में तो 'अपि' शब्द लक्षित इसके बाद आवेगा । वही पर पीछे से आये हुये नायक के
द्वारा चुम्बन के उपक्रम में सामने नीलांगुक का पतन अर्थात् गिरना । अथवा 'पुर' अर्थात्
'आगे नायक ने इस प्रकार मुख पकड़ लिया' यह सम्बन्ध है । इससे वही पर व्यंग्य की प्रतीति
में अश्रुपतता नहीं होती । यह इस प्रकार—नायक का व्यवहार शृङ्गाररस के विभाव रात्रि और
चन्द का हो सकार करते हुए अलङ्कारक का प्राप्त होता है और उससे विभाव रूप में रियत

ध्वन्यालोक

यदप्युक्तम्—'कामनायकमनविवर्तमानस्य तस्योक्तलङ्कारादिष्वेवान्तर्भाव' इति, तदप्यसमाचीनम्, वाच्यवाचकमात्राप्रयुक्तिं प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जक-समाप्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वने कथमन्तर्भावः ? वाच्यवाचकवाच्यहेतवो हि तस्याहमूना, स स्वस्तिरूप एवेतिप्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । परिकारश्लोकश्चात्र-

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने ।

वाच्यवाचकचारुबहस्वन्तपातिता कुत ॥

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि कमनायक का अन्तर्भाव नहीं करता अर्थात् ध्वनि के द्वारा कमनीयता की हो प्रतीति होती है अतएव ध्वनि का समावेश उक्त अलङ्कारों (निबन्धों) में ही हो जाता है' यह वचन भी समीचीन नहीं है । क्योंकि केवल वाच्य और वाचक का आश्रय लेनेवाले मसिद् काव्य प्रस्थान (गुण अलङ्कार इत्यादि मार्ग) में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के आश्रय से व्यवस्थित होनेवाली ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? यह भागे चलकर प्रतिपादित किया जावेगा कि वाच्य वाचक की चरित्रा में हेतु अलङ्कार इत्यादि उस ध्वनि के अङ्ग होते हैं और ध्वनि अङ्गी होता है । इस विषय में परिकार श्लोक भी है—

ध्वनि के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध के आश्रय होने के कारण वाच्यवाचकवाच्य हेतुओं (अलङ्कारान्वितों) में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

लोचनम्

परिकारार्थं कारिकार्यस्याधिकावाप कर्तुं श्लोकं परिकारश्लोकः ।

परिकार के लिये अर्थात् कारिका के अर्थ की अभिव्यक्ति को भाषा के लिये श्लोक परिकार श्लोक होता है ।

सारावली

प्रपन्नता होने से उन्हें हम विवक्ष्य कहते हैं । इस सबका विस्तृत विवेचन तीसरे उद्योत की ४१ वीं कारिका (प्रधानगुणमावाभा०) की व्याख्या के अवसर पर किया जावेगा ।

अब तीसरा पद लीजिए—इस लक्ष्य की कहना था कि यदि ध्वनि को वाच्यता का हेतु मान लें और वह वाच्य, अर्थ, गुण और अलङ्कारों के अन्तर्गत सिद्ध भी हो जावे तो भी ध्वनि तान की वर्य अतएव वस्तु सिद्ध नहीं हो सकता । ध्वनि भी वास्तविकताओं में एक है । अतएव वास्तविकता अलङ्कार गुण राशि और वृत्तिरूप मसिद् प्रस्थान में उसका भी समावेश कर देना चाहिये । किन्तु यह मन समीचीन नहीं है । मसिद् प्रस्थान तो केवल गन्ध और अर्थ का ही सदाग लेकर स्थित होता है उस स्थान में ध्वनि का समावेश कैसे हो सकता है जिसका आधार व्याप्यार्थ होता है और जिसमें पद वाच्य इत्यादि अनेक प्रकार के व्यञ्जकों का समावेश रहता है । जब आश्रय ही भिन्न है तब दोनों का व्यवस्थापन कैसे हो सकता है ? वास्तविकता तो यह है कि वाच्य और वाचक की वाच्यता में हेतु भी मसिद् प्रस्थान है वह

सारावर्ती

है। इस प्रकार सभी प्रतीयमान अथ अलंकार की कोटि में आ जाते हैं। इसीदृश्य को देखकर यही विचार किया जा रहा है।

वहसे समासोक्ति को ही से छोड़िये। समासोक्ति का अर्थ है सगुणवचन। सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का ध्यान किया जाता है। किन्तु अब एक ही कहना दोनों का काम चलाया जाता है जब उक्ति को सदासि बनने के कारण उसे समासोक्ति कहते हैं। रामचंद्र ने समासोक्ति का उल्लेख इस प्रकार किया है— 'जिस वचन में समान विधेयों के कारण अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे अर्थ के सगुण बनने के कारण विद्वान् उक्त समासोक्ति कहते हैं। इस परिभाषा में चार चरणों में उल्लेख की चार बातें बताई गई हैं। 'जिस वचन में अन्य अर्थ की प्रतीति हो यह उल्लेख का स्वरूप बताया गया है। समान विधेयों के होने से यह हेतु है। 'यह समासोक्ति कही जाती है यह नाम और 'अर्थ के सगुण होने के कारण' यह समासोक्ति शब्द की व्युत्पत्ति है। समासोक्ति में प्रस्तुत का वचन के ही शब्दों में किया जाता है जिसमें एक दूसरा अप्रस्तुत अर्थ इन अवभासित होने लगता है और उस प्रतीयमान अप्रस्तुत अर्थ के साथ प्रस्तुत अर्थ का उपमानोपमेय भाव बन जाता है। इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने समासोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है —

समासोक्तिः सदैवैव कावलिङ्गविधेयौ।

व्यवहारसमासात् प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन ॥२०॥७४॥

अर्थात् जहाँ पर समान कार्य, लिङ्ग अथवा विभावों से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का अयोग किया जाता है उसे समासोक्ति कहते हैं।

समास कि का जो उदाहरण दिया गया है उसका गणानुसार यह है —

'परिवृद्धरागाले चन्द्र ने विहालरागाले निगामुख का इस प्रकार पकड़ लिया कि बससे मिटाया हुआ पुरत गलित हुआ भी, निमिरांशुक उससे छिन्न न किया जा सका।'

यहाँ पर परिवृद्धराग, विमोह ताराओंवाले, इस प्रकार, पकड़ लिया, निगामुख कि (यवा) निमिरांशुक पुरत रागवत्, गलित हुआ और उससे छिन्न न किया जा सका इन शब्दों का कुछ ऐसे दृग् से प्रयोग हुआ है कि इनमें नावकनाविका का काव्य व्यवहार भी अवभासित होने लगता है। (१) राग का अर्थ है सत्त्वा की टाटो और मन। (२) विहाल ताराओंवाले का अर्थ है जिसमें नग्न टिमटिमा रह है और जिसकी पुतलियाँ सम्भोग की उच्छ्वास में चञ्चल हो गई हैं। (३) इस प्रकार का अर्थ है नीच और मन के आगे में भटक। (४) पकड़ लिया का अर्थ है पकड़ित कर लिया और चुम्बन के छिप्ने आकाश कर दिया। (५) निगामुख में मुख का अर्थ है मारग और मुखमण्डल (६) कि का अर्थ है नीच पकड़ लेने से और मन की उच्छ्वास से। (७) निमिरांशुक का अर्थ है मृग किरणों से सञ्चित तम पटल और निमिरांशुक अथवा नय जाँटवा नाम का कामनाम्न में प्रतिद पकड़ पकड़ जाँट और नवादा के परिधान के रूप में होता है। (८) पुरत का अर्थ है पूर्व

ध्वन्यालोकः.

ननु यत्र प्रतीयमानस्वार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मामूद्ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्ता-पद्धतिदीपकमङ्गलद्वारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तु-ममिहितम्—‘उपसर्जनीकृतस्वार्थो’ इति । अर्थो गुणोक्त्यात्मा गुणोक्त्यामिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यजन्ति स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति ।

(अनु०) जिन अलङ्कार इत्यादिको में प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती हम नहीं कहते कि वे अलङ्कार शब्दादि ध्वनि का विषय हो सकते हैं किन्तु वहाँ पर प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होता है जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेयोक्ति, पर्यायोक्त, अपङ्गुति, दीपक और सङ्कट इत्यादि अलङ्कारों में, वहाँ पर ध्वनि का अन्तर्भाव हो जावेगा । इसी का निराकरण करने के लिये कहा गया ‘उपसर्जनीकृतस्वार्थो’ । जहाँ अर्थ अपने स्वरूप की ओर शब्द अपने वाच्यार्थ की ओर बनाकर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है वह ध्वनि होती है । अतएव उन (वाच्यप्रधान) अलङ्कारों में (व्यङ्ग्यप्रधान) ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? निस्तन्त्रेह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रगटता होती है । किन्तु वह वाच्य समासोक्ति इत्यादि में होती नहीं ।

लोचनम्

यत्रोपलङ्कारः । वैशद्येनेति । चारुतया सुकृतया चेत्यर्थः । अमिहितमिति भूतप्रयोग आदौ व्यङ्ग्य इत्यस्य व्याख्यातत्वात् ।

यत्र वा अर्थ है अलङ्कार में । वैशद्येन का अर्थ है चारुता तथा सुकृता के साथ । ‘अमि-हितम्’ में भूतकाल का प्रयोग पहले ‘व्यङ्ग्य’ का व्याख्या किये जाने के कारण (किया गया है ।)

सारावली

नहीं होगी, हम नहीं कहते कि उन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव मूल निदा चाहे । किन्तु जिन अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्त-निमित्त विशेयोक्ति, पर्यायोक्त, अपङ्गुति, दीपक सङ्कट इत्यादि । इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव सङ्कटापूर्वक किया जा सकता है । मरानिषेदन है कि शब्दों के निराकरण के चरित्र से कहा जा चुका है कि जहाँ पर अर्थ अपना शब्द दोनों अर्थों आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन (गुण) बना देता है -- ‘‘ जहाँ पर ध्वनि होती है । ‘‘ अर्थ अपनी आत्मा को गुण बना देता है और शब्द अपने अर्थ को गुण बना देता है, इस अवस्था में अर्थ अपना शब्द दूसरे अर्थ का अभिव्यक्त करता है तब उसे ध्वनि कहते हैं । ऐसी दशा में अल-ङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

धारावती

'देखना' विद्या के प्रति कर्ता हो सकना असम्भव है। इस प्रकार यहाँ पर शब्द (अभिधावृत्ति) के द्वारा ही नायक का व्यवहार मतीय होता है। अतः नायक का व्यवहार भी अभिधावृत्ति गम्य ही है। नायक का व्यवहार नयन नहीं है। इसीलिये यहाँ पर समासोक्ति मानो जाती है। "किन्तु यह यथन ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की व्याख्या करनेवालों ने तो इस श्रम के अन्तर्गत ही छोड़ दिया कि 'समासोक्ति के उदाहरण 'उरोरारणेय' इत्यादि पद्य में व्याख्यान के द्वारा अनुपम हावर वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। यदि रात्रि को कर्ता मानकर वाच्यार्थ से ही नयनवाचिद्वयक अर्थ की प्रतीति मानो जायेगी तो यह एकदेशविवृति रूपक हो जायेगा, समासोक्ति का उदाहरण नहीं हो सकेगा। जैसे शब्द 'स' द्वारा ही रात्रिहस्त से सरोवरकूपी राधाश्री पर वायु की आ रही थी' इस वाक्य में 'सरोवरकूपी राधा' कहने से शब्द को चामरप्रदिष्टि और रात्रिहस्त को चामर मान लिया जाता है। इस प्रकार पद्य एकदेशविवृति रूपक का उदाहरण हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य में भी भिन्न पर अनुकूल का आरोप करने के कारण शेष नायक इत्यादि का व्यवहार एकदेशविवृति रूपक हो जाता है। क्योंकि फिर आरोप में विशेषणों की तुल्यता हेतु नहीं रहनी। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि जब 'समासोक्ति' के मातृकारण में ही उक्ति शब्द का गण्य है तब दूसरा अर्थ उक्त हो होना चाहिये नयन से ही सक्ता है। इसका उत्तर यह है कि नाम में उक्त शब्द मनुष्य अर्थ का अभिव्यक्ति का बोधक है, अपरानुव अर्थ तो व्यंग्य ही रहता है। इसलिये प्रामाण्य ने समासोक्ति का स्मरण करते हुए मनुष्य के लिये 'उत्ती' शब्द का प्रयोग किया है और अपरानुव के लिये 'अन्वोऽप्यो गम्यते' यह लिखा है। गम्यते इस विद्या के प्रयोग सामर्थ्य से ही अपरानुव अर्थ की अभिव्यक्ति का निराकरण हो जाता है।

आलोचक ने उदाहरण की व्याख्या करते हुये 'नादिशानावर-व्यवहारयो' इस शब्द का प्रयोग किया है। 'नायकानायक' में द्वन्द्व समास है और 'पुमान् कृषा' इस पाणनि सूत्र से यहाँ पर एकण्य हो जाता चाहिये। किन्तु यहाँ पर एकक एकक अर्थ दिया जाता है— नायिका का नायक में आ व्यवहार है वह निगा पर आरोपित कर दिया गया है और न विद्या के प्रति नायक का भी व्यवहार है उसका चन्द्र पर आरोप कर दिया गया है। इस प्रकार की व्याख्या करने पर एकण्य लागू नहीं होता। (इस विषय में पण्डित राम ने लिखा है कि 'निशामुने सुवर्त चन्द्रकेश' 'अहर्मुने सुवर्त चन्द्रकेश' इत्यादि वाक्यों में यहाँ स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग का निर्देश नहीं होता बल्कि नायक और नायक का व्यवहार हो रहा नहीं सकता। प्रकृत में तो स्त्रीलिङ्ग वाचक शब्द और प्रथमा के द्वारा प्रत्यक्ष ही स्त्री और पुरुष ही स्थापित करने में ही नायक और नायिका की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस निगा और शब्दों में नायकत्व इत्यादि की सिद्धि स्पष्ट विशेषणों के बल पर होती है। शक्ति का निरूपण भी प्रकृत इत्यादि के द्वारा ही हो जाता है अर्थात् अपरानुव अर्थ का वाचन व्यवहारात्मक से हो जाता है इस प्रकार व्यवहारा के माहात्म्य से ही अपरानुव वाच्यार्थ के

ध्वन्यालोक

समामोक्षी तावत्—

उपोदरागेय विलोलतारक, तथा गृहीत शशिना निशामुत्तम् ।

यथा समस्त तिमिराशुक्ल तथा पुरोऽपि रागाद् गञ्जित न लक्षितम् ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगत वाच्यमव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपित ।
नायिकायायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ॥

(अनु०) समसोक्ति में ॥ —

‘परिपूरा राग (लाठी अथवा प्रेम) से परिपूरा चन्द्र ने विलोल ताराओं (नन्गों अथवा पुच्छियों) वाले रजनी के मुँह (आत्म्य अर्थात् प्रदेव अथवा मुँह) इस प्रकार पकड़ लिया कि रागवत् (लाठी के कारण अथवा प्रेम के कारण) उसका (नायिकारूपी रात्रि का) तिमिर रूपी वस्त्र सामने ही गिर गया किन्तु वह जान भी न सकी ।’

इत्यादि चारों में व्यङ्ग्य से अनुगत होकर प्रधानतया वाच्यार्थ को ही मन लि होती है । क्योंकि यहाँ पर वाच्यवाचि तथा चन्द्रतारक ही है जिन पर नन्ग और नायिका के व्यवहार का आरोप कर लिया गया है ।

छोचनम्

समासोक्ताविति ।

यत्राक्षौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणे ।

सा समासोक्तिरुदिता सक्षिसार्थतया कुपै ॥

इत्थं समासोक्तैर्लक्षणस्वरूप इतुर्नाम तद्विबंचनमिति यादृचनुदयेन समामोक्षविति । ‘जिस उक्ति में उसके समान विशेषों के आधार पर अन्य अर्थ अलग होता है, सँगत अर्थ होने पर विद्वान् लोग उसे समासोक्ति कहते हैं ।’

यहाँ पर समासोक्ति का रचना स्वरूप, हेतु, नाम और समका निर्बचन वह चार चारों में

तारावती

वाच्यार्थ के लक्ष्य की ओर ही दीक्षा है । इस प्रकार अनुरागों में जाने बाठा व्यङ्ग्यार्थ गुणमूल व्यङ्ग्य की सीमा में आता है, ध्वनि वाच्य के क्षेत्र में नहीं आता । इस विषय में रसगङ्गाधरकार का कहना है कि ‘ध्वनिकार से पहले मानह मद्योद्भूत इत्यादि ने ध्वनि गुणी मूलभूत इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, केवल इनसे ही यह सिद्ध नहीं होता कि उन वाच्यों को ध्वनिसिद्धान्त मान्य नहीं है । क्योंकि कितने ही गुणमूलव्यास के भेद तो सनातनिक, व्यावस्तुति, अजगुत्पत्ता इत्यादि से गण्य हो जाते हैं और त्रिजना व्यङ्ग्यपरक है वह परंपदोक की कृति में निहित हो जाता है । अनुभव सिद्ध अब का अरुण कोर्द बानक भी नहीं कर सकता । उनसे ध्वनि शब्द का व्यवहार न करने से ही उक्तका अनङ्गीकार व्यक्त

लोचनम्

भो भोः किं किमकाण्ड एव पठितस्त्वं पान्थ कान्या गति-

स्तत्ताटवृत्तस्य मे त्वलमतिः सोऽयं जलं गृहते ।

अस्थानोपनतमकालसुखं नृणां प्रतिमृष्य भोः

त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गं पुनर्मार्गः ॥

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्त प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रयाशा-
विश्रम्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते । तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण
वाच्यस्यैवात्मरूपमेवातद्वैषम्यतत्त्वतोद्देशात्मनः । सान्तरसंस्थाविभूतनिवेद-
विभावरूपतया चमत्कृतित्वादिष्वम् ।

‘हे हे पान्थ ! बिना ही अवसर तथा स्थान के क्यों गिर गये हो ? इस प्रकार प्यासे मुझ-
जैसे के लिये और सहारा ही क्या है ? किन्तु यह दुष्टबुद्धिवाला अपने सड़ों को छिगाता
जाता है । बिना स्थान के आई हुई तथा बिना अवसर के झुलम इस पृष्ठा के प्रति क्रोध
करो, तीनों छोकों में प्रसिद्ध अपने अभाव की महिमावाला यह मार्ग तो मर देश का है ।’

वहाँ पर कोई आया हुआ सेवक ‘रसते मासम्भ को मैं क्यों प्राप्त नहीं कर रहा हूँ’ इस
प्रत्याशा से विशीर्षमाणहृदय होकर किसी के द्वारा इस आक्षेप से समझाया जा रहा है ।
सतमें निषेधात्मक आक्षेप द्वारा असह्य पुरुष सेवा और उसके वैकल्प से अल्पत्र दुष्टे बड़ेगात्मक
वाच्यता ही सान्तरस के स्थायित्व निवेद की विभावरूपता होने के कारण चमत्कृति-
वादिष्व है ।

पारावतो

(‘अव्ययम्’) विशेष कार्य के प्रतिगहन की वृद्धा से वहाँ कवन के लिए कमीष्ट का निषेध
जैसा कर दिया जाये उसे आक्षेप कहते हैं । वह दो प्रकार का होता है वक्षमाण (अनुक्त)
विषय और उक्त विषय : वक्षमाण (अनुक्त) विषय का उदाहरण जैसे मर्यादोगुप्त शिवदम
से कोई नाबिका यह रही है—

‘यदि मैं तुम्हें क्षण भर भी न देखूँ तो वाक्यता के कारण “” अथवा इतना ही रहने
दो, मैं तुमसे अधिक बाले क्यों बहूँ ।’

वहाँ पर ‘यदि मैं तुम्हें न देखूँ तो मर जाऊँ’ यह कहना अशोभ था, किन्तु ‘रहने दो,
मैं तुमसे अधिक बाले क्यों बहूँ’ यहकर उसकी व्यग्रता की गई है । व्यंग्यार्थ ‘मर जाऊँ’
की अपेक्षा वाच्यार्थ ‘क्यों बहूँ’ में अधिक सौन्दर्य है । व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को अत्यन्तमात्र
करता है, आश्वयत्न में निमित्त वाच्यार्थ ही होता है । अतः वहाँ पर व्यंग्यार्थ ध्वनि के क्षण
से बाहर हो जाता है और आक्षेप अटल्यार कहा जाता है । उक्त विषय आक्षेप का उदाहरण
जैसे भेदा ही (अमिनवगुप्त का ही) पद्य—

‘कोई सेवक किसी रानी की सेवा में सत्पन्न है जो कि जन इत्यादि देने में बरा
ही रूपण है । दूसरा व्यक्ति समझाते हुए वृत्त की सेवा से वृद्ध होने का निर्देश कर
रहा है —)

लोचनम्

स्यन्द । यस्तु व्याचष्टे—‘तथा निशयेति कर्तृपद, न चाचेतनाया कर्तृत्वमुप-
पन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उच्चातोऽभिधेय एव न व्यङ्ग्ये इत्यत एव
समासोक्तिः, इति । स प्रकृतमव ग्रन्थार्थमव्यजद्व्यङ्ग्येनानगतमिति । एक
देशविवर्ति चेत्यर्थः रूपक स्यात्, ‘राजहमैरवीज्यन्त शरदैव सरोजपा’ इतिवत् ।
न तु समासोक्तिः, तुल्यविशेषणामात्रात् । गम्यत इति चानेनाभिधान्यापार
निरासादिफलमवान्तरेण बहुना । नायिकाया नायकयो व्यवहारः स निशायां
समारोपितः, नायिकाया नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति
व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः ।

वाच्य से रस प्रवाहित हुआ है । जिसने तो वह व्याख्या की—‘तथा’ अर्थात् निशा के द्वारा
वह कर्तृपद है, अचेतन रावि का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता इस प्रकार शब्द से ही नायक
के व्यवहार का उल्लेख होता है अतः वह अभिधेय ही है व्यङ्ग्य नहीं इसी से यहाँ पर
समासोक्ति है । उसने तो ‘व्याचष्टे’ से अनुगत इस प्रश्न का जो ही छोड़ दिया । इस प्रकार
ता प्रकृतमविवर्ति रूपक ही आवेगा । जैसे—सरावरस्य मृगो पर शरत् ही राजहमो से
पता चल रही थी । समासोक्ति तो नहीं होगी क्योंकि तुल्य विशेषण नहीं है । गम्यते इस
(मानह के) शब्द के द्वारा ही अभिधान्यापार का निराकरण हो जाता है । अतः, अवान्तर
बहुन विस्तार की क्या आवश्यकता ? नायिका का नायक में जो व्यवहार है वह निशा में
आरोपित कर लिया गया है, नायिका में नायक का जो व्यवहार है वह चन्द्रमा में आरोपित
कर लिया गया है । इस प्रकार अवशेष का प्रसङ्ग नहीं आता ।

सारावली

नहीं होता । वह दूसरा विचार है कि अलङ्कार ध्वनि माधान्य के कारण पर्यायोक्त की श्रुति
में कैसे निविष्ट हो सकता है ? कस्य ने अलङ्कार सवर में भी लिखा है कि ‘पुराने आचार्य
प्रतीयमान अर्थ की वाच्योपकारक होने के कारण अलङ्कारपञ्चनिमित्त ही मानते हैं । पर्यायोक्त
शब्दादि में प्रतीयमान वस्तु के दो भेद विद्ये गये हैं—‘एतत्सिद्धये पराक्षरे परार्थ स्वसमर्पणम्’
चन्द्र में भी भावानुसार दो ही प्रकार का माना है । रूपक शब्दादि में अपना वाच्योपकारक
होती है । उल्लेख प्रतीयमाना वही ही गत है । रसवत् शब्दादि में रस भाव शब्दादि को
वाच्योपकारक कहा ही गया है । इस प्रकार तीन ही प्रतीयमान अर्थ अलङ्कार हो सकते
हैं । प्रविष्टार-दुरात्र ने उल्लेखपञ्चाली का मत बहुत ही विवाद रूप में प्रस्तुत किया है ।
उभयान्न यह है कि जहाँ प्रतीयमानवस्तु वाच्योपकारक होती है वहाँ तो वह अलङ्कार
होती ही है अर्थात् वह प्रधान भी होती है वहाँ भाषा के सौन्दर्य में हानि होने के कारण
अलङ्कार नहीं जा सकती है । प्रतीयमान अलङ्कार या तो पर्यायोक्त से गतार्थ हो जाते हैं या
उनकी प्रतीयमानता भी स्वीकार की जा सकती है । प्रधानीय रसादि की प्रतीयमानता में
रसवत् शब्दादि अलङ्कार बड़े गये हैं और उनकी गीयता में उदात्त अलङ्कार बतलाया गया

लोचनम्

धामनस्य तु 'उपमानाक्षेप' इत्याक्षेपेच्छनम् । उपमानस्य चन्द्रादेता-
क्षेप । अस्मिन् सति किं स्वया हृत्पमिति । यथा—

तस्यास्तम्बमुत्तमस्ति सौम्यसुमग किं पार्वणेनेन्दुना ।
सौन्दर्यस्य यद् दृशौ यदि चतैः किं नाम नोलोत्पलैः ।
किं वा कोमलकान्तिमि किमक्षयैः सत्येव तत्राधरे
ही धानु पुनरुज्ज्वलस्तुरचनारम्भेत्पूर्वो ग्रह ॥

धामन का तो 'उपमान' के अक्षेप का आशय बहुत है। यह लक्षण है। उपमान चन्द्र
इत्यादि का अक्षेप होता है। 'इसने हाथे हुये तुम्हारा क्या काम?' इस प्रकार। जैसे—

'उसका वह सौम्य तथा सुन्दर मुख विद्यमान है ही फिर पूर्णिमा व चन्द्र की क्या
आवश्यकता? सौन्दर्य का स्थान यदि व दोनों नेत्र हैं ही फिर उन लीलोत्पला की
आवश्यकता हा क्या? उस अक्षर के होते हुये कोमल कान्तिवाले किमलपों की क्या
आवश्यकता। आश्चर्य तथा खेद है कि अज्ञा की का आग्रह पुनरुक्त वस्तुओं के रचनाक्रम में
अपूर्ण ही है।'

तादावर्ती

यह निषेध विधिराहित है। इस प्रकार यहाँ पर अक्षेप अलङ्कार है। यहाँ पर दूसरा अलङ्कार
अपस्तुतप्रमत्ता भी हो सकता है। जब इन दोनों का यहाँ पर संघट्ट है। (कव्यक के
अलङ्कारमर्षस्थ पर विमर्शनी नामक टीका में अवश्य न लिखा है—'यहाँ पर स्वयम् अनुपलब्ध
होने के कारण अत्रिग्रन्थ होकर निषेध विधि के अर्थ में करने को समर्पित कर दिया है। इस
प्रकार हमका लक्षणालङ्कार सिद्ध हो गई या कि 'परायण इतिमर्षण' के रूप में कहो गई
है। जैसा कि किसी न आशेप का लक्षण दिया है —

यत्र भवमविज्ञाने परार्थे स्वतन्त्रमप्यम् ।

बुद्धेऽस्मी त आशेपो निषेधमैव मासतम् ॥

ज्ञानाय ने आशेप में वर तब वल्लभ है—'इस कार्य, उसका निषेध, वमकी भी
अवचना और मर्षण विधेय का प्रतिपादन। हमने आशेप में न निषेध की विधि होती है,
न विहित का निषेध होता है, अर्थात् असत्य निषेध से विधि के अतिरिक्त होने के कारण आशेप
होता है। यह आशेप मौखिक शब्द है।)

यह तो हुई मामद के मत में आशेप अलङ्कार की बात। धामन उपमान के आशेप करने
को आशेप अलङ्कार मानते हैं। किन्तु यह बात बड़ी ग़ाली है कि अमुक वस्तु (उपमेय) के
होत्र हुए तुम्हारा (उपमान वा) क्या काम? उसका उदाहरण यह होगा —

'सौन्दर्य और सौभाग्य से युक्त उसका वह मुख विद्यमान हो है फिर पूर्णिमा के पद
की क्या आवश्यकता यदि सौन्दर्य का स्थान के दोनों नेत्र उभियत हो है फिर उन प्रसिद्ध
लीलोत्पलों की क्या आवश्यकता? उस अक्षर के हाथ हुये भी कोमल कान्तिवाले किमलपों

सारावली

दिशा में और आगे ही । (९) रागवत्स का अर्थ है—सन्ध्या की छाठी ॥ बाद में (क्योंकि सन्ध्या की छाठी के अवसर पर ही अन्धकार नष्ट नहीं हो जाता वह उसके बाद में नष्ट होता है) और मेम के कारण । (१०) गलित का अर्थ है शान्त हुआ और गिर गया । (११) 'उससे' (वहा) में रात्रि के पक्ष में या सों करण में चुतीया है या अलक्षण में । (शब्दभूत शब्दों २११२१) इस वाचिनि सूत्र से जिसके द्वारा कोई वस्तु लक्षित की जा सकती है उसमें चुतीया हो जाती है । इस प्रकार रात्रि के पक्ष में 'उससे' लक्षित नहीं किया गया का अर्थ होगा कि सप्ताह यह भी नहीं समझ सका कि अन्धकार गलित हो गया है क्योंकि अन्धकार से मिट्टी हुई किरणों को देखकर सप्ताह रात्रिमुख को समझ जाता है किन्तु आलोक के छुट प्रकट होने पर नहीं समझ पाता । नायिका के पक्ष में 'उससे' यह चुतीया विमर्शिता में मानी जायेगी । अन्वय इस पक्ष में 'उससे' लक्षित नहीं किया जा सका का अर्थ होगा कि नायिका ने नहीं जान पाया कि उसका बख छूट कर गिर गया है 'मी' । शब्द का अन्वय रात्रि के पक्ष में 'लक्षित किया जा सका' के साथ होगा अर्थात् छोक ने जान भी नहीं पाया, नायिका के पक्ष में इसका अन्वय 'गलित हुआ' के साथ होगा अर्थात् नायिका ने गिरे हुए बख को भी नहीं जान पाया । इसी नायिका के पक्ष में 'पर' का भी दो प्रकार से अन्वय लय सकता है—'पीछे से आगे हुये नायक ने जब चुम्बन का उपाय किया तो नायिका का मोटा घुस 'सामने ही' छूटकर गिर गया ।' अथवा 'नायक' ने 'सामने ही' मुखको पकड़ लिया । यदि इन दोनों मतभेद और मतभेद प्रयोगों का उपमानोपमेयभाव कल्पित किया जावे तो पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—'जिस प्रकार कोई नायक प्रेयोमत्त होकर पीछे से (अथवा सामने से) आकर चुम्बन करने के छिये किसी नायिका का मुख छूटा से, उस समय नायिका के नेत्रों की पुतली पल्लव हो जायें, उसका विमर्शमुख पूर्णरूप से छूटकर गिर जावे और वह छुटे हुये बख को भी न जान सके, वही प्रकार छाठी से परकर चन्द्र ने रात्रि के प्रारम्भ को प्रकाशित कर दिया, उस समय मन्त्र टिमटिमा रहे थे, रात्रि के कारण किरणों के आक के साथ जो लज्जित सम्बलित हो रहा था वह भी शान्त हो गया, किरणों के सम परलसम्बलित होनेपर जो लोग जान सकते थे कि यह निशामुख है किन्तु चन्द्रमा के प्रकाश से रात्रि के अगमना रुकने पर कोई जान भी न सका कि यह निशामुख है ।' इस प्रकार यहाँ पर व्यर्थार्थ मन्त्रित होकर भी प्रमाण नहीं बन सका । कारण यह है कि वहाँ पर सन्ध्या अर्थ विषय है । चन्द्र और निशा शब्दाद इस के विभाव हैं । उपर नायक और नायिका के वृत्तान्त का आरोप कर लिया गया है । इस प्रकार नायक-नायिकापरक व्यर्थार्थ चन्द्रनिशारक वाच्यार्थ का संस्कार करते हुये अलंकारकृष्ण को चरण पर लेता है उसके बाद विभाव रूप में रिक्त शब्दार्थ से ही रस प्रकटित होता है ।

कुछ लोगों ने (सम्भवतः चन्द्रिकाकार ने) इस सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार की है—
 "रात्रि के पक्ष में भी 'उससे' मिटाया हुआ विमर्शमुख रागवत्स पुनः गलित हुआ भी लक्षित न किया जा सका' यह कर्तृपरक अर्थ ही करना चाहिये । रात्रि अचेतन है, अतः उसका

ध्वन्यालोकः

यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तपुरस्सरः ।

अहो दैवगतिः कीदृज्यापि न समागमः ॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चाद्यवमुरक्यवदिति तस्यैव-
प्राधान्यविवक्षा ।

(अनु०) जैसे—सन्ध्या अनुरागवती है और दिवस उसके आगे चटनेवाला है ।
आश्चर्य है वह वैसी दैवगति कि फिर भी समागम नहीं होता ।’

यहाँ पर यद्यपि व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है । तथापि वाच्य की वास्तव ही वस्तु का
व्याख्यान करनेवाली है । अतएव यहाँ पर वाच्यार्थ की ही प्रधानता निश्चित है ।

छोपनम्

अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—अनुरागवतीति । तेनाक्षेपप्रमेयसमर्पणमेवा-
परिसमाप्तमिति अन्तर्गम्यम् । तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिद्व्यलोकः पठितः ।

इसी में प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—अनुरागवती इत्यादि । इससे आक्षेप के प्रमेय का
समर्पण ही परिसमाप्त नहीं हो पाया है वह मानना चाहिये । यहाँ पर अरहरण के रूप में
समासोक्ति का श्लोक पढ़ा गया है ।

तारावती

(उपमान) की रचना क्यों की गई, यह कहकर जो उपमान आशित किया जाता हैवह
उपमान के प्रतिबलवती उपमेय होने के कारण प्रतीत अलङ्कार कहा जायेगा ।’ अतएव काव्य
प्रकाशकार के मत में यहाँ पर प्रतीत अलङ्कार होगा आक्षेप नहीं ।)

वामन के ‘उपमानाक्षेप’ का वह भी अर्थ हो सकता है कि जहाँ पर उपमान का आक्षेप
किया जावे अथवा उपमान की सींचकर निकट लाया जावे । जैसे —

‘अपने श्वेत वर्ण के मेघों में (अथवा गोरे रंग के सत्यों में) घावे मल्लगत के समान
इन्द्रधनुष को बारण किये हुए और कलह से युक्त चन्द्र को मस्तक करती हुई बारण चन्द्र ने
सूर्य के साथ को और अधिक बढ़ा दिया ।’

यहाँ पर सूर्य के ठिये ईर्ष्याकृतित किसी दूसरे नयक का उपमान आशित कर दिया
गया है और बारण के ठिये पुष्पली नायिका के उपमान का आक्षेप कर दिया गया है ।
आशय यह है कि बारण काल में श्वेत बारणों में इन्द्रधनुष की रेखा पका हुई ऐसी शोभित
हो रही थी जैसे किसी नायिका के गौरवर्ण के सत्यों में लगी हुई शानी नखरेखा हो । उस
बारण काल ने चन्द्र को अत्यन्त प्रसन्न (निर्मल) बना दिया था जैसे कोई नायिका किसी
कलहूरी (व्यभिचारी) कानी को आनन्द दे रही हो । उस काल में सूर्य की गर्मी बहुत बढ़
गई जैसे कोई दूसरा नयक वह देखकर सन्तप्त हो जाता है कि उसकी मेवसी किसी दूमे

ध्वन्यालोक

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाधिकेऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव जायते । तथा हि—नत्र शब्दोपासुदो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेप स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्यया. प्राधान्यविवक्षा ।

(अनु०) आक्षेप में भी यद्यपि वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ विशेष वा आक्षेप कर दिया जाता है, तथापि चारुता वाच्यार्थ में ही होती है क्योंकि प्रधान वाक्यार्थ की पूर्ति आशित उक्ति की शक्ति से ही हुआ करती है । वह इस प्रकार विशेष रूप से जिस बात के कहने की इच्छा की गई हो और शब्द के द्वारा उसका प्रतिषेध रूप आक्षेप कर दिया जाये ता वह एक विशेष व्यङ्ग्यार्थ को आशित कर मुख्य रूप से काव्यशरीर (आरव'द का रस्य) बन जावेगा । निरसन्देह वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता उसी की मानी जाती है जो सौन्दर्य में कारण हो ।

लोचनम्

आक्षेप इति ।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधेस्तथा ।

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

तत्रागो यथा—

अहं त्वा यदि नेक्षेयं क्षयमप्युरमुका तत ।

इषदेवास्त्वतोऽभ्येन किमुत्तेनाप्रियेण ते ॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधार्थाक्षेप । तत्रेवदम्बितव्येयतदेवाग्र प्रिये इत्याक्षिपरस्तचारुयनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृत सरप्रधानम् । उक्त-विषयस्तु यथा ममैव—

आक्षेप शब्द । 'विशेष अभिधान की इच्छा से जो शब्द का प्रतिषेध किया जाता है । वह वक्ष्यमाण तथा उक्त विषय दो प्रकार का आक्षेप होता है ।'

उसमें पहला जैसे—'यदि मैं तुम्हें प्राण भर भी न देखूँ तो उ-ब-ग-ठा से .. अथवा इतना ही रहने दो उस अभिय बाग के कहने से क्या ?' यह वक्ष्यमाण माणविषयक निषेधमक ही आक्षेप है ।

उसमें इतना ही बड़ी बड़ी पर 'मर जाऊँ' या इसका आक्षेप करते हुये वाक्य का निब-न्नन हो जाता है, इस प्रकार आक्षेप से अन्तर्गत आक्षेप प्रधान है । उक्त विषय जैसे मेरा हो—

तारावती

तारावती के साथ प्रकृत वाक्यार्थ अवस्थित होता है । वह गुणामृत न्यय का भेद है इस बात की भीकार करना एक समय य मार्ग है । }

अब आक्षेप की लीजिये । आरुह ने इसका उल्लेख और विभाजन इस प्रकार दिया है—

ध्वन्यालोक

यथा च दीपकापहस्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वाच्च तथा व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

(अनु०) जिस प्रकार दीपक और अपहृति इत्यादि में व्यङ्ग्य के रूप में यद्यपि उपमा की प्रतीति होती है तथापि प्रधानता उसकी विज्ञा न होने के कारण उपमा के नाम से उसे अभिहित नहीं किया जाता उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये । (आशय यह है कि सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा की व्यञ्जना होती है, किन्तु प्रधान न होने के कारण उसे उपमा न कहकर विभिन्न नामों से पुकारते हैं । इससे सिद्ध होता है कि जो प्रधान होता है नाम उसी का लिया जाता है ।)

कोचनम्

एष प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुच्यते व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव मवतीत्यत्र दृष्टान्त स्वपरप्रसिद्धमाह—यथा चेति । उपमाया इति । उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः । त्रयेर्युपमया । दीपके हि 'आदिमध्याम्यविषय त्रिधा दीपकमिष्यते' इति तत्तत्तत्त्वम् ।

इस प्रकार प्राधान्यविवक्षा में दृष्टान्त कहकर नामकरण की प्राधान्य के आधार पर ही हुआ करता है; इस विषय में स्व परप्रसिद्ध दृष्टान्त यह रहे हैं—यथा चेति । उपमाया इति । उपमानोपमेयभाव का । 'तथा' का अर्थ है उपमा के द्वारा । दीपक में तिस्रन्वेद 'आदि मध्य और अन्त विषय में तीन प्रकार का दीपक है' यह उल्लेख है ।

तात्पर्यं

है । आलोचक ने आशय अलंकार का परिचय मान दिया है और उसमें व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा बाष्पाय के समीपताधिक्य का प्रतिपादन किया है । इसके बाद आलोचक ने यह बात लिख दिया कि 'बाष्प और व्यङ्ग्य की प्राधान्यविवक्षा बाल्या के लक्ष्य के अधीन होती है ।' प्रस्तुत पद इसी वाक्य का उदाहरण है । बाल्य में मूल में आशय का उदाहरण दिया ही नहीं गया है और आशयत्व का समर्पण ही समर्थ नहीं हो पाया है, यही यहाँ पर समझना चाहिये । यहाँ पर उदाहरण के रूप में समासोक्ति का पद उद्धृत किया गया है । (२) यह उदाहरण नामन के अनुसार आशय का हो सकता है और प्रामद के अनुसार समासोक्ति का । यही करने कदम में समझकर प्रत्येक ने शुद्धपूर्वक समासोक्ति और आशय दोनों का पद ही उदाहरण दे दिया है । चाहे यह आशय माना जावे चाहे समासोक्ति, इससे मुझे विशेष प्रयोजन नहीं । इस प्रश्न का यहाँ पर यही आशय है कि अलंकारों में व्यङ्ग्यार्थ बाष्पाय की दृष्टि से सर्वथा शीघ्र हो जाता है । यही यहाँ पर हमें (प्रत्येक को) सिद्ध करना है ।

सारावती

‘व्यक्ति—हे पयिक ! क्यों तुम यहाँ यहाँ जल पीने की इच्छा से इस मरुदेश में आ पड़े हो !’ (पनागा से इस कृपण की शरण में आ गये हो जहाँ तुम्हें एक पैसे की भी आशा नहीं ।) पयिक—‘इस प्रकार व्यास से पोषित मुझ जैसे व्यक्ति के लिये और आशय ही क्या है ! (मैं इस समय धनलिप्सा से अत्यन्त उद्भिन्न हो उठा हूँ । इसीलिये और कोई आशय न होने के कारण यहाँ आया हूँ ।) किन्तु यह दुष्ट बुद्धिवाला मरुदेश अपने जलों को सञ्चुट ही करता पनाग पता है । (यह दुष्ट धनिक अपने धन का छिपाने में ही अपना कल्याण समझता है ।) व्यक्ति—तुम्हें तो अपनी लुप्ता के प्रति क्रोध करना चाहिये जो सबदा ऐसे ही दुरे अक्षर पर आती है जब कि उसके अनुशूल जल मिलना असम्भव हो जाता है । मरुदेश के मार्ग का क्या दाश ! इसकी जलसञ्चोच विषयक महिमा और प्रभाव का सभा कोश जानता है । (तुम्हें अपनी धनलिप्सा के प्रति ही क्रोध करना चाहिये । इस धनिक की कृपणता का प्रसिद्ध ही है ।)

‘इस पथ में कोई व्यक्ति इस जालर के द्वारा किसी ऐसे सेवक की समझा रहा है जो कि किसी स्वामी के पास आया है और जिसका हृदय प्रतिपण इस आशा से द्रुत रहा है कि उसे अपने स्वामी से प्राप्त्य वस्तु कभी नहीं मिले रहो है । यहाँ पर अक्षपुत्र की सेवा और उसकी विकलता विभाव है, चित्त में उत्पन्न होनेवाले उद्वेग के कारण व्यन्मन वैवर्ण्य इत्यादि अनुभाव हैं । इस प्रकार जालर रस का स्थायी भाव निर्वेद भक्त होता है । आप्तेप के द्वारा अक्षपुत्र की सेवा से पूषकू करता हो यहाँ पर मुख्य वक्तव्य है जो कि व्यञ्जनावृत्ति से आगित होता है । सम व्यन्मार्थ के द्वारा उपकृत होकर वाच्यार्थ हो चमकृति की प्रदान करनेवाला हो गया है । आशय यह है कि सक्त पथ में मरुभूमि का अर्थ वाच्य है और अक्षपुत्र का अर्थ व्यन्मर्थ है । इस व्यन्मार्थ से उपकृत होकर वाच्यार्थ निरद का आत्मादन जाने में कारण होता है । अतः नहीं प्रभाव है ।

संगेद में जालर जलशूर नहीं होता है जहाँ प्रकरण के अनुसार किसी बात को कहना अनिवार्य हो गया हो, किन्तु उसमें किसी प्रकार की विवेचना का आधान करने के लिये उसका निषेध कर दिया जावे । वह निषेध किसी बात को बिना कहे हुए ही इस रूप में हो सकता है कि सुननेवाले के लिये उसका विनिपरक तात्पर्य स्पष्ट हो जावे, किसी बात को आंगिक रूप में कहकर वाच्यार्थ का निषेध भी हो सकता है, किसी बात का पूर्णरूप से कहकर उस वस्तु का भी निषेध हो सकता है और सब कुछ कहकर ध्वन्य का भी निषेध हो सकता है । निषेध का आधान करने के लिये जिस अर्थ का आप्तेप किया जाता है वह वाच्यार्थ को ही अन्वृत्त करता है और आत्मादन का प्रवर्तमान वाच्यार्थ में ही होता है । उक्त उदाहरण में कृपण व्यक्ति को अनुदारता को अधिकारिक स्पष्ट करना मकरधमात है, जो कर तो दिया गया है किन्तु उसकी निदान करने का निर्देश भी दे दिया गया है ।

शेषनम्

मणि शानोल्लोडः समरविजयी हेतिदक्षित
 कञ्जरोषध्वज्ज् सुरतसृदिता बालललना ।
 मदक्षीणो नाग शरदि सरित श्वानपुलिनाः
 रनिम्ना शोमन्ते गलितविमवाध्यापिषु जना ॥

इत्यत्र दीपनकृतमव चाख्यम् । 'अपहृतिरमोष्टस्य किञ्चिद्व्यंगतोपमा' इति
 तत्रापहृत्यैव शोभा । यथा—

येय विरौति नृज्जात्री मदेन मुखरा मुहु ।
 अयमाहृष्यमाणस्व कम्पधनुषो ध्वनि ॥ इति ॥

'शान्तर पिछो हुई मणि, अक्ष से दक्षिण किया हुआ समरविजयी, कञ्जरोष ध्वज, सुरत में मसली हुई बालललना, मद से धीप हाथी, शरद काट में तट से छूटी हुई नदी ये अपनी
 हुशानी से ही शोभित होते हैं, वही प्रकार वाचकों में नरविमव व्यक्ति भी ।'

यहाँ पर वास्तव दीपन से ही उत्पन्न हुआ है । 'अमोष्ट की किञ्चित् अर्धगत जपना की
 अपहृति कहते हैं' । यहाँ पर अपहृति (छिपाने की क्रिया) से ही शोभा होती है । जैसे—
 'मद से मुखर वह नृज पक्षि बार-बार गुन्जार नहीं कर रही है, वह जो आहृष्यमाण
 कामधनुष की ध्वनि है ।'

वाराचरी

परवर्ती आचार्यों को म तो यह लक्षण ही खिचकर हुआ और न विमाजन ही । अल्प
 विमाजन ऐसा होना चाहिये जिससे चमत्कार में कुछ अन्तर पड़े । शब्द के आदि, मध्य
 अक्षरा अन्त में स्थित होने से विच्छिन्न की विशेषता में कोई अन्तर नहीं आता । अतएव
 परवर्ती आचार्यों ने इस विमाजन को टुकरा दिया । दीपक की व्याख्या भी नये रूप में की
 गई । जिस प्रकार माताद पर प्रकाश करने के लिये दीपक गलाया जावे और वह रात के
 मार्ग को ही प्रकाशित कर दे वही प्रकार किसी अल्प के लिये प्रयुक्त किया गया कोई शब्द
 यहाँ अपहृत्य से भी अन्विष्ट हो जावे उसे दीपक अलंकार कहते हैं । यही परिभाषा शब्द
 प्रकाश में भी अपहृत्य एवं वही की साहित्यदर्पणकार हर्षाचार्य ने भी स्वीकार किया ।
 आभ्यदर्शनाकार ने लिखा है कि—'यहाँ प्रकृत और अपहृत्य के बर्ण का एकरूप वाराचरी ही
 उसे दीपक कहते हैं और साहित्यदर्पण में लिखा है—'अल्पानु ओर अल्प के प्रथमार्ध
 सम्बन्ध को दीपक कहते हैं ।' उद्धृत और स्पष्ट ने भी दीपक में उदाहरण अत्रि
 की है ।)

दीपक का उदाहरण यह है—

'शान पर पिछो हुई मणि, अक्ष के द्वारा बाधित किया हुआ विशेष वीर, कल्पनाय दीप
 ध्वज, सुरत में मसली हुई बाल ललना, मद से धीप हाथी, शरत्काट में तट से छूटी हुई

बोचनम्

अत्र व्यवहोऽप्युपमायां वाच्यस्यैवोपस्कृते । किं तेन कथमिति
स्वपहस्तनारूप आशेषो वाच्य एव चमत्कारकारणम् । यदि वोपमानस्याशेषः
सामर्थ्यादाकारणम् । यथा—

ऐन्द्र धनुः पाण्डुरवोभरेण शरद्वानाश्रितवृक्षमम् ।

प्रमादपन्ती सकलद्वमिन्दुं ताप श्वेतव्यधिकं चकार ॥

इत्यत्रैव्यांकुपितनायकान्तरमुपमानमाश्रितमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोती-
त्येषा तु समामोक्तिरेव । उदाह—चारुचोत्कर्षेति ।

यहाँ पर वाच्य की उपमा का अर्थ वाच्य का हो सरकार करता है 'उसकी आशयकता
ही क्या ?' यह निराकरण रूप आशेष वाच्य में हो चमत्कार का कारण है । यथा उपमान
का आशेष अर्थात् सामर्थ्य से आकर्षण । जैसे—

'शरद ने पाण्डुरवोभर के द्वारा आश्रितवृक्ष के समान ऐन्द्र धनुष की धारण करते हुये
वमा सकलद्व पन्त को प्रसन्न करते हुए सूर्य के सन्ताप को अधिक कर दिया ।'

यहाँ पर 'ऐन्द्र-कुपित दूसरे नायक को उपमान के लिए आश्रित करते हुए भी वाच्यार्थ
को ही अलङ्कृत करती है, इस प्रकार यह समाप्ति हो है । इसीलिये कह रहे हैं
चारुचोत्कर्षनिबन्धन इत्यादि ।

सारावली

कौ क्या आवश्यकता ? दुःख की बात है कि अज्ञाती का पुनरुक्त वस्तुओं के निर्माण करने
का एक विविध दुरामह बना हुआ है । (जब उनमें भी अधिक सुन्दर वस्तुएँ नाविका
के अंगों के रूप में विद्यमान हैं तो फिर उन अनुवादित निष्ठ वस्तुओं को रचना दुरामह-
मान है ।)

यहाँ पर 'मुख्य पूर्ववत् के समान है' इस उपाय की व्यवस्था होती है । यह व्यक्त-उपमा
वाच्य को ही अलङ्कृत करती है और वाच्य ही चमत्कार में कारण होता है । यहाँ पर
वाच्यार्थ है 'वन्दना की आवश्यकता ही क्या है' यह है उसकी अपहस्तता या अन्याय रूप
आशेष । यह वाच्यार्थ ही चमत्कार का अधिक प्रोक्त है, व्यङ्ग्य उपाय नहीं ।

(यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि इन व्यवस्थामुक्त अलङ्कारों के विषय में
प्राचीन और नवीन आचार्य एकमत नहीं हैं । कामन के अनुसार यहाँ पर उपाय का आशेष
मन्दर आशेषालङ्कार माना गया है किन्तु काव्यप्रकाशकार इत्यादि के मत में यहाँ पर प्रदीप
अलङ्कार होगा । काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—इसका (पन्द्र इत्यादि का) पूरा मार तो
(मुख इत्यादि) वरमेव ही अधिक प्रोक्त से बहन करने में समर्थ है कि अमुक वस्तु

लोचनम्

तेन प्रकारद्वयमवधीयं तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—अनुक्तनिमित्तापामपीति ।

इससे दो प्रकारों की अवधीरण करके तृतीय प्रकार की आशङ्का खट रहे हैं—‘अनुक्त निमित्तापामपि’ इत्यादि ।

वाराचवी

मदियों, ये सब अपनी श्रुता में ही शोभित होते हैं तथा वाचकों को दान देने के कारण विमर्ष से रिक्त हुए पुरुषों की भी सोमा अपनी अनिश्चयता में ही होती है ।’

यहाँ गणितविमर्ष पुरुष मस्तुत है और दान पर किसी दुर्ग मर्ग इत्यादि मस्तुत है । इनका उपमानोपमेयभाव व्यक्त होता है । किन्तु इसे उपमात्कार के नाम से कोई नहीं पुकारता क्योंकि वहाँ पर सादृश्य के कारण उपमात्कार की प्रतीति नहीं होती अपितु इन्हें अप्रसङ्गों के एक साथ दीपन के कारण वास्तव की प्रतीति होती है । इसीलिये इसे दीपक के नाम से अभिविष्ट किया जाता है । यही बात अपदुति के विषय में भी कही जा सकती है । मामह ने अपदुति का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

अपदुतिरमीहस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।

मृतास्मरद्वयस्य चित्तोपरि चरित्वा यथा ॥

अर्थात् अमीह को जहाँ छिपाया जाता है और जहाँ पर कुछ उपमा अन्तर्भूत होती है उसे अपदुति कहते हैं, प्रकृत अर्थ को छिपाने के कारण इसका वह मानकरण किया गया है । मामह ने ही अपदुति का यह उदाहरण दिया है—‘यह मरसे मुझ पर अमरवृत्ति बार-बार गुञ्जार नहीं कर रही है किन्तु कामदेव के लीचे जाते हुये धनुर की मत्पञ्चा सुनई पर रही है ।’ इस अपदुति में भी ‘अमरवृत्ति कामदेव के धनुष की मत्पञ्चा के समान है’ यह उपमा व्यक्त होती है किन्तु सौन्दर्य उपमा में नहीं अपदुति में है । इस पूरे मकरण का आशय यही है कि जिस प्रकार दीपक और अपदुति में उपमा की व्यञ्जना होते हुये भी कोई उन्हें उपमा के नाम से नहीं पुकारता क्योंकि सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा में नहीं दीपन और अपदुति में होता है । इसी प्रकार वरपि समानोक्ति और आरोप व्यङ्ग्यार्थ रहता है तथापि उसे कोई ध्वनि नहीं कह सकता क्योंकि वहाँ पर वाक्यनिश्चितरूप आधान्य वाक्य में रहता है व्यङ्ग्य में नहीं ।

यहाँ तक यह सिद्ध किया जा चुका कि ध्वनि का अन्तर्भाव आरोप और समानोक्ति में नहीं हो सकता । अब अनुक्तनिमित्ता विरोचोक्ति को लीजिये । मामह ने विरोचोक्ति का यह उदाहरण दिया है—

‘(कारणसमूह के) एक मास के बस हो जाने पर जो किसी विरोचना को व्यापित करने के लिये दूसरे गुणों की मरसा की जाती है, उसे विरोचोक्ति कहते हैं ।’ इसी ने हमका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

छोवनम्

अहो ईवन्तिरिति । गुह्यपातवन्त्यादिनिमित्तोऽस्मागम इत्यर्थः । तस्यैवेति । वाच्यस्यैवेति यावत् । वामनाभिप्राये 'गयमाश्रये', ज्ञानहामिप्रायेण तु समा-
मोक्तिरित्यनुशास्य इदमेव गृह्यत्वा समामोक्त्याश्रययोः सुख्येदमेकमेवोदाहरणं
व्यतरन् अन्यकृतम् । यथापि समामोक्तिवास्तु आश्रयो वा, किमनेनात्माकम् ।
महंयन्त्रादिषु व्यङ्ग्य वाच्ये शुभीमवतीति न साम्यमित्यत्रायमोऽत्र अन्यो-
ऽस्मादनुमिदिरुपि ।

अहो ईवन्तिरिति । गुह्यपातवन्त्यादि के निमित्त समगम का अभाव है, यह ब्रह्मण
है। तस्यैवेति । वाच्य वाच्य वा ही । वामन के अभिप्राय से यह अश्रय है, वामन के
अभिप्राय से न यह समस्त है । इस वाच्य को हृदय में रखकर समामक्ति और आश्रय
का अन्यकृत न मुक्ति से एक ही उदाहरण दे दिया है । यह भी समस्त हो वा आश्रय,
इसमें हमारा क्या प्रयोजन ? सर्वथा अलक्ष्य में व्यङ्ग्य वाच्य में गुपीत हो जाता है, यह
हमारा सत्य है । यही पर यही अन्यकृत का अर्थ है जो कि हमारे गुह्यों ने निरूपित
किया है ।

छारावती

काना को अनन्द दे रही है । यही वाच्य और सत्य के छिपे नयिका और ईर्ष्याकृतित हमारे
नयक का यथैव अर्थ हो जाता है तथापि यह वाच्य ही ही अलक्ष्य करता है और
वाच्य ही सौन्दर्य में कारण होगा है । इस प्रकार यह जो वामन के मन में आश्रय का
उदाहरण दिया गया है यह वामन के मन में समस्त हो जा जाय । यही सब बातों को ध्यान
में रखते हुए अलक्ष्यकृत ने कहा है कि रमणीयता के लक्ष्यों के अन्तर पर ही वाच्य और
व्यङ्ग्य की मयनता का कथन समझ होता है ।

यही पर अलक्ष्यकृत के दिने हुए उदाहरण पर विचार किया जा रहा है । अलक्ष्यकृत
ने यह उदाहरण दिया है —

'सन्ध्या अनुगम से मरी हुई है और दिन उसके अन्तर्गत चला है, कि भी देखो
मय्यक किन्तु विविध है कि दोनों का समगम नहीं होता ।'

यही पर सन्ध्या के छिपे नयिका का आश्रय कर दिया जाता है और दिन के छिपे
नयक का । नयिका मेन से मरी हुई है और नयक भी सान्ने ही है किन्तु गुह्यपातवन्त्या
इत्यादि कारण से समगम नहीं हो रहा है । यथैव व्यङ्ग्य वाच्य को यही पर अवगति
होगी है, तथापि सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्य में हो जाता है । अन्तर वाच्य ही की
मयनता यही पर कही जायेगी ।

अब यही पर विचार करने की बात यह है कि अलक्ष्यकृत ने जो उदाहरण दिया है
यह वाच्य में आश्रय अलक्ष्य का उदाहरण नहीं हो सकता । अन्तर छोवनकार ने इसको
सूत्रित करने के लिये जो उदाहरण दिया है (१) अन्तर उदाहरण आश्रय अलक्ष्य का नहीं

छोचनम्

व्यङ्ग्यस्येति—श्रोतकृता स्वार्थविरिति मशोद्धट । तदभिप्रायेणाह—न
एवमपि काचिच्चास्वनिष्पत्तिरिति । यत्तु रसिकैरपि निमित्त कल्पितम्—‘कान्ता-
समागमे गमनादपि लघुतरम्भुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागामबुद्ध्या संकोचं
भात्यजत्’ इति तदपि निमित्त चास्वहेतुतया नालङ्कारविद्धि. कल्पितम्, अपितु
विशेषोक्तिमात्र एव न शिथिलवर्तीत्येवभूतोऽभिप्रेत्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चा-
स्वहेतु । अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेव न भवेत् । एवमभिप्रायद्वयमपि
साधारणोक्त्या ग्रन्थदृन्त्यरूपयद्य त्वौद्धटेनैवामिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति
मन्तव्यम् ।

‘व्यङ्ग्यस्य’ इति । निस्तन्देह यहाँ पर श्रोतकृत भाति निमित्त है वह मशोद्धट ने लिखा है,
एत अभिप्राय से कह रहे हैं—यहाँ पर कोई चास्व की निमित्त नहीं है’ इत्यादि । जो कि
रसिकों ने निमित्त की कल्पना की ‘कान्तासमागम के विषय में भी गमन की अपेक्षा भी स्वप्न
को लघुतर उपाय मानने हुए निद्रागम की बुद्धि से संकोच को नहीं छोड़ा । वह भी निमित्त
चास्वहेतुता के रूप में भटकार साखवेलाओं ने कल्पित नहीं किया है अपितु ‘शिथिल नहीं
करता’ इस प्रकार का विशेषोक्ति मात्र ही अभिप्रेत्यमान निमित्त से उपस्कृत होकर चास्ता में
देगु होगा है । महीं तो वह विशेषोक्ति ही न हो । इस प्रकार दोनों अभिप्रायों को साधारणोक्ति
से ग्रन्थकार ने निरूपित किया है, उद्धट के अभिप्राय से ही ग्रन्थ नहीं व्यवस्थित है, ऐसा
समझा जाना चाहिये ।

वारावती

‘करूर के समान बला हुआ भी जो कामदेव प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी शक्ति से सदा छाया
प्राप्त कर देता है उस अपारबलवाले कामदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ।’ यहाँ पर करूर
के समान बलान्तरूप कारण उपस्थित है किन्तु शक्ति का हासक कारण व्यंग्य नहीं हुआ है ।
इसमें कारण यह है कि वह अपारबलवाला है । अपारबलवाला होने का उल्लेख कर
ही दिया गया है । अतः यहाँ पर व्यङ्ग्य की आवश्यकता नहीं । यह एक निमित्त
विशेषोक्ति है ।

व्यङ्ग्यार्थ की आवश्यकता अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति में पड़ती है । इसीलिये आलोचकार
ने एक दोनों प्रकारों को छोड़कर अनुक्त-निमित्त विशेषोक्ति का उदाहरण दिया है—‘व्यक्ति
को उसके साथी मुला भी रहे हैं, ‘अच्छा’ कह कर उसने उतर भी दिया है और निद्रा भी
छोड़ दी है, जाना भी चाहता है, किन्तु निद्रा के संकोच को दूर नहीं कर रहा है ।’ यहाँ
पर निद्रासंकोच को शिथिल करने के सभी कारण उपस्थित हैं, किन्तु वह फिर भी निद्रा-
संकोच को शिथिल नहीं कर रहा है । इस प्रकार कारणों के सन्निहित होने के भी कार्य
का न होना विशेषोक्ति है । इस कार्यभाव का कारण क्या हो सकता है ? इस पर मशोद्धट

पारावली

अगर इस बात का इष्टान्त दे दिया गया कि अलङ्कारों में प्राधान्यविवक्षा वाच्यार्थपरक ही होती है, व्यङ्ग्यार्थ केवल उस वाच्यार्थ का अङ्गूरण करता है और सबका गौण स्थान का ही अधिकारी होता है। (यहाँ पर पूर्वपक्ष यह कह सकता है कि जब व्यङ्ग्यता उचित होती है, तो चाहे वह गौण हो क्यों न हो, उसका माना जाना सर्वथा उचित है। गौण होने के कारण व्यङ्ग्यता का सर्वथा अस्तित्व नहीं किया जा सकता। अतएव) नामकरण प्रधानता के आधार पर ही होता है। इस विषय में आलोचक ने एक ऐसा इष्टान्त दिया है जो ध्वनि-वादिषों को तो स्वोक्तार्थ है ही, विरोधी (अङ्गूरण सम्प्रदायवाले) भी उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। आलोचक ने कहा है कि जैसे दीपक और आद्य नि इन अलङ्कारों में उपमा व्यक्त होती है किन्तु उसकी प्रधानता नहीं होती, अतएव कोई भी उसको उपमा नहीं कहना, इसी प्रकार जिन आद्यो, समानोक्ति इत्यादि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होते हुए भी उन्हें ध्वनि के नाम से न पुकारकर उन अलङ्कारों के नाम से पुकारा जाता है जिनकी प्रधानता होती है। यहाँ पर उपमा का अर्थ है उपमानोपमेयभाव। दीपक और समानोक्ति में उपमानोपमेयभाव व्यक्त होता है। मामह ने दीपक का उदाहरण यह दिया है—'दीपक के तीन मेद माने जाते हैं आदिविषय, मध्यविषय, और अन्तविषय।'।

'यहाँ पर आलोचक ने मामह के उदाहरण का सकेत मात्र दिया है। मामह का पूरा उदाहरण इस प्रकार है :—

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।

एकमेव व्यङ्ग्यत्वादिति तद्विषये त्रिधा ॥

अमृतिं नुबन्धेऽन्वयमिष्यात्पार्थदीपनाय ।

अर्थात्—'दीपक तीन प्रकार का माना जाता है—आदि विषय, मध्यविषय और अन्त-विषय, एक की ही तीन अवधारणें हो जाती हैं, इसीलिये इसको तीन मेदों में विभक्त कर दिया जाता है। ये तीनों मेद इसके दीपक नाम को सार्थक बना देते हैं क्यों कि ये अर्थ का दीपन करते हैं।' किन्तु न तो यह परिमाण ही सत्य है और न मेदों का स्वरूप ही। यहाँ पर मामह का आशय यह है कि जिस प्रकार मन्त्रजित दीपक सारे मन्त्र को जगमगा देता है उसी प्रकार जब एक शब्द पूरे वच को प्रभावित कर देता है तो पूरे वच से सम्बन्धित हो जाता है तब उसे दीपक कहते हैं। यदि वह शब्द आदि में होता है तो उसे आदिविषय दीपक कहते हैं, यदि वह शब्द मध्य में होता है तो मध्यविषय दीपक कहते हैं और यदि अन्त में होता है तो अन्तविषय दीपक कहते हैं। चट्टिकाचार्य के २० वें सर्ग में मामह के उदाहरणों के उदाहरण सङ्कलित किये गये हैं और दण्ठो के काव्यादर्श में इन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। दण्ठो के विवरण का सारांश यह है कि 'जति गुण बिना अथवा द्व्यशब्द शब्द जब वक्तृ स्थान पर स्थित होकर पूरे वाक्य का उपकार करता है तब उसे दीपक कहते हैं। वह शब्द आदि में भी स्थित हो सकता है, मध्य में भी और अन्त में भी।' किन्तु

तारावती

ने लिखा है कि 'वह मोत के कारण परेशान है, इसीलिये निद्रा के सकोच को नहीं रखा है।' इस व्यङ्ग्यार्थ में न कोई चमत्कार है, न वास्तव्य। अतएव व्यङ्ग्यार्थ को प्रथम होने से हम उसे ध्वनि नहीं कह सकते। कुछ रसिकों ने दूसरे निमित्त की कल्पना है—'वह इसलिये निद्रा नहीं छोड़ रहा है कि वह यह समझता है कि जाने में देर लगे और यदि निद्रा जा गई तथा स्वप्न भी देखने को मिल गया तो विपत्तमा का समागम की अपेक्षा भी अधिक सरलता में हो जायेगा। इसीलिये वह नींद छाना चाहता है।' पर मेरा निवेदन यह है कि अलङ्कार शास्त्र के विद्वानों ने इस निमित्त को भी वाचनाहेतु माना है, अपितु अनिव्यक्त होनेवाले इस निमित्त से उत्पन्न होकर 'संकोच को डीला कर रखा है' यह विशेषाधिकार ही चाहता में हेतु है। यदि 'स्वप्न में नास्तिक दर्शन आकांक्षारूप व्यङ्ग्यार्थ को ही प्रधान मानने का दुराग्रह किया जायेगा तो यहाँ पर विशेषाधिकार हो ही नहीं सकेगा। यहाँ पर यह समझना मूल है कि प्रयोजक ने केवल मञ्जीर के बताने से व्यङ्ग्यार्थ को मानकर ही उत्तर दिया है। वास्तविकता यह है कि उत्तर के देने में आलोककार के सामने दानों अभिप्राय थे। इसीलिये उत्तर की व्यक्तता के लक्ष्य न कर आलोककार ने सामान्य रूप में ही कह दिया कि प्रकरणसामर्थ्य व्यङ्ग्यार्थ को केवल मञ्जीर होतो है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विशेषाधिकार में वाच्य का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अब पर्यायोक की छानिये—मामह ने पर्यायोक का उदाहरण इस प्रकार दिया है —

"(जब वाच्य अर्थ ही) वाच्य-वाचक वृत्तियों से भिन्न दूसरे ही व्यङ्ग्यनात्मक प्रकार के अतिरिक्त किया जाये तब उसे पर्यायोक कहते हैं।" (इसी उदाहरण को उद्धृत ने भी उद्धृत किया है और मञ्जीरहरेन्दुरान ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'वाचक की अर्थात् वाच्य वाचक स्वशब्द की वृत्ति अर्थात् व्यापार होता है वाच्यार्थ का प्रत्ययन कराना। वाच्य अर्थात् अतिरिक्त का व्यापार होता है दूसरे वाच्य के साथ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के माहात्म्य से उत्पन्न की प्राप्त होना। इस प्रकार के शब्द का जो वाच्य-वाचकव्यापार, उसके बिना भी प्रकारान्तर से अर्थात् अर्थसामर्थ्यात्मिक अवगमन स्वयम् से हो अवगत होता है वाच्यार्थ से स्वच्छ से न कहा हुआ भी आन्तरिक वाच्यव्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक बहुत बड़ी जाती है। इससे स्वमन्त्रण के द्वारा वाच्यार्थ अलङ्कृत किया जाता है।)

पर्याय शब्द का अर्थ है समानार्थक शब्द, जब अर्थात् अर्थ को कहीं शब्दों में न कहकर पर्यायवाचक शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है तब उसे पर्यायोक कहते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये पर्यायवाचक शब्द घट के स्थान पर कलज कह देने के समान नहीं होते। यदि इसीप्रकार की पर्यायता यहाँ पर अमोह होतो तो शिष्टातिरेचिष्य ही क्या रह जाता। अतएव यहाँ पर वृत्तियों का पर्याय होता है। जो बात अभिवावृत्ति से बरी जाती है

ध्वन्यालोकः

अनुकनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहृतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।

गन्तुमना अपि अधिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता
काचिद्व्यवस्थितिरिति न प्राधान्यम् ।

(अनु०) अनुकनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

‘साथियों द्वारा पुकारा हुआ भी, ‘बन्हा’ कहकर निद्रा छोड़े हुये भी, जाने की इच्छा
करते हुये भी अधिक निद्रा के सङ्कोच को शिथिल नहीं कर रहा है ।’

इत्यादि वशाहरणों में प्रकरण सामर्थ्य से केवल व्यंग्य की प्रतीति होती है। उसकी प्रतीति
से किसी प्रकार की वास्तव निमित्त नहीं होती। अतएव उसकी प्रधानता नहीं कहा जा
सकती ।

सोचनम्

एवमाक्षेपं विचार्योद्देश्यक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—अनुकनिमित्तायामिति ।

एकदेशस्य विगमे वा गुणान्तरमंस्तुतिः ।

विशेषप्रयनायासौ विशेषोक्तिरितित्मृता ॥ यथा—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हत बलम् ॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्या व्यङ्ग्यस्य सद्भावः । उक्तनिमित्तायामपि
वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का । यथा—

कपूरं ह्य दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।

ममोत्सववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने ॥

इस प्रकार आदौ पर विचार कर उद्देश्य क्रम से दूसरे प्रमेय को कह रहे हैं—‘अनुक
निमित्ता में’ इत्यादि ।

‘एकदेश के अग्रिम में जाने पर किसी अतिशयता के स्थापन के लिये जो किसी दूसरे
पक्ष की प्रशंसा की जाती है वह विशेषोक्ति मानी जाती है ।’ जैसे—

‘अनेका ही वह कुसुमायुध तीन मुक्तों को जीत लेता है जिसके शरीर को हरते हुए भी
शम्भु ने हत नहीं करा ।’

यह अचिन्त्यनिमित्ता है, इसमें व्यंग्य की सद्भावना नहीं है। उक्तनिमित्ता में भी वस्तु-
स्वभावमात्र में ही पर्यवसान होता है, अतः वहाँ पर भी व्यंग्यसद्भाव की शङ्का नहीं । जैसे—

‘कपूर के समान दग्ध भी जो जन-जन में शक्तिमान् है, अवशर्णीय पराक्रमवाले वह
कुसुमधन्वा की समस्तार ।’

ध्वन्यालोकः

अपहृतिदोषकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य धानुयायित्वं प्रसिद्धमेवं ।

(अनु०) अपहृति और दोषक के विषय में यह तां प्रसिद्ध ही है कि इनमें वाच्य की ही प्रधानता होती है और व्यङ्ग्य उसका अनुयायी होता है ।

छोचनम्

अपहृतिदोषकयोरिति । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह प्रसिद्धमिति । प्रसीतं प्रसूचितं प्रामाणिकं चेत्पर्यः । पूर्वं चैतदुपमाभ्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायाया दृष्टान्तव्योक्तप्रप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थद्वयं योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यंग्यप्राधान्यामावाह च्चनिरिति' ।

छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यंग्यत्वेन ध्वनिस्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृतं—दोषकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवास्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रविक्षेपं च ।

अपहृतिदोषकयोरिति । यह पहले ही निर्णय कर दिया । इसीलिये कह रहे हैं—प्रसिद्धमिति । अर्थात् प्रसीत, प्रसूचित तथा प्रामाणिक । पहले यह उपाया इत्यादि नामवाला ही जिस प्रकार नहीं होता इस छाया के द्वारा (अर्थात् इस प्रकार) दृष्टान्त के रूप में कहा हुआ भी उद्देश्य कम की पूर्ति के लिये ग्रन्थद्वय की योजना करने के निमित्त पुनः कह दिया गया—'व्यास की मरणात् के अन्वय के कारण ध्वनि नहीं होती ।' वस्तु एक ही है (किन्तु) दूसरी छाया के द्वारा कही गई है क्योंकि अपना को ही व्यंग्य के रूप में दाका की जा सकती है । जो कि विवरणकार ने—दोषक का सर्वत्र उपमान्वय नहीं होता इस पर बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा विचार किया है वह अनुपयोगी है, निस्सार है तथा उसका प्रतिषेध भी सरलतार्थक हो सकता है ।

छायावयो

प्रकार से पर्यायोक्त का रूप धारण करके प्राकराधिक भोजनार्थ को अलङ्कृत कर देता है । (आशय यह है कि 'मैं भोजन नहीं करूँगा क्योंकि इसमें विष है' इस व्यंग्यार्थ ने कोई सौन्दर्य नहीं । सौन्दर्य का मतीति तब होती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कृष्ण को भोजन में विष की आशंका है और कह यह रहे हैं कि 'मैं मार्ग में भी ऐसा भोजन नहीं करता जिसको पहले अभीष्ट आशय सा नहीं छेदे ।' इस प्रकार व्यंग्यार्थ पर ध्यान रखते हुये जब हम कृष्ण को वचनभङ्गिमा पर विचार करते हैं तब हमें उस कथन में ही चारुता की अनुभूति होती है ।) कृष्ण का विवक्षित अर्थ यह नहीं है कि भोजन निर्विष होना चाहिये । (उनका विवक्षित तो यही है कि मैं भोजन नहीं करूँगा) अतएव पर्यायोक्त को अलङ्कार मानना हा प्राचीन आचार्यों की जमीद या । यही प्रस्तुत ग्रन्थ का तात्पर्य है । (इस प्रकार लक्ष्य, शृङ्ख, अलङ्कारता, सामान्य शृङ्ख और उदाहरण इन सभी दृष्टिकोणों से सिद्ध कर दिया कि पर्यायोक्त में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।)

सारावली

गुण नाति क्रियादोनो वत् वैकल्पदर्शनम् ।

विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥

‘किसी विशेषता को प्रकट करने के लिये ही जो गुण नाति इत्यादि की न्यूनता दिखलाई जाती है उसे विशेषोक्ति कहते हैं ।’ इसी आधार पर आचार्य दण्डी ने विशेषोक्ति के गुण-वैकल्प, क्रियावैकल्प इत्यादि भेद किये हैं । सरस्वतीनक्षामरण में भी यही परिभाषा स्वीकार की गई है और बाबन ने भी—‘एकगुणहानिकल्पनाया साम्यदात्म्यं विशेषोक्तिः ।’ कहकर इसी छत्रण को पुष्ट किया है । किन्तु नवीन आचार्य इस छत्रण को नहीं मानते । काव्य-प्रकाशकार ने लिखा है—

‘वहाँ कारणों की अच्युत सत्ता विद्यमान हो उसे विशेषोक्ति कहते हैं ।’ इसी परिभाषा का अनुसरण सारित्यदर्पण में भी किया गया है और कुक्कयानन्द में अप्य दीक्षित ने भी इसी परिभाषा को अपनाया है । इस प्रकार विशेषोक्ति की परिभाषा के विषय में प्राचीनों और नवीनों में ऐक्यत्व नहीं है । यद्यपि प्राचीनों की परिभाषा विशेषोक्ति इस नामकरण से अधिक संज्ञत हो जाती है तथापि नवीन आचार्यों ने जिस मत को अव्यक्तिवत् रूप दे दिया है वही मान्यता को प्राप्त हो सकता है ।

नवीन आचार्यों ने विशेषोक्ति के तीन भेद किये हैं—अचिन्त्य निमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्त निमित्ता । पुष्कल कारणों के होते हुये भी फलप्राप्ति क्यों नहीं होती, इस निमित्त की प्रतीति ध्यम्बना के आधार पर होती है । वही कहीं निमित्त इतना गुप्त होता है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, उसे अचिन्त्य निमित्ता कहते हैं । वही पर व्यह्वार्य की प्रतीति होती हो नहीं, अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता । कहीं-कहीं पर निमित्त का कथन स्वयं कर दिया जाता है उसे उक्त निमित्ता कहते हैं । वही पर भी वाच्यरूप में ही निमित्त का कथन होने के कारण ध्वनि का अन्तर नहीं होता । तीसरा प्रकार वह होता है जिसके निमित्त का उपादान अभिहित नहीं होता किन्तु उसकी प्रतीति की वा सन्ती है । वह प्रतीति ध्यम्बना के ही आधार पर हो सकती है, अतः उसी में ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का की जा सकती है । तीनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

अचिन्त्य निमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण.—

‘इष्टमायुष्य अनेका होते हुये भी तीनों लोकों को जीत लेता है । मगधात् शाहू ने उसके शरीर का अपहरण करते हुए भी वह का अपहरण नहीं किया ।’

शाहू जी ने उसने वत् का अपहरण क्यों नहीं किया इसका कारण समझ में नहीं आता । अतः वह अचिन्त्य निमित्ता विशेषोक्ति है । वही पर व्यह्वार्य की कोई सम्भावना नहीं । वह भाग्य का उदाहरण है । उक्त निमित्ता विशेषोक्ति में भी अर्थ की परिसमाप्ति वस्तुत्वभाव में ही हो जाती है, उसमें अर्थान्तर ध्यम्बना की आवश्यकता हो नहीं पड़ती । अतएव वही पर भी व्यह्वार्य की सम्भावना की शङ्का नहीं हो सकती । जैसे—

तात्पर्य

इन पर विचार इसविधे किया गया कि जिन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव दिखाने की प्रतिष्ठा की गई थी उनमें दोषक और व्यङ्ग्य में दो अलङ्कार भी थे। इन अलङ्कारों का उल्लेख पर्यायोक्त के बाद किया गया था। अतः उद्देश्यक्रम को पूरा करने के लिये तथा ध्वनि की सङ्गति बिछाने के लिये पुनः कह दिया कि ध्वनि की प्रधानता न होने से इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। बात वही है जो पहले कहा गई थी। यहाँ पर प्रकारान्तर से वही बात दुहरा दी गई है, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के रूप में उपमा की ही प्रधानता की शङ्का की जा सकती थी। (उसी का निराकरण वहाँ किया जा और उसी का निराकरण वहाँ किया गया है।) जो कि विवरणकार ने लिखा है कि वाचक का उपमा के साथ सर्वत्र अन्वय नहीं होता और बहुत से उदाहरणों के प्रत्यक्ष के द्वारा उस पर विचार किया है वह अनुसंधान भी है, निम्नार भी है और उसका खण्डन भी आशानी से किया जा सकता है। जैसे मानह का उदाहरण लाजिये—

‘मद मोति को उत्पन्न करता है, मोति मान को नष्ट करनेवाले कामदेव को उत्पन्न करती है कामदेव मियतमा के सहवास की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मन की असन्न वेदना को उत्पन्न करती है।’

यहाँ पर भा यद्यपि एक के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है तथापि इनका भी उपमानोपमेयभाव सरलता से कल्पित किया जा सकता है। ‘जैसे मद मोति को उत्पन्न करता है उसी प्रकार मोति काम को उत्पन्न करती है; जैसे मोति काम को उत्पन्न करती है उसी प्रकार काम मियासमागम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार काम मियासङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वह उत्कण्ठा असन्न मनस्ताप को उत्पन्न करती है।’ वह उपमा सरलता से कल्पित की जा सकती है। वह बात नहीं है कि कामः जानेवाले शब्दों का उपमानोपमेयभाव बनता नहीं। उदाहरण लाजिये—

‘राम के समान दशरथ दुखे, दशरथ के समान रघु दुखे, रघु के समान विभीषण दुखे। यह राम की कीर्ति विचित्र ही है।’

यहाँ पर कमल जानेवाले शब्दों का उपमानोपमेय भाव नहीं बनता यह बात नहीं है। अतएव कल्पितता का होना अववा प्रकरण की समानता उपमा का निरोध कर देते हैं यह कौन भी बताने की बात आप कह रहे हैं। जाने दो और अधिक गहराई दुहने की चेष्टा व्यर्थ है। (यह एक मराक है।)

अब सङ्ग्राहकार को छे लाजिये—मावीन आचार्यों (मानह दम्पती श्वादि) ने दो अलङ्कारों के एक में मिलने को सङ्गति अलङ्कार कहा था। उन्होंने सङ्गृह नाम का कोई अल-

ध्वन्यालोच

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, तद्वद्वतु वाम तस्य ध्वनाद्यन्त-
मात्रं । न तु ध्वनेस्तत्प्रान्तमात्रं । तस्य महाविषयत्वेनाद्वित्वेन च प्रतिपाद-
यिष्यमाणत्वात् । न पुन पर्यायोक्ते सामहोदाहृतसद्वतो व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम् ।
वाच्यस्य तयोपरसंज्ञनमात्रेनाविवक्षितत्वात् ।

(अनु०) पर्यायोक्त में भी यदि प्रधानतया व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है तो वक्ता
ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाता चाहिये। ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता,
क्योंकि वह बात विस्तारपूर्वक प्रतिपादित की जानेकी कि ध्वनि का विषय भी व्यापक होता
है और ध्वनि प्रधान मो होती है। दूसरी बात यह है कि सामह ने पर्यायोक्त का नैसा
उदाहरण दिया है उसमें व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता सिद्ध नहीं होती क्योंकि वहाँ पर वाच्यार्थ
गौरव्य में विवक्षित है ही नहीं।

लोचनम्

पर्यायोक्तेऽपीति ।

पर्यायोक्त पद्व्येन प्रकारेणभिधीयते ।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥

इति सङ्ग्रहम् । यथा—

अनुच्छेदद्वन्द्वस्य सुवेत्तपथगामिव ।

रामस्यावेन चतुषां देहिता धर्मदेशना ॥ इति ।

अत्र भीष्मस्य आर्गवप्रमावामिमासी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि
तत्सहायेन देहिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृत । अतएव
पर्यायस्य प्रकारान्तरावगमात्मना व्याख्येनोपलक्षित सद्यदभिधीयते तदभिधीय-
मानमुक्तमेव सत्यपर्यायोक्तमित्यभिधीयते इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति
लक्ष्यपदम् । अर्थात्प्रकारेण सामान्यलक्षण चेति सर्वं युज्यते ।

पर्यायोक्त में भी 'जो वाच्य-वाचक वृत्ति से शून्य अवगमनात्मक दूसरे प्रकार से कहा जाने
अने पर्यायोक्त कहते हैं। यह उदाहरण है जैसे—'चतुषां को दृढ इच्छावाले चरदगामी मुनि
को राम के इस चतुष के द्वारा धर्मोदेश दे दिया गया ।'

यहाँ पर यद्यपि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव को अभिव्यक्त करनेवाला है यह प्रतीत
होता है तथापि उसको सहायता से 'देहिता धर्मदेशना' (धर्मोदेश दे दिया) इस अभिधीय
राम के द्वारा ही वाच्य अलङ्कृत किया जाता है। अतएव पर्याय से अर्थात् व्यङ्ग्यतात्मक दूसरे
प्रकार से व्यङ्ग्य होकर जो अभिधावृत्तिव्यव होता है वह अभिधीयमान उक्त होकर ही
पर्याय कहलाता है, वह उदाहरण यह है, पर्यायोक्त यह उदाहरण यह है, अर्थात्प्रकारेण और
सामान्य उदाहरण यह सभी कुछ उचित हो रहता है ।

बोधनम्

शशिवदना सितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम् ।
गगनजलस्थलसम्ममवहृषाकारा कृता विधिना ॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वदा वदनमस्या इति रूपस्त्रोपमोहेतापुष्पद्वया-
सम्ममवहृषाकारपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात् सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया
पुननिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना । योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थाङ्कताया-
नेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीतमानस्य का शङ्का । यथा 'स्मर स्मरमिव प्रियं
रमयसे यमालिङ्गनाद्' इति । अत्रैव यमकनुपमा च । तृतीयः प्रकारः—
पक्षैक्य वाच्यार्थोऽनेकोऽर्थाङ्कहारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता । यथा—

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रविमास्वति ।

वासाय वासराः स्थान्तो विस्तारोऽव तमोगुहाम् ॥ इति ॥

अत्र हि स्वामिविपरिसमुचितप्रवग्रहणहेतुः किञ्चलपुत्रकरूपणमेकदेशविधिति-
रूपकं दर्शयति । उपेक्षा चेत्यन्वेनोक्तम् । तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम् ।

शब्दार्थवत्पङ्कताः यास्य एकत्र वर्तिनः ।

सङ्करवैकल्यान्नाप्रवेशाद्गमिधीयते ॥ इति च ॥

चतुर्थस्तु प्रकारः यत्रानुप्रासानुप्राहकभावोऽवज्ञातपाम् । यथा—

'चन्द्ररता, नीलकण्ठमेवना, वरेजकुन्ददशनपङ्क्ति रद (नायिका) विधाता के द्वारा
मायाय, बल और मूर्ति के सार से सम्मम रूप आकार की रगते गये हैं ।'

यहाँ पर 'चन्द्रमा है वदन त्रिसुका' अथवा 'चन्द्रमा के समान वदन है त्रिसुका' इस रूपक
और वाचा के वल्लेख से एक साथ दो के असम्भ्र से, एकतर पक्ष के त्याग तथा ग्रहण में
प्राप्य न होने से सङ्कर (हे) इस प्रकार व्यंग्य और वाच्य का ही निम्न न होने से ध्वनि की
सम्भावना हो क्या ! जो दूसरा भी प्रकार है—शब्द और अर्थ अलङ्कारों का एकत्र होना वसने
भी मूर्तिमान की क्या तात्पर्य ! जैसे 'स्मर के समान विचित्र का स्वरूप करो त्रिसुको नाचि-
इन के द्वारा रमन कराती हो ।' यही पर वनक और उभरा है । तृतीय भी प्रकार—यहाँ
एकत्र वाच्यार्थ में अनेक अर्थलङ्कार हो यहाँ भी दोनों के साध्य से किञ्चको व्यङ्ग्यता ! जैसे—

'तुल्य वर्य और अवसान होने से सर्व के अस्त की ओर चले जाने पर स्थान्त दिन
निशात के छिने अन्धकार कभी कुछ में माना भरित हो रहा हो ।'

यहाँ पर स्थानी की विधिति के बोध्य अत्र ग्रहण के छिने वस्तु कुछ कुछ का बारों दृष्ट-
रेखाएँ रूपक को प्रकट करता है और उपेक्षा एवं शब्द से कही गये हैं । वह १५ प्रकार
दो प्रकार बतलाये गये हैं ।

'चन्द्र और अर्धवर्ती अलङ्कार एक वाच्य में रहनेवाले व्यंग्य एक वाच्यार्थ में अनुपवेश
से सङ्कर कहा जाता है ।' और वह चौथा तो प्रकार (यहाँ पर होता है) यहाँ पर अलं-
कारों का अनुप्रासानुप्राहकभाव हो । जैसे—

लोचनम्

नट्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमट्टका पृथेति चिरन्तनानामभिमत इति सात्पर्यम् ।

कि 'निर्विष भोजन हो', इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार ही है, यह चिरन्तनों के लिये अभिमत है, यह सात्पर्य है ।

सारावली

क्योंकि वहाँ पर व्यंग्यार्थ चास्ता में हेतु नहीं है । अतएव उनके अनुकरण पर यदि दूसरे उदाहरणों की भी कल्पना की जावेगी तो उसमें भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रहनी पड़ेगी । अर्थात् अलंकार के क्षेत्र में जब मामह को महत्ता दी जाती है और मामह के बरछाये हुये मार्ग पर अलंकारों का विवेचन किया जाता है तो उन्हीं के बरछाये हुये मार्ग पर दूसरे उदाहरणों की भी कल्पना करनी पड़ेगी । मामह ने अपने उदाहरण में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रखी नहीं, अतएव दूसरे भी ऐसे ही उदाहरण देने पोंगे जिनमें व्यंग्यार्थ प्रधान न हो । यही ग्रन्थ की संहति है ।

यदि मामह के दिये हुये उदाहरण का अनारद करके 'भग भम्मिअ' यह ध्वनि का मखिद उदाहरण पर्यायोक्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो यह तो हमारा शिष्य बन जाता ही होगा । केवल अन्तर यह रह जावेगा कि शिष्यों की नीति का सहारा न लेकर अगुक्त रूप में इधर उधर से झुनो हुई बात के आधार पर अपना संस्कार कर लेना कहा जावेगा जो कि सर्वथा अनार्थ होता होगा । (आद्य पर यह है कि 'भग भम्मिअ' यह व्यंग्यार्थ का उदाहरण तो हम जनिवादियों की ओर से दिया गया है । यदि तुम इसे स्वीकार कर लेते हो तो तुम हमारे शिष्य बन गये । अन्तर केवल यह रह गया कि तुम नियमपूर्वक शिष्यों का कर्तव्य पाठन करते हुये गुरुमुख से विद्या पढ़ते उसके स्थान पर इधर उधर से झुन झुनाकर तुमने आत्मसंस्कार कर लिया और भ्रष्टित बन गये । यह भी तो तुम्हारी अनार्थ चेष्टा ही रही ।) ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि—'गुरु क्या विद्या का अदमान करते हैं अपने को दिखाकर विद्या का भ्रष्ट करते हुए भी नरक को जाता है ।' (ये शम्भु मनोरञ्जन के उद्देश्य से उपहासपरक हैं ।) मामह ने पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया है—'उदाहरण' में कृष्ण दिगुगल के यहाँ गये हैं । दिगुगल ने भोजन ठेक्का कराया है । भगवान् कृष्ण को शत्रु के यहाँ भोजन करने में विष को डाला हो जाता है । अतः वे कहते हैं—जो घब घबोटी आश्रय नहीं छा देंगे उसे हम ठोस घर में भी नहीं खाते और मार्ग में भी (यात्रा में भी) नहीं खाते ।' यह भगवान् वासुदेव का वचन व्यञ्जनावृत्ति से विषदान का निषेध करता है जैसा कि स्वयं मामह ने व्यंग्यार्थ की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'ये शम्भु विषदान की निवृत्ति के उद्देश्य से कहे गये हैं ।' यहाँ पर व्यंग्यार्थ है विषदान का निषेध । उसमें किसी प्रकार की चापल्य नहीं है जिससे उसकी प्रधानता का सन्देह किया जावे । किन्तु 'विषभोजन के बिना जो मानन न करना'—रूप वाक्यार्थ है वही उक्त व्यंग्यार्थ से विशेषता को मात्र हाकर उक्त

वारावती

प्रकार से दिया जा सकता है। (१) चन्द्रमा है वरुन जिसका और (२) चन्द्रमा के समान है वरुन जिसका। प्रथम विषय में स्वरूप होता और द्वितीय में वरुना। दोनों एक साथ हो नहीं सकते। एक को स्वीकार करने और दूसरे को छोड़ने में न कोई तात्पर्य माना है और न शक्य। अतएव यहाँ पर अन्यथा कहकर कहते हैं। इसने धनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि एक तो इसने शक्य और अन्यथा का ही निश्चय नहीं, दूसरे यह निश्चय नहीं कि यहाँ पर कौन सा अन्तर्भाव माना जावे। अतएव यहाँ पर धनि का अन्तर्भाव ही नहीं गण्य। (२) दूसरे प्रकार का उक्त अन्तर्भाव यहाँ पर होता है वहाँ एक ही स्थान पर एक अन्तर्भाव हो और एक अन्तर्भाव हो। जैसे 'स्मर स्मरति विष्णु—कामदेव के समान अपने प्रिय का स्मरण करो जिसको अष्टिभुज के द्वारा तुम रम्य कराया करते हो।' यहाँ पर 'स्मर स्मर' में वक्त है और 'कामदेव के समान करने में करना है। ये दोनों अन्तर्भाव 'स्मर' शब्द से ही व्यक्त होते हैं अतः यह एकविधानुपपत्ति कहते हैं। (इसमें अन्तर्भाव की सम्भावना ही नहीं फिर धनि का अन्तर्भाव ही कैसा ?) (३) वहाँ एक ही वाक्यांश में कई अन्तर्भाव हो यहाँ ठीकसे प्रकार का उक्त होता है। जैसे—

‘वस्य और अश्वत्थान में एकवचन के कारण जब अश्वत्थान् भास्कर अश्वत्थान की ओर प्रस्थान कर गये तब अश्वत्थान विरस वास करने के श्रेष्ठ से उपोद्गता में मानो प्रविष्ट हो रहा है।’ अर्थात् यहाँ और दिन का वस्य और अश्वत्थान साथ होगा है। इस अश्वत्थान ही वस्य वस्य दिन की अश्वत्थान हो कर अश्वत्थान की गुण में पुनः वस्य।)

यहाँ पर सर्व स्थानों है, उक्त अश्वत्थान की वस्य माना विरसि में पत्नी है। दिन कुलुपवक (सेवक) है। दिन का अश्वत्थान की गुण में प्रवेश करना सेवक का अश्वत्थान-निरत होना है। विरस प्रकार स्थानों के विरसि में वस जाने पर उसके अश्वत्थान ही अश्वत्थान वस्य की वस्य करनेवाला सेवक अपने स्थानों के अश्वत्थान की कल्पना से किसी गुण में प्रवेश कर अश्वत्थान-निरत हो जावे अश्वत्थान सर्व के अश्वत्थान की ओर प्रस्थान कर जाने पर दिन की अश्वत्थान की गुण में प्रविष्ट होकर अश्वत्थान-निरत हो गया। यहाँ पर अश्वत्थान-निरत पर गुण का अश्वत्थान दिया गया है। उसके अनुसार यहाँ पर स्थानों का, विरस पर सेवक का और अश्वत्थान-निरत पर विरसि करने का आरोप होने चाहिये भी नहीं दिया गया है। अतएव यहाँ पर अश्वत्थान-निरत स्वरूप अश्वत्थान की प्रतीति होती है। ‘विश्वेश्वर’ में वस्य के द्वारा अश्वत्थान अश्वत्थान की वस्य है। इन दोनों अश्वत्थानों का एकविधानुपपत्ति कहते हैं। दूसरे और ठीकसे प्रकारों का, वस्य निम्नलिखित प्रकार से दिया गया है—

‘वहाँ वस्य और वस्य में रहनेवाले अश्वत्थान (अश्वत्थान अश्वत्थान और अश्वत्थान) एक वस्य में विरसित हो अश्वत्थान एक अश्वत्थान में विरसित हो तो उसे उक्त अश्वत्थान कहते हैं।’

बोधनम्

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्ग मानमङ्गनम् ।

स प्रियासङ्गभोक्तव्य सासङ्गा मनस पुचम् ॥ इति ॥

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात् । नहि क्वमि
काणां नोपमानोपमेयभाव । तथाहि—

राम इव दशरथोऽभूद् दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृश ।

भञ्ज इव दिक्षोपचयश्चित्र रामस्य कार्तिरियम् ॥

इति न भवति । अस्मात्प्रमिकत्व सम वा प्राकरयिकत्वमुपमां निरुणद्धाति
कोऽयं प्राप्त इत्यत्र गर्दभोदोहानुवर्तनेन ।

‘मद प्रीति को उपन्न करता है, वह मानमङ्गन अनङ्ग को उत्पन्न करती है वह प्रिया
सङ्गन की शक्तिका को उत्पन्न करता है, वह असङ्ग मन के शोक को उत्पन्न करती है ।’

यहाँ पर उत्तरोत्तर जन्यत्व होने पर उपमानोपमेयभाव को कल्पना सरलतापूर्वक की जा
सकती है । कृमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता, वह नहीं कहना चाहिये । वह
एक प्रकार —

‘राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु और जब भी रघु के समान (हुये)
जब के समान दिक्षीय वन हुआ । राम की यह कीर्ति विचित्र है ।’

यह नहीं होता वह बात नहीं । अतएव कनिकरवत् वा समानता वा प्राकरयिकत्व उपमा
को रोक देता है वह क्या भव, वस अधिक गर्दभी-दोहन का अनुवर्तन स्वयं है ।

पारावती

अथ दीपक और अण्डकारों को जीविये । इनके विषय में पहले ही निगूण किया जा चुका
है । (इन दोनों अण्डकारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है ।) और दीपक तथा अण्डकारों में
दोनों वाच्य होते हैं । यह बात प्रसिद्ध ही है कि इन में वाच्य दीपक तथा अण्डकारों में
होते हैं और व्यङ्ग्य उपमा उनकी अनुवर्तिका मात्र होती है ।) यहाँ पर प्रसिद्ध वाच्य के
तीन अर्थ हैं । इनमें उपमा की अममानता स्पष्ट प्रतीत होती है, सिद्ध भी की जा चुकी है
और मनामनतिप्रसंग भी है । अण्डकार और दीपक के विषय में पहले भी यह चुके हैं और
जब पुनः इन पर विचार आरम्भ किया है । अतएव पूछा जा सकता है कि पुनः विचार करने
की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि पहले समासोक्ति और आधुप के प्रकरण में
यह दिखाने की आवश्यकता थी कि व्यङ्ग्यार्थ भी गौण हो सकता है । इस विषय में दीपक
और अण्डकारों का देखा हुआ है कि जिसको अण्डकार सम्यक्त्ववाच्य भी अस्वीकार नहीं
कर सकते । इन अण्डकारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है किन्तु उपमा कहकर उन्हें नहीं
पुकारता क्योंकि यहाँ पर उपमा में सौन्दर्य का प्रयोजन नहीं होता । इस बात को सिद्ध
करने के लिये यहाँ पर इष्टान्त के रूप में इन दोनों अण्डकारों का उल्लेख हुआ था । यहाँ

चोचनम्

उदाह—यदालङ्कार इत्यादि । एव चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता । मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनेव भास्तोस्त्युक्तम् । आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने' रपाद्युदाहरे कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्यालङ्कार्य निराकरोति । सममिति । द्वयो-
रप्यान्दोस्त्यमानत्वादिति भावः ।

ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन याति तत्र किं कर्तव्यम् । यथा—

दोहं न गुणानुरागो सलक्षणं णवरं पसिद्धिं सारणाणम् ।

किं पद्विणुसह ससिमणं चन्द्रे न पियामुहं दिहे ॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावदाप्यखेनामाति, व्यतिरेकापहृती ॥ व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेवमिमांशोदाहृते—अथेति । तत्रोत्तरम्—उदा सोऽपीति । सङ्करा-
लङ्कार पुराणं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामाय ध्वनेः द्वितीयो भेदः । यच्च पर्वायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावना निरासप्रकार साधारणमाह—अपि चेति । 'क्वचिदपि सङ्करा-
लङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदमिह इत्यर्थः । सङ्कीर्णता हि मिश्रत्व लोबी-
भावः, तत्र कथमेकरस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत् ।

यह कहते हैं—यदालङ्कार इत्यादि । इस प्रकार चतुर्थ प्रकार में जो ध्वनिता निराहृत हो गया, मध्य के दोनों की ओर व्यङ्ग्य की सम्भावना ही नहीं है यह कह दिया गया । 'शशिवदना' इत्यादि उदाहृत आद्य प्रकार में किसी व किसी प्रकार सम्भावना है यह भासका करके निराकरण कर रहे हैं—अलङ्कारइव इत्यादि । 'समम्' इति । आशय यह है कि दोनों के बान्दोस्त्यमान (करियर) होने के कारण (समान प्रधानता होतो है ।)

यहाँ पर प्रधानता व्यङ्ग्य ही भासित होता है वहाँ क्या करना चाहिये ? वेसे—

'(केवल) पसिद्धि धारण दुष्टो का अनुसाराग यहाँ होता । चन्द्रकान्तमपि चन्द्र के देखने पर मानुष होतो है पियामुह देखने पर नहीं ।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास तो नाम के रूप में शोभित हो रहा है, व्यतिरेक और अलङ्कार तो व्यङ्ग्य होने के कारण प्रधानता (शोभित हो रही है), इस अभिप्राय से भासका कर रहे हैं—उदा सोऽपि इत्यादि । यह सङ्करालङ्कार ही नहीं होता । अपितु यह अलङ्कारध्वनि नाम का ध्वनि का दूसरा प्रकार है । जोकि पर्वायात्क में निरूपित किया गया था, उसका यहाँ भी अनुसरण कर देना चाहिये । इसके बाद सङ्कर के सभी प्रकारों में ध्वनि सम्भावना के निरा-
करण का सामान्य प्रकार बतला रहे हैं—'अपि न' इत्यादि । यहाँ यह सम्बन्ध इस प्रकार का है—'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे च' अर्थात् सब भेदों से मिश्र सङ्कीर्णता का अर्थ है मिश्र बना अर्थात् एक हो जाना, उसमें दूध और पानी की भाँति एक की प्रधानता किस प्रकार होती है ।

ध्वन्यालोक

सङ्गराजद्वारेऽपि यदा सङ्गारोऽलङ्कारान्तरध्वन्यामनुगृह्णाति, तदा ध्वन्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वाच्च ध्वनिविषयत्वम् । अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु बाध्य ध्वन्यस्यो सम प्राधान्यम् । अथ बाध्योपसर्जनीभावेन ध्वन्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरितिवक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तं निर्दिष्टन्यायात् । अपि च सङ्गराजद्वारेऽपि च क्वचित् सङ्गरोक्तिरपि ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

(अनु०) सङ्गर अलङ्कार में भी जब एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया की प्राप्ति करता है वही ध्वन्यार्थ के प्राधान्य की विवक्षा ही नहीं होती । अतएव यह स्थान ध्वनि का स्थल हो ही नहीं सकता । जहाँ पर दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ पर भी बाध्यार्थ और ध्वन्यार्थ की प्रधानता समान होती है । (अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती) यदि सादृश्य में बाध्य के गीत हो जाने से ध्वन्यार्थ प्रधानरूप में अभिव्यक्त होता है तो वह भी ध्वनि का विषय (लक्ष्य) हो सकता है, वही ध्वनि नहीं होती । नैसा कि पर्यायोक्त में सिद्ध किया जा चुका है । दूसरी बात यह है कि कहीं भी किसी अलङ्कार में सङ्गर वह नामकरण ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है ।

ओचनम्

सङ्गराजद्वारेऽपीति ।

विस्मालकियोलेखे सम उद्गुरपसमवे ।

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्गरः ॥

इति छलप्रादेक प्रकार । यथा ममेव—

सङ्गरालङ्कार में भी यह —

‘विस्माल अलङ्कारों के उल्लेख में, एक साथ उनकी इष्टि के असम्भव होने पर तथा एक के प्राप्ति में न्याय तथा दोष के अभाव में सङ्गर (अलङ्कार) होता है ।

इस लक्षण से एक प्रकार हुआ । जैसे मेरा ही—

साधवती

द्वार नहीं माना जा । किन्तु परवर्ती आचार्यों ने परस्पर मिलने वाले अलङ्कारों के दो भेद कर दिये (१) जहाँ मिलनेवाले अलङ्कार स्वमात्रपर्ववस्थित होते हैं और उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, इन प्रकार के सम्मिलन को सखटि कहते हैं । सखटि में प्रत्येक रूप में ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का ही नहीं हो सकती क्योंकि उसमें सभी अलङ्कार स्वतन्त्र होते हैं और स्वतन्त्र अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह सिद्ध ही किया जा चुका है । (जहाँ पर दो या दो से अधिक अलङ्कार एक दूसरे के प्रति धारणभाव से स्थित होते हैं वही पर सङ्गर अलङ्कार होता है । इन आचार्यों ने सङ्गर अलङ्कार के चार भेद किये हैं—सन्देह सङ्गर, ध्वन्यालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का एक विषयानुवर्त्य सङ्गर, अव्यङ्ग्य

शास्त्रवती

वही अपस्तुत की मर्यादा के द्वारा प्रस्तुत को निन्दा स्वक हो उसे अपस्तुतमर्यादा कहते हैं। यद्यपि मामह ने ध्याव्या वही को है तथापि उनके उदाहरण से प्रस्तुत की निन्दा को अभि-
 म्यक्ति होती अवश्य है। किन्तु नवीन आचार्यों ने इस मर्यादा शब्द को और अधिक बढ़ा
 दिया तथा इसे प्रत्ययन के अर्थ में मानकर अपस्तुतमर्यादा का यह लक्षण बना दिया कि वहाँ
 कहीं अपस्तुत के प्रत्ययन के द्वारा प्रस्तुत को अभिम्यक्ति हो उसे अपस्तुतमर्यादा कहते हैं।
 यहाँ पर अशङ्कित का शीर्ष है— एक कथन के द्वारा दोनों की प्रतीति। यदि वाक्य में कई
 शब्द ऐसे हो जिनसे दोनों व्यक्तियों की प्रतीति हो रही हो किन्तु कोई एक आध दो शब्द ऐसे हो
 जिनमें दोनों का आरोपणक अभिधान कर दिया गया हो तो उसे एकदेशविधिति रूपक कहते
 हैं। समासोक्ति में प्रस्तुत का कथन किया जाता है और अपस्तुत की प्रतीति होती है। इसके
 मतिरूप अपस्तुत मर्यादा में अपस्तुत का कथन किया जाता है और प्रस्तुत की प्रतीति होती
 है। समासोक्ति में विशेष्यवाचक शब्द से केवल प्रस्तुत का बोध होता है, उससे अपस्तुत
 विशेष्य की प्रतीति नहीं होती किन्तु अपस्तुतमर्यादा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

(अलङ्कारसर्वस्व में अपस्तुतमर्यादा का परिचय इस प्रकार दिया गया है—‘जहाँ
 सामान्य विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सास्य में अपस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हो उसे
 अपस्तुतमर्यादा कहते हैं। ऐसे स्थानों पर अपस्तुत का कहना ही ठीक नहीं कहा जा सकता
 क्योंकि जो प्रस्तुत नहीं उसके कहने का अर्थ ही क्या? हाँ यदि वह प्रस्तुतपरक हो तो करा-
 चित् ठीक कहा जा सके। किन्तु यदि अपस्तुत का प्रस्तुत से सम्बन्ध न हो तो प्रस्तुत की
 प्रतीति हो नहीं होगी क्योंकि ऐसी दशा में अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। सम्बन्ध तीन प्रकार का
 हो सकता है क्योंकि वन्हीं की अर्थान्तरप्रतीतिहेतुता सिद्ध हो सकती है। ये तीन प्रकार हैं—
 सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सास्य।)

प्रस्तुत और अपस्तुत के सम्बन्ध को लेकर आचार्यों ने अपस्तुतमर्यादा को ५ भेदों में
 विभक्त किया है :—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्वयस्य वचस्तुन्ये तुल्यत्वेति च पञ्चमः ॥ का. प्र. १०१९

(१) वहाँ कार्य प्रस्तुत हो और अपस्तुत निमित्त का कथन किया जावे (२) वहाँ
 निमित्त प्रस्तुत हो और अपस्तुत कार्य का कथन किया जावे। (३) वहाँ सामान्य प्रस्तुत हो
 और अपस्तुत विशेष का कथन किया जावे। (४) वहाँ विशेष प्रस्तुत हो और अपस्तुत
 सामान्य का कथन किया जावे। (५) वहाँ एक वस्तु प्रस्तुत हो और वस्तुद्वारा अन्य वस्तु
 का कथन किया जावे। प्रस्तुत प्रकार में वन्हीं ५ भेदों पर विचार किया जा रहा है।

मामह ने अपस्तुतमर्यादा का यह लक्षण दिया है—‘प्रकारण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु को
 जो प्रतीति की जाती है वह अपस्तुतमर्यादा होती है। यह तीन प्रकार की वही रहते हैं। (१-
 १९) कारण के अर्थवाचक शब्द का अर्थ है प्रकारण, जैसे आकारण में सहायिकार, अर्थवाचक

वारावती

का एकविषयानुपवेश संकर और अद्वाद्भिभाव सङ्कर। परवर्ती आचार्यों ने दूसरे और तीसरे भेद (शब्दाद्यालङ्कारों का एकविषयानुपवेश तथा अर्थालङ्कारों का एकविषयानुपवेश) एक ही में मिला दिये और साधर्म्य के आधार पर दोनों का एक विषयानुपवेश यह मान लिये दिया। इस प्रकार वे आचार्य सङ्कर के केवल तीन भेद ही मानते हैं। दोषितकार का यह भ्रम है कि नवीन आचार्यों ने शब्दाद्यालङ्कारों के एकविषयानुपवेश को ससृष्टि मान लिया जिससे नवीनों के मत में तीन भेद रह गये। सभी नवीन आचार्य शब्दाद्यालङ्कार के एक-विषयानुपवेश को सङ्कर ही मानते हैं। ससृष्टि और सङ्कर में भेद यह होता है कि जहाँ विभिन्न शब्दों से अलङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ उनकी ससृष्टि होती है और जहाँ एक ही शब्द से विभिन्न अलङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ सङ्कर होता है।

सङ्कर और ससृष्टि की मान्यता के आधार और उनके विषय विभाजन पर हयक ने अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—‘उक्त अलङ्कारों का क्यासम्भव कही कथन हो तो क्या वे सब एवम् एवम् अलङ्कार माने जायेंगे वा कोई अन्य अलङ्कार होगा? इस विषय में कहा जा सकता है कि जैसे बालकाल में सुवर्ण, मणिमय इत्यादि पृथक् पृथक् अलङ्कार शरीर को पृथक् पृथक् रूप में प्राप्ति करते हैं, साथ ही उनकी संयोजना भी नवीन सौन्दर्य को जन्म देती है। इसीप्रकार अनेक अलङ्कारों की योजना में भी पृथक् परवचन नहीं होता अपितु उसे दूसरा अलङ्कार कहना ही ठीक होगा। अनेक अलङ्कारों के योग में भी संयोगन्याय से गुणवगम और समवायन्याय से अभुटावगम ये दो प्रकार होते हैं। प्रथम को ससृष्टि और द्वितीय को सङ्कर कहते हैं। अतएव विवक्षितव्युत्पन्न्याय और शीर-नीर न्याय उनकी स्मार्थता को बतलाते हैं।)

विरचनाय ने तो एक शब्द से प्रकट होनेवाले दो शब्दालङ्कारों को भी सङ्कर ही माना है। यहाँ पर टीचनकार ने चार भेद मानकर सङ्कर का निरूपण किया है। सङ्कर का प्रथम प्रकार यह है—

‘जहाँ एक ही स्थान पर दो विरुद्ध अलङ्कारों का संश्लेष किया जा सकता हो, एक साथ दोनों का हो सकना सम्भव न हो, न तो एक के ग्रहण करने में कोई न्याय हो और न दूसरे के त्याग के लिये कोई बाधक हो वहाँ पर संदेह सङ्कर होता है।’ (टीचनकारका) एव—

‘जलाशये ने शशिचदना, नीलकमलनयना, श्वेतकुन्ददण्डनपतिरस नायिका को आकाश, अल और स्पष्ट से उत्पन्न मनोहर आकाशकाली बनाया है।’ आशय यह है कि इस नायिका का मुखचन्द्र आकाश का उत्पन्न है नीलकमलनयन जल का उत्पन्न है और श्वेतकुन्ददण्डन भूमि का उत्पन्न है, इस प्रकार यह नायिका मनोहरता में पृथ्वी जल और आकाश तीनों का सार मांग है। यहाँ पर शशिचदना इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि संश्लेष है। इसका विमल दो

ध्वन्यालोकः

यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्मावादिशेषस्यापि प्राधान्यम् । निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः । यदा तु सारूप्यसाजवशेनापस्तुतमशंसायामप्रकृतप्रकृतयो सम्बन्धस्तदाप्यपस्तुतस्य सरूपस्याभिबोधमानस्य प्राधान्येनाविवक्षाया चनाविवान्तःपातः । इतरथावलङ्कारान्तरमेव ।

(अनु०) और जहाँ विशेष का सामान्यनिष्ठत्व भी होता है वहाँ यद्यपि सामान्य प्रधान हो सकता है तथापि विशेष को भी प्रधानता होती है क्योंकि सामान्य में समस्त विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है । यही न्याय निमित्त निमित्तिभाव (कार्य-कारणभाव) में होनेवाली अमरुतुप्रसङ्गा के विषय में भी लागू होता है । जब अमरुतुप्रसङ्गा में सादृश्य के कारण ही अमरुत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब यदि समानरूपाशङ्के वाच्य अमरुत की प्रधानता में विवक्षा न हो तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जावेगा । नहीं तो यह अलङ्कार विशेष ही होगा ।

लोचन

पुस्तकस्य मुखात्कियरुमञ्जिनोपत्रे कण पायसो

यन्मुक्तामणिरित्यमस्त स जडः शृण्वन्मयदुरमादपि ।

अकृत्यप्रलघुक्रियाप्रविलिन्व्याशेषमाने शनैः

कुत्रोद्गीय गतो हृदयेत्यनुदिनं निद्राति नान्त-शुचा ॥

‘कमल्लिनी के पत्रे पर बैठकण को उस मूर्ख ने जो मारम्म से ही मुक्तामणि समझा यह किन्तु (वही) बात है । इससे भी (अधिक आश्चर्यजनक) और सुनो—आवाज किये जाने पर पीरे से बगुली के अग्रभाग को लघु क्रिया से प्रविलीन हो जाने पर ‘दुख है कि कहीं वहकर चला गया’ इस आन्तरिक शोक से (वह) सो नहीं पाता ।’

सारावली

यहाँ पर प्रस्तुत है किसी व्यक्ति की कष्टपूर्ण स्थिति और अमरुत है ससार की निर्घण्टा श्वादि । इस प्रकार दैवगति श्वादि सामान्य बातों का उल्लेखकर व्यक्तिविशेष को परिचित को और संकेत किया गया है । ससार को निर्दोश शब्द (लोके) सामान्य है कि ये सर्वत्र पाई जाती हैं और किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का नष्ट हो जाना विशेष है क्योंकि वह एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है । अमरुत कथन का प्रयोजन प्रस्तुत में होता है । सामान्य और विशेष का व्यापक-व्याप्यभाव सम्बन्ध होता है । बिना सामान्य का विशेष नहीं रह सकता । अतएव विशेष अंश के सामान्य द्वारा व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार विशेषरक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है उन्नीप्रकार सामान्यरक्त वाच्यार्थ भी प्रधान हो है । सामान्य और विशेष को एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं कही जा सकती । (व्यङ्ग्यार्थ के सामान्यातिशायी न होने के कारण यहाँ पर ध्यान ही नहीं है कि उसके अन्तर्भाव का मदन हो नहीं

छोवनम्

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधोरविप्रेक्षितमायतादया ।

यथा गृहीतं नु मृगाङ्गनाम्बस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि स्पष्टतया, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युपानागरिणीत्वेनानुप्राहकत्वोद्गुणीभूता, अनुप्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् । यथोक्तम्—

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।

स्वातन्त्र्येणास्माकम नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

‘मृङ्ग वायु में पड़े हुये नील कपल से बिस्तुल विशेषता न रखनेवाली विशालनेत्रोवाली (वन पार्वती) का पेरैरहित (चञ्चल) अवलोकन न जाने उसने मृगाङ्गनाओं से ठिया या मृगाङ्गनाओं ने उससे ठिया ।’

यहाँ पर मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से उसके अवलोकन की उपमा यद्यपि भ्रंश है तथापि सन्देहालङ्कार (रूप) वाच्य की वह उत्पानकारिणी होने के कारण सन्देह में पर्यवसान होता है । वैसा कि कहा गया है—

‘परस्पर उपकार के द्वारा जहाँ अलङ्कार स्थित हों और स्वतन्त्रता से आत्माशाम न प्राप्त करें वह भी सङ्कर (होता है) ।

लारावती

जहाँ कई अलङ्कारों में एक दूसरे के प्रति अनुप्रासादप्रकारभाव हो वह चौथे प्रकार का सङ्कर (अज्ञातिमान सङ्कर) होता है । जैसे कुमारसम्भार के मयम सर्ग में पार्वती के यश-शिख का वर्णन करते हुये महाकवि ने ठिया है—

पार्वती के नेत्र विरजित और विशाल थे । जिस समय श्री सुलभ स्वाभाविक अपूर्व के कारण उनकी चितवन चञ्चल हो जाती थी तब नेत्र इतने सुन्दर मणीत होते थे मानो वेन वायु में पका हुआ कोई कमल चञ्चल हो रहा हो । इस प्रकार की चञ्चल चित्रण न जाने उसने मृग की अङ्गनाओं से सीखी या वा मृग की अङ्गनाओं ने उससे सीखी थी ।’

यहाँ पर यह उपमा स्पष्ट होती है कि ‘पार्वती की चितवन मृगियों की चितवन के समान थीं ।’ ‘उसने मृगियों से चित्रण सीखी या मृगियों ने उससे सीखी’ यह सन्देहालङ्कार यहाँ पर वाच्य है । उपमा केवल सन्देहालङ्कार का अभ्युपान ही करनेवाली है । (उपमा सन्देहालङ्कार ॥ सौन्दर्य पोषण के निमित्त अपना सौन्दर्य सर्वाधिक कर देती है ।) इस प्रकार अनुप्राहक होने के कारण उपमा गौण हो गई है । सन्देहालङ्कार अनुप्राहक है; अर्थात् उपमा के द्वारा उपम्य होकर सन्देह में ही सौन्दर्य या पर्यवसान होता है ।

चौथे प्रकार के सङ्कर का परिभाषा यह दो गई है—

‘जहाँ अलङ्कार परस्पर उपकार करते हुये स्थित होते हैं और एक दूसरे से निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर सकते उसे भी सन्देह कहते हैं ।’ (जैसे उक्त उदाहरण में

लोचनम्

ये यान्त्रभ्युदये प्राप्तिं नोच्छ्रान्ति व्यसनेषु च ।
ते बान्धवास्ते सुहृदो बोकः स्वार्थपराऽपराः ॥

अत्राप्रस्तुत सुहृद्वान्धवरूपत्वं निमित्त सञ्जनात्प्रत्या वर्धयति नैमित्तिकीं
अद्वैतवचनता प्रस्तुतानात्मनोऽभिव्यङ्ग्यम्, तत्र नैमित्तिकप्रतीकावपि निमित्त-
प्रतीतिरेव प्रधानानन्दप्रनुशासकत्वेनेति न व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः । कदाचित्तु
नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्धमानं सद्यस्तु निमित्तं व्यवर्ति । यथा संतौ—

‘जो बन्धुर मे मन को प्राप्त होते हैं और आपत्ति में डोकते नहीं हैं वे ही गान्ध हैं,
वे ही मित्र हैं और लोक स्वार्थपराव्य है ।’

यहाँ पर नैमित्तिकी अपनी प्रस्तुत अद्वैतवचनता का अभिव्यक्त करने के लिये अप्रस्तुत
सुहृद्वान्धवरूप निमित्त का सञ्जन को बलवत् के द्वारा वर्धन कर रहे हैं । वस्तुतः नैमित्तिक
की प्रतीति में जो निमित्तप्रतीति का अनुनायक के रूप में प्रधान हो जाती है उस प्रकार व्यङ्ग्य
और व्यञ्जक का साधन्य नहीं है । कनो तो नैमित्तिक अप्रस्तुत वर्धमान होते हुए प्रस्तुत
निमित्त को व्यक्त करता है । जैसे सेतु में—

तारावती

किया गया है । निमित्त-नैमित्तिक मात्र में अप्रस्तुतप्रत्यक्ष एक तो देखी जाती है कि वस्तुतः
निमित्त अप्रस्तुत होकर वाच्य होता है और वह प्रस्तुत-नैमित्तिक को व्यञ्जना करता है । जैसे
कौरव शक्ति अपने बन्धुओं की अपेक्षा अपने किसी निकटवर्ती मित्र का विरोध प्रपत्ती है
और वतों को रात मानता है । जब वस्तुतः शक्ति का रस पूरा जाग है तब वह कहता है—

‘जो बन्धुर मे प्रसन्न होते हैं और क्षिति में साथ नहीं डोकते वे ही मित्र हैं,
वे ही मित्र हैं, सत्तर के अन्य कोम तो स्वार्थ के सभी होते हैं ।’

यहाँ पर सुहृद और बन्धु के सञ्जनो द्वारा स्वीकार किये हुए सच्चे स्वरूप का वर्णन
किया गया है जो कि अप्रस्तुत है तथा प्रस्तुत है ‘अने किसी विशेष द्वितीय को रात
मानना ।’ सुहृद तथा बन्धु का साधन्य स्वरूप निमित्त है और वत मानना नैमित्तिक है ।
निमित्त का अनिधान नैमित्तिक को आभिव्यक्ति के लिये किया गया है । यद्यपि नैमित्तिक को
प्रतीति हो जाती है तथापि निमित्त का अनिधान हो प्रधान है क्योंकि वही नैमित्तिक का
अनुनायन करता है । अतएव व्यङ्ग्य-व्यञ्जक को यहाँ प्रधानता नहीं है जिससे यह धर्म-
कान्य बढ़ा जा सके । [४] कनो-कनो नैमित्तिक अप्रस्तुत होता है जिसका अनिधान
प्रतीति किया जाता है जिससे प्रस्तुत निमित्त को अभिव्यक्त हो जाने । जैसे सेतु-
कान्य में बान्धव एक नवी के अगुछ दुष्ये पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं :—

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः । स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति—सामान्यविशेषमावात्, निमित्तनिमित्तमावात्, सारूप्याच्च । तत्र प्रथमे प्रकारद्वयं प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोस्तुल्यमव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुतत्वादिना प्राधान्यमित्यन्तेन । तत्र सामान्यविशेषमावेऽपि द्वयी गति—सामान्यमप्राकरणिक शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेष, स एका प्रकारः । यथा—

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन । और वह भाष्य तीन प्रकार का होता है—सामान्य विशेष भाव में, निमित्त निमित्त भाव में और सारूप्य में । उनमें प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की प्रधानता तुल्य ही होती है वह प्रतिपाद करते हैं—अप्रस्तुत इत्यादि से प्राधान्य नहीं वहाँ तक । उसमें सामान्य विशेष भाव में भी दो गतियाँ होती हैं—सामान्य अर्थात् अप्राकरणिक शब्द के द्वारा कहा जाता है और प्राकरणिक विशेष अनिम्यक्त होता है वह एक प्रकार है । जैसे—

तारावती

दूसरे का परिधान ही न हो सके । ऐसी दशा में एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता कही ही कैसे जा सकती है । (आशय यह है कि जहाँ अलंकारों में प्राधान्य का नियम न किया जा सके या बाधालंकार प्रधान हो वहाँ सकार अलंकार होता है और जहाँ बाधालंकार प्रधान हो वहाँ सकारालंकार भिन्न होता है । अतएव सकारालंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

इस प्रकार के कारण में समासोक्ति, आक्षेप, अनुकनिमिषा विज्ञाप्ति, पर्यायाक्त, अपहृति, दीपक, सकार इत्यादि व्यञ्जनामूढक अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का भ्रम उदात्त था । इसी क्रम से वहाँ प्रायेक अलंकार पर विचार किया गया और वह सिद्ध किया गया कि ध्वनि का अन्तर्भाव व्यञ्जनामूढक अलंकारों में भी नहीं हो सकता । वहाँ पर इत्यादि शब्द का जो प्रयोग किया गया था उसकी व्याख्या शेष रह गई । अतएव आलोचनाकार अप्रस्तुत प्रशंसा नामक एक और अलंकार पर विचार कर इस प्रकार की पूर्ति कर रहे हैं ।

प्राचीन आचार्य अधिकतर नामकरण के आधार पर ही परिभाषा बनाते थे । आचार्य दण्डी तथा रामह दोनो ने अप्रस्तुतप्रशंसा की केवल यह परिभाषा की है कि जहाँ पर अप्रस्तुत की श्रुति की जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । किन्तु अप्रस्तुत शब्द सापेक्ष है और स्वभावेत यह भ्रम उत्पन्न होता है कि उसका प्रस्तुत से क्या सम्बन्ध हो ? यदि अप्रस्तुतमात्र का वर्णन किया जावे तो उसका प्रस्तुत से कोई सम्बन्ध भी नहीं होगा या वह भ्रमत प्रत्ययमात्र रह जावेगा । प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के विषय में प्राचीन आचार्य भ्रम हैं । दण्डी ने उदाहरण देकर जो उसकी व्याख्या की है उससे स्पष्ट होता है कि

लोचनम्

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येन त्वमुत्थापित
स्कन्धे यस्य चिरे स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारकियाम्
भ्रात प्रत्युपकारिणा धुरि पर वेताल लोचयसे ॥

अथ यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्न कश्चिदन्य प्रस्तुत भाक्षिष्यते, तथाप्य-

जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, बहुत समय तक जिसके कन्धे पर बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, केवल मुश्कुराहट से ही इस वसने प्राणों का काट कर देनेवाले भाई वेताल ! तुम प्रत्युपकारियों के आगे रहने को लीला धारण कर रहे हो ।'

यहाँ पर यद्यपि सारूप्य के कारण कोई दूसरा प्रस्तुत कृतघ्न आश्रित किया जाता है तारावती

देव गुणों को अभिव्यक्त करने के लिये ही किया गया है जो ॥ परिजातरहित स्वर्ग इत्यादि के स्मरणरूप कार्य में निमित्त है । यद्यपि यहाँ पर निमित्त की मर्यादा होती है किन्तु नैमित्तिक (कार्य) वाच्य है । यदि व्यंग्यार्थ निमित्त इसलिये प्रधान है कि वक्ता द्वारा उसी को अभिव्यक्त करना अभीष्ट है तो वाच्यार्थ नैमित्तिक इसलिये प्रधान है कि वह व्यंग्यार्थ निमित्त के द्वारा अनुमानित होता है । इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता एक जैसी हो गई । अतएव न तो इस वाच्य को हम भ्रम कह सकते हैं और न भ्रम का अमस्तुतमता के इस भेद में समावेश का प्रश्न उठता है । इस प्रकार अमस्तुतमता के दो भेदों में प्रत्येक के दो दो प्रकारों पर विचार किया जा चुका । अब उसके दोसरे भेद स्वरूपसादृश्य में होनेवाली अमस्तुतमता पर विचार किया जा रहा है । [सादृश्य में होनेवाली अमस्तुतमता के तीन भेद किये गये हैं— श्लेषमूलक, समासोक्तिमूलक और केवल सादृश्यमूलक । किन्तु यहाँ पर लोचनकार ने इन ॥ भेदों पर विचार न कर सभी को सादृश्यमूलकता में ही सम्मिलित कर दिया है ।] सादृश्य के आधार पर अमस्तुत की व्यवस्था दो प्रकार की हो सकती है— (१) कभी ऐसा होता है कि चमत्कार अमस्तुत वाच्य के आधार होता है और व्यंग्य तत्सुखापेक्षी होकर गोप हो जाता है । जैसे हमारे ही उपाध्याय भट्ट-दुराज का पद्य—

जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, जिसके कन्धे पर तुम बहुत समय तक स्थित रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उसे इस व्यक्ति के प्राणों को केवल मुश्कुराहट से ही अवरण कर रहे हो । हे भाई वेताल ! आज तो तुम प्रत्युपकार करनेवालों के सामने होकर आनन्द कर रहे हो ।'

यहाँ पर किसी कृतघ्न के प्रति उदात्तम प्रस्तुत विषय है जिसकी व्यवस्थावृत्ति से अभिव्यक्ति होती है । वेताल वृत्तान्त अमस्तुत वाच्य है । किन्तु चमत्कार में कारण वेताल वृत्तान्त

लोचनम्

अहो समारम्भेष्टमहो दौष्टान्त्यमापदाम् ।

अहो निसर्गजिह्वास्य दुरन्ता यतयो विधे ॥

अत्र हि देवप्राधान्य सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वणित सत्पङ्कते वस्तुनि कदापि विनष्टे विशेषात्प्रति पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषोऽस्य सामान्येन व्याप्तत्वाद्नष्टाद्यविशेषवद्वाच्यसामान्यत्वापि प्राधान्यम् । नहि सामान्यविशेषयोर्गुणपक्षाधान्यं विरुध्यते । यदा तु विशेषोऽप्राकरणीक प्राकरणीक सामान्यभाक्षिपति तदा द्वितीय प्रकारः । यथा—

‘संसार की निर्दोषता पर आश्चर्य है, आपत्तियों की दुरात्मता पर आश्चर्य है, स्वभावतः दुष्टिष्ठ विधाता को न समझी जा सकनेवाली गतियों पर भी आश्चर्य है।’

यहाँ निस्सन्देह सर्वत्र सामान्यरूप देवप्राधान्य (स्व) अप्रस्तुत का वर्णन किया हुआ नहीं निरस्त विशेषात्मक प्रस्तुत प्रस्तुत में अवस्थित होता है । उनमें भी विशेषों के सामान्य से व्याप्त होने के बावजूद अन्य विशेष के समान सामान्य को भी प्रधानता है । सामान्य और विशेष को एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं होती । नव अप्राकरणीक विषय प्राकरणीक सामान्य का आक्षेप करता है वह दूसरा प्रकार होता है । जैसे—

छायावती

इत्यादि । १-२ तो मामह की कारिका में ही विविध परिकीर्तन ‘वह पाठ है और न मामह ने हीन रूपों में उसका विभाजन हो किया है । मामह का पाठ इस प्रकार का है—‘अप्रस्तुत प्रसंगेति सा चैव कथ्यते यथा ।’ अपने समय की परम्परा के अनुसार ‘विविध परिकीर्तित’ यह पाठ कर लिया गया है । यहाँ पर आशय यह है कि नहीं प्रस्तुत या आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जावे उसे अप्रस्तुतप्रसंगता कहते हैं । वह प्रस्तुत का आक्षेप हीन प्रकार का हो सकता है (१) सामान्य विज्ञान मात्र से (२) निमित्त निमित्त मात्र से और (३) स्वरूप के सादृश्य के आधार पर । इनमें से प्रथम दो प्रकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि इनमें वाच्य और श्रव्य, अप्रस्तुत और प्रस्तुत की प्रधानता समान होती है । यह बात अलोककार ने ‘अप्रस्तुतप्रसंगतावस्था’ से लेकर ‘प्राधान्य’ तक नहीं है । उनमें भेदों के आक्षेप क पहला कारण होता है सामान्य-विशेष भावः । इसके भी दो रूप हो सकते हैं—(१) जिस अप्राकरणीक का अभिधान किया जा रहा है वह सामान्य हो बार जिस प्राकरणीक की व्यञ्जना हो रही है वह विज्ञान हो । जैसे कण्ठपूर्ण परिस्थिति में पहा हुआ कोई व्यक्ति कह रहा है —

‘संसार की निर्दोषता पर खेद है, आपत्तियों की दुष्टता पर दुःख होता है, आश्चर्य होता है कि विधाता की शभावतः दुष्टिष्ठ गति का बार पाना किन्तु नहीं है।’

लोचनम्

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोक-
विरस्तुवतिमिरप्रधानोऽपि लोकमण्ये स्वात्मानं प्रच्छादयँल्लोकं च वाचा-
ख्यदात्मन्यप्रतिमासमेवाङ्गीकुर्वन्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यद्वज्रायते तदा
वदीय लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यवत्प्राधान्येन प्रकाश्यते । जडोऽयमिति
छुपानेन्दुयादिमात्रो लोकेनावज्ञायते, स च प्रस्तुतं कस्यचिद्विशिष्टं औत्सुक्य-
चिन्तादूयमानमानसवामन्यस्य ग्रहर्षपरवशता करोतीति हठादेव लोऽप्येच्छ
विकारकारणामिर्नर्तयति । न च सस्य हृदय केनापि ज्ञायते कीदृशमिति, प्रस्तुतं

कोई महापुरुष वीतराग होते हुये भी रोगों के समान प्रगाढ़ विवेक के आलोक से अन्य
कार के विस्तार का तिरस्कार किये हुए भी लोक के मध्य में अपने को छिपाये हुए रह न्याय
से लोक को बाबांझित करते हुए अपने अन्दर अमतिभास का ही भरोसा करते हुए वही
लोक के द्वारा 'यह मूर्ख है' इस रूप में जो अनमानित किया जाता है तब उसका प्रस्तुत
लोकोत्तर चरित्र न्याय के रूप में प्रगणता से प्रकाशित होता है । 'यह नब' यह कहकर
उद्यान, चन्द्रादय इत्यादि भाव लोक के द्वारा अनमानित किया जाता है । प्रस्तुत वह भाव
किशो विरही के मन को औत्सुक्य और चिन्ता से कौशनेशाल तथा दूसरे के मन का ग्रहर्षपर
रक्त बना देता है इस प्रकार हठपूर्वक स्नेहा से ही विचारों को उत्पन्नकर लोक को नचा
देता है । उसके हृदय को कोई नहीं जान पाता कि यह किस प्रकार का है, प्रस्तुत महापद्मा

वारावती

'हे भावों के समूह ! तुम मनुष्यों के हृदयों पर हठपूर्वक आक्रमण करके उनकी नचाया
करते हो । विभिन्न प्रकार की यत्निमात्रों के द्वारा अपने हृदय को छिपाये रखते हो और दूसरों
के हृदयों के साथ खेलते हो । वे ही तुम्हें जक कहते हैं और स्वयं सहृदयमन्यता के अरुण
में पड़े हुये हैं । तुम्हारे साथ की सम्पादना से उनकी जक कहना ॥ मुझे उनकी प्रगणता
प्रतीत होता है ।'

यही पर प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई महापुरुष यद्यपि वीतराग है, अपने पने घानालोक
के प्रकाश से मोहान्धकार के विस्तार का सर्वथा निराकरण कर चुका है किन्तु रागान्ध लोभों
के सामने स्वयं रागान्धता भ्रष्ट करनी चाहिये इस नीति को टेकर सवार में भरना वीत-
रागता को पञ्चादित कर ससार को मूर्ख बनाने के उद्देश्ये पक्षे पार्ते करता है जिससे लोग
अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ समझकर उसको मूर्ख वज्रायते हैं और वह अपने अन्दर अज्ञानान्ध
कार की स्वीकार कर लेता है । उसका यह लोकोत्तर चरित्र प्रस्तुत है विवेका-वचना उक्त
रूप में की गई है तथा यह न्यायार्थ अस्तुत से अविव्यक्त होकर प्रमाण हो जाता है । यही
पर अस्तुत न्यायार्थ इस प्रकार हुआ—भाव का अर्थ है धरना तथा स्वायत्ति रखनेवाले तथा
सहृदयों में किमो भावना को जगानेवाले चन्द्रोदय उद्यान इत्यादि विरह के सुन्दरतम वरार्थ ।
संसार इसका जक समझकर इनका अन्यान करता है । इसके प्रतिहृत् वे भाव किशो विरही

लोचनम्

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनां सामान्य प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलविन्दो मणित्वसम्भावना विशेषरूपं वाच्यम् । तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपदाधान्यं न विरोध इत्युक्तम् । पूर्वमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन । पृथमेव न्याय निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशस्तस्यापि द्विप्रकारता दर्शयति—निमित्तेति । कदाचिधिमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुतमाक्षिपात् । यथा—

यहाँ पर बिना अवसर के यह कहना ही सामान्य प्रस्तुत है, अप्रस्तुत तो जलविन्दु में मणित्व की सम्भावनाविशेष रूप वाच्य । उसमें भी सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता में विरोध नहीं है, वह कह दिया गया । इस प्रकार 'यदा तावत्' से 'विशेष-स्यापि प्राधान्यम्' यहाँ तक एक प्रकार का दोनों भेदों में विचार कर लिया गया । इसी ही न्याय का निमित्तनैमित्तिक भाव में भी अतिदेव करते हुए उसकी भी द्विप्रकारता को दिखाते हैं—निमित्त इत्यादि । कदाचित् निमित्त अप्रस्तुत होते हुये अभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुत का आक्षेप करता है । जैसे—

तारावली

सूत्रा । । (२) अप्रस्तुत प्रकाश का दूसरा भेद वह होता है जहाँ विशेष अप्रस्तुत हो और सामान्य प्रस्तुत हो । विशेष का अभिधान किया जावे और उससे सामान्य का आरोप हो जावे । जैसे —

'यह कोई बड़ी बात नहीं है कि उस मूर्त ने प्रथम अवलोकन के अवसर पर कमलिनो के पक्ष पर स्थित जलविन्दुओं की मुक्त्यापि समझ लिया । मैं तुम्हें इससे भी अधिक विचित्र बात सुनाता हूँ—अबुली के अग्रभाग को धारे से घुमाकर जैसे ही उसने उन सुवासिनी को छेने की चेष्टा की वे जलविन्दु एकदम बिछीन हो गये । अब वह समझकर कि वे मुक्त्यापिवा न जाने कहाँ चक गईं वह मूर्त रात दिन दुखी रहता है और अन्य लोक से सो नहीं सकता ।'

यहाँ पर प्रस्तुत है—'मूर्तों की समझ ऐसे स्थान पर होती है जहाँ उसके होने का कोई अवसर नहीं होता ।' और विशेष है—'कमलिनोप पर जलविन्दुओं में मुक्त्यापिवा की सम्भावना ।' विशेष वाच्य है और सामान्य न्यून । दोनों की एक साथ प्रधानता है जो कि विरोध नहीं करती जा सकती जैसा कि पहले निरूपण किया जा चुका है । इस प्रकार मध्य भेद के दोनों प्रकारों पर विचार किया गया कि उनमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । यही बात आलोक में 'यदा तावत्' से लेकर 'विशेषस्यास्त प्रधान्य' तक कही गई है । जो बात सामान्य विशेष में होनेवाली अप्रस्तुतप्रकाश के लिये कही गई है वही बात निमित्त-नैमित्तिक भाव में होनेवाली अप्रस्तुतप्रकाश के लिये भी कही जा सकती है । उसी का अतिदेव (समान-वाद) आलोक में 'निमित्त नैमित्तिकभावे पावमेव न्याय' यह कह कर

ध्वन्यालोक

तदयमत्र संक्षेप —

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिन ।

समासाख्यादयस्त्वत्र वाच्यालङ्कृतय स्फुटय ॥

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमश्चि वा ।

न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥

तत्परावेव शब्दायी यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।

ध्वनः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोऽस्मिन् ॥

(अनु०) एवं सम्पूर्ण व्याख्यान वा सारांश यह है—

‘जहाँ पर केवल वाच्यार्थ का अनुपाया होने के कारण व्यङ्ग्य अग्रधान हो गया हो वहाँ पर स्वरूप से समासाक्षि इत्यादि वाच्यालङ्कार होते हैं । जहाँ पर व्यङ्ग्य का स्पष्ट रूप से आभासमान मिल रहा हो, अथवा व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन कर रहा हो या उसकी प्रधानता महीन हो, वहाँ पर ध्वनि नहीं होती । जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यपरक हों और वहाँ पर उद्भूत अलङ्कार हो सकने का अवसर न हो तो वह ध्वनि का विषय होता है ।

छोपनम्

उद्देश्य यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तोरप्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिर-
लङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यशानुवदा सम्भावितः । तत्र सर्वत्र साधारण-
मुच्चर शानुमुपक्रमतः—तदयमत्रति । कियद्वा प्रतिपदं विख्यतामिति नाव । तत्र
व्याजस्तुतिर्यथा—

जहाँ में समासाक्षि इत्यादि द्वन्द्व में जो आदि ग्रहण किया गया है उससे व्याजस्तुति
इत्यादि अलङ्कारवर्ग की भी सम्भावना की गई है जिसमें व्यङ्ग्य ॥ सम्भावना की जा सकती
है । उसमें सर्वत्र साधारण उच्चर देने का उपक्रम कर रहे हैं—तदयमत्र इत्यादि । आशय यह
है कि प्रतिपद अथवा कहीं ठक लिखा जावे । उससे व्याजस्तुति जैसे—

सारावली

यहाँ पर व्यङ्ग्यप्रधानता अलङ्कार है तो नहीं बल्कि ध्वनि के अन्तर्भाव की कल्पना
की जावे ।] यही बात आलोक में ‘यदा तु’ से लेकर ध्वनावेवान्तपाठ’ तक करी गई है ।
‘नहीं तो विशेषणकार का अलङ्कार होता है’ कहने का आशय यह है कि व्यङ्ग्यार्थ की
अग्रधानता में ही अग्रस्तुप्रधानता नाम का अलङ्कारविशेष होता है प्रधानता में तो अलङ्कार
हो ही नहीं सकता ।

जिन व्यङ्ग्यमूलक अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करने की प्रतिष्ठा की
गयी उन समासाक्षि आशय इत्यादि अलङ्कारों में द्वन्द्व समान करके ‘इत्यादि’ शब्द जाह दिया
गया । इससे व्याजस्तुति इत्यादि व्यङ्ग्यार्थमूलक अलङ्कारों में भी ध्वनि के समावेश की सम्भा-
वना का निराकरण हो गया । (आलोककारने इत्यादि शब्द से अग्रस्तुप्रधानता पर भी विचार

कोषनम्

सग्न अपारिजात कोत्थुञ्ज लच्छिरहिञ्च महुमहस्स उरम् ।

सुमरामि महणपुवथो अमुद्धणन्द च हरजडापम्मारम् ॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिक
वर्णयति प्रस्तुत वृद्धसेवाचिरजोवित्त्वन्वयवहारकौशलादिनिमित्तभूत मन्त्रिवापा
मुपादेयमभिप्यङ्गनम् । तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिक वाच्यभूतम्, प्रस्तुत
लक्ष्मिस्तानुप्राणितत्वेनांखरीकरोत्पास्मानमिति सम प्रधानतैव वाच्यम्यङ्गयो ।
यव द्वी प्रकारी प्रत्येक द्विविधो विचार्य तृतीय प्रकारः परीक्ष्यते साक्यलक्षण
तत्रापि द्वी प्रकारौ—अप्रस्तुताल्लक्ष्मिद्विधाप्याद्यमकारः, व्यङ्ग्य तु तन्मुत्प्रेक्षम् ।
यथास्मदुपाध्यायमट्टेन्दुराजस्य—

मैं मयन से पहले पारिजातहित स्वर्ग, कौस्तुभ और लक्ष्मीरहित मधुमयन का उर एवं
और मुग्धचन्द्ररहित शङ्करजटा के अग्रभाग का स्मरण करता हूँ ॥

यहाँ पर जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीरहित विष्णुवज्रवत् क स्मरणादिक अप्रस्तुत नैमित्तिक
का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत वृद्धसेवा, चिरजोवित्त्व, स्मरहारकौशल इत्यादि मन्त्रित्व में उपादे
निमित्तभूत की अभिव्यक्ति के लिये (यह वर्णन किया गया है) यहाँ पर निमित्त की मूर्ति
में भी नैमित्तिक वाच्यभूत है, इसके प्रतिष्ठित उस निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण
अपने को प्रधान बना लेता है । इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की सममपानता ही है । इस
प्रकार ॥ प्रकारों में प्रत्येक के दो-दो प्रकारों पर विचारकर साक्यलक्षण तृतीय प्रकार की
परीक्षा की जा रही है । उसमें भी दो प्रकार होते हैं—क्ष्मी वाच्य अप्रस्तुत से चमत्कार
होता है और व्यङ्ग्य तन्मुत्प्रेक्षी होता है । जैसे हमारे उपाध्याय मट्टेन्दुराज का—

वारावली

‘मुझे समुद्र मयन से पूर्व पारिजात से रहित स्वर्ग, मधुमयन मयवान् विष्णु का कौस्तुभ
तथा लक्ष्मी से रहित वज्रवत् तथा मयवान् शंकर का मुग्धचन्द्रसूत्र जटामाग्नार बाद आ
रहा है ।’

जाम्बवान् यहाँ पर कहना यह चाहते हैं कि एक मन्त्री में अनेक उपाधव गुण होने
चाहिये । जब तक वे गुण नहीं होते बहुत समय तक मन्त्री पद का निर्वाह नहीं हो सकता ।
जाम्बवान् में वे गुण ये सभी लिये उन्होंने मन्त्री पद में इतने दिनों तक सफलता प्राप्त की कि
वे उस समय से मन्त्री पद पर कार्य करते गये हैं जब कि समुद्र मयन भी नहीं हुआ था ।
महाँ पर जाम्बवान् में मन्त्री पद के अनेक गुण कारण हैं जिससे उनका इतने समय तक सफल
रहना और इतने समय पूर्व का स्मरणरूप कार्य समग्र हुआ है । जाम्बवान् ने यहाँ पर मग
वान् के वैष्णुभक्तलक्ष्मीगुण वज्रवत् के स्मरण इत्यादि कथों का वर्णन किया है जो कि अप्रस्तुत
हैं । यह अप्रस्तुत का वर्णन वृद्धसेवा, चिरजोवन, स्मरहारवृत्तलता इत्यादि मन्त्रित्व के वा

चारावती

कर लिखा ।) उन सभी शेष अलंकारों में ध्वनि के समावेश का एक साधारण उदाहरण आलोककार ने बगले श्लोकों में दिया है । आशय यह है कि प्रत्येक अलंकार को लेकर वहाँ तक लिखा जावे । अभिनवगुप्त ने 'इत्यादि' शब्द से व्याजस्तुति और मात्र का दो अलंकारों पर और विचार किया है । उनमें पहले व्याजस्तुति का छोड़िये । [व्याजस्तुति के विषय में भाषाचीन और नवीन मतों में भेद है । प्राचीन आचार्य 'व्याजेन स्तुति' इस तत्पुरुष समास के आधार पर जहाँ निन्दा बाध हो उसे व्याजस्तुति मानते हैं । किन्तु नवीन आचार्य 'व्याजरूपा स्तुति' यह कर्मधारय समास और ओझर दोनों स्थानों पर व्याजस्तुति मानते हैं—(१) जहाँ प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिये निन्दा को बाधे, अथवा (२) जहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति के लिए प्रशंसा की बाधे । यहाँ पर ओचनकार ने केवल उभयसम्मत प्रथम प्रकार की व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है ।

'दुसरो के घर की बात से हमें क्या ? किन्तु मैं चुप बैठने में असमर्थ हूँ । क्षणिकाय लोग स्वभाव से ही मुखर होते हैं । दुख की बात है कि हे राजन् ! आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर, बानारों में, वीराहो पर और पानगोष्ठियों में उमच के समान बहाँ बहाँ दूम रही है ।'

यहाँ पर प्रशंसात्मक व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है । किसी ने व्याजस्तुति का यह उदाहरण दिया है—

ह राजन् ! पृथ्वी पहले तुम्हारे दादी थी, इसके बाद माता बन गई । इस समय अन्तु रात्रि की मेरछा से विभूषित वह गूमी तुम्हारे कुल की वृद्धि के लिये तुम्हारी धर्मपत्नी बन गई । जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब वही तुम्हारी अभिन्दनीय पुत्रवधू बन जावेगी क्या समस्तनीति पारङ्गु राजाओं के तब मैं बह ठीक । ?'

यह उदाहरण हमें (अभिनवगुप्त को) अत्यन्त गंवाह मालूम पड़ता है क्योंकि इससे बहुत ही असम्पन्न स्तुति जागृति होती है । (फिर जिस प्रशंसा के लिये का कर्म ने दादी को माँ, माँ को पत्नी और पत्नी का पुत्रवधू बनाया) यह प्रशंसा इसने क्या कर दी ? बहो न कि तुम बस परम्परा से राजा हो । यह क्या बात हुई । बस परम्परा से तो राजा हुआ ही करते हैं । इसमें प्रशंसा क्या का गई ? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयग्राही में निन्दित मानी जाती है, अतएव इसकी अपेक्षा हटा करनी चाहिये ।

अब मात्रालंकार का छोड़िये । (मात्र को रूद्र ने अलंकार माना है ।) उद्गान मात्रालंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

जिस अनुराग वददि विषय प्रकार का चित्तवृत्ति से उत्पन्न दुष्मा वाग्व्यापार इत्यादि विचार निश्चितरूप से उस चित्तवृत्ति को जिम हतु से व्यक्त किया करता है वह हतु ही मात्रालंकार कहा जाता है ।'

लोचनम्

प्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य समत्कारित्वम् । नद्यचेतनोपाहमप्रवदसम्भाष्य-
मानोऽयमर्थो न च न ह्य इति बाध्यस्यात्र प्रधानता । यदि पुनरचेतनादि-
नात्यन्तासम्भाष्यमानवद्व्यवित्तपणेनाप्रस्तुतं वर्णितं प्रस्तुतमाक्षिप्यमाण
समत्कारकारि तदा वस्तुष्वनिरसौ । यथा ममैव—

मावमात हृदाम्नस्य हृदयान्याक्रम्य यच्चतयन्
भद्राभिर्विकिपाभिरामहृदयं प्रच्छाद्य सद्वकीरसे ।
स स्वामाह जड एव सद्वदयम्मन्यत्वदुर्दिशक्षितो
मन्त्रेऽमुष्य जडा मतास्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

तथापि अप्रस्तुत वेतालवृत्तान्त का ही समत्कारित्व है । अचेतन के उपाहम के समान यह
अथ असम्भाष्यमान नहीं है और न यही है कि हृदय न हो, इस प्रकार यहाँ पर बाध्यत्व की
प्रधानता है । यदि पुनः अत्यन्त असम्भाष्यमान अप्रस्तुतार्थ विशेषणोंवाले वचन किये हुये
अप्रस्तुत के द्वारा आक्षिप्त किया हुआ प्रस्तुत चरित्रकारकारक हो तो वह वस्तुष्वनि हाथी है ।
जैसे मेरा ही—

‘हे मावसमूह ! जो कि हृत्पूजक व्यक्तिके हृदय को आक्रान्त कर तबाले हुए विविध
महिमाओं से अपने हृदय को आच्छादित कर कोटा करत हो, वह तुमको नष्ट नष्टा है और
उससे अपनी सद्व्यवस्थता से दुर्दिशक्षित है । इसकी जहायता को मैं तुम्हारे साम्य की सम्भा-
वना से प्रशंसा ही समझता हूँ ।’

वाराबली

ही है । (क्योंकि ‘हृदय’ तुम्हारा अकार किंवा किन्तु तुम अकार कर रहे हो, यह तुम्हें
सोमा नहीं देता’ इस अक्षिप्त न्यय की अपेक्षा वेताल के प्रति मायसमर्पण इत्यादि उक्त वाक्य
अधिक समत्कारकारक है ।) यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अक्षिप्त के वेताल के प्रति एत
वाक्यों के प्रयोग में असम्भवता का प्रतिपाद होता है अथ वाक्य सुन्दर नहीं हो सकता ।
जिस प्रकार अचेतन के प्रति उपाहम सम्भावना क्षेत्र से बाध्य होते हुये भी असुन्दर नहीं
होता उसी प्रकार यह अर्थ भी असुन्दर नहीं है । काव्य में इस प्रकार के वचन असम्भव नहीं
माने जाते । लोक के मानदण्ड सत्र काव्य के मानदण्ड नहीं होते । अतएव वाक्य अर्थ की
ही यहाँ पर प्रधानता है और यहाँ पर सारूप्यनिश्चय अमनुजमर्यादा अलंकार ही है ध्वनि
नहीं । (२) दूसरे प्रकार की साहचर्यवन्धन अमनुजमर्यादा से रचान पर कही जा सकती
है नहीं अत्यन्त असम्भव विशेषणों के द्वारा अचेतन इत्यादि अमनुज का वचन दिया जाता
है और उससे चेतन प्रस्तुत का आश्रय कर लिखा जाता है तथा अक्षरपरमाणु उची मति
प्रस्तुत अर्थ में ही होता है । अतः उसी अर्थ की प्रधानता होती है । यहाँ पर अप्रस्तुत
प्रसंगालंकार नहीं होगा । उसका समावेश व्यंग्य की प्रधानता के कारण ध्वनि वाक्य के
अन्तर्गत होगा । उदाहरण के लिये जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) पद्य—

बोचनम्

यत्रेति काव्य अलङ्कृत्य इति । अलङ्कृतिरित्यादयः च वाच्योपस्कारकत्वम् । प्रतिभामात्र इति । यत्राप्येमादौ म्लिष्टार्थप्रतीतिः । वाच्यार्थानुगम इति । वाच्य-
नार्थानुगम सम प्राधान्यमप्रस्तुतप्रसङ्गायामिवत्यर्थः । न प्रतीयत इति । स्फुटतया प्राधान्यं न प्रकाशितं, अपितु बलवत्कल्प्यत । तथापि हृदयं वाचुः प्रविशति । यथा 'दे आ पसिअ णिवत्तमु' इत्यत्र-पशूनां म्याप्यासु । तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिम्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्यं म्लिष्टप्रतीतिः । वाच्यं न समप्राधान्यं स्फुटप्राधान्यं च । न च सद्यसावित्याह तत्परावेवेति । सङ्कराजङ्कारानुप्रवेशसम्भावनाया उग्लित इत्यर्थः । सङ्कराजङ्कारणवित्त्वसत्, अभ्यासकङ्कारापक्षयत्वे हि किञ्चित् स्यात् ।

जहाँपर का अर्थ है वाच्य में । अलङ्कृत्य । अलङ्कार हाने के कारण ही वाच्य के उपस्कारक होते हैं । प्रतिभामात्र अर्थात् जहाँ उपमा इत्यादि में मलिन अर्थ की प्रतीति होती है । वाच्यार्थानुगम का अर्थ है जहाँ वाच्य के साथ अनुगम हो अर्थात् अप्रस्तुतप्रसङ्ग के समान समप्राधान्य । न प्रतीयते स्फुट रूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती अपितु बलवत् कल्पित कर ली जाती है तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होती । जैसा कि 'दे आ पसिअ णिवत्तमु' की दूसरी दारा की नुह व्याख्याओं में । इससे चारों प्रकारों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । व्यङ्ग्य के होनेपर भी अप्राधान्य होनेपर, मलिन प्रतीति में, वाच्य के साथ समान प्रधानता होनेपर और प्राधान्य के स्फुट न होनेपर । तो फिर यह होता कहाँ है ? यह कह रहे हैं—'तत्परावे' इत्यादि । सङ्कर के द्वारा अर्थात् अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना के द्वारा छोटा हुआ । सङ्कराजङ्कार के द्वारा यह ठीक नहीं है । अन्य अलङ्कारों का उपलक्षण मानने पर तो अर्थ किष्ट हो जावेगा ।

वारावली

भारालङ्कार को इस प्रकार समझिये यहाँ पर नाविका ने ब्रितने भी दावद कहे हैं उनमें एक व्यञ्जना निकटवर्ती है । अब तक व्यङ्ग्यार्थ को न स्वीकार किया जावे अब तक उसके उन दावदों का प्रयोग ही सार्वक नहीं होता । पर का स्वामा परदेग को खड़ा गया है न एक तो अनेको दूसरे अनेको और तेसरे तृष्णी यह सब कहने का आज्ञा सर्वसाधारण के प्रति तो यह है कि तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं है, किन्तु नाविक के प्रति इसका आशय यह है कि भाव बड़ा अच्छा अवसर है तुम्हें यहाँ अवश्य रहना चाहिये । 'चला गया है मैं भूतकाष्ठ का आशय यह है कि उसे गये पर्वत समस हा गया अब उसके लौटने का सम्मानना नहीं, 'विराग' का अर्थ यह है कि वह कहीं निकट ही नहीं गया है, जहाँ वह गया है वह स्थान बहुत दूर है अब वह किसी प्रकार भी लौट नहीं सकता । मैं अनेको हूँ का अर्थ यह है कि यहाँ कोई और अंकट नहीं रहगा, 'अवठा' का अर्थ है तुम्हें मुझसे भय या सद्भाव नहीं करना चाहिये, 'तृष्णी' का अर्थ है मेरा योगन आकर्षक है । नेवारी साध अभी और

लोचनम्

महागम्भीरोऽतिविदग्ध सुशुभ्रवर्णानोऽतिशयन क्रीडाचतुर स यदि लोकन जट इति तत्र एव कारणात् प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावनानिमित्तसम्भावित, आत्मा च यत्र एव कारणात्प्रत्युत जात्येन सम्भाव्यतत्र एव सहृदय सम्भावितस्तदस्य लोकस्य उदासीति यद्यप्यत्र तदा जात्यमवविधस्य भावमातस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रयुत स्तुतिरिति । जटादपि पार्श्यानाय लोक इति ध्वन्यत ।

उदाह—यदा त्विति । इतरथा त्विति । इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वमलङ्कारविरोपत्व न व्यङ्ग्यस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यम्, इति भावः ।

अत्र च विदग्ध मठीमाँति गवरहित आत्मा क्रीडाचतुर होता है । वह यदि लोक के द्वारा वैदग्ध्य सम्भावना में निमित्त उन्ही कारणों से प्रयुत 'जट है' इस रूप में सम्भावित कर दिया जाता है और जिन कारणों से अपने को जटाय के रूप में सम्भावित किया जाना चाहिये वही कारणों से (अपने को) सहृदय समझता है वह इस लोक के लिये 'जट हो' यह जो कहा जावे वह इस प्रकार के विदग्ध भावसमूह की जटाय प्रसिद्ध है इस प्रकार वह प्रयुत शक्ति ही है । यह लोक जट से भी अधिक पापवाला है वह ध्वनित होता है ।

यहाँ कहते हैं—यदा' त्विति । इतरथा' त्विति । अन्य प्रकार से ही अलङ्कारान्तरत्व कर्मात् विशेष प्रकार का अलङ्कार होता है । जायस यह है कि व्यंग्य का किसी प्रकार भी प्राधान्य नहीं होता ।

परावर्ती

के मन की वृद्धता और चिन्ता से जनस्रोत कहते हैं तथा किसी सव गी के मन्द ध्रुव को महानपरवस कर देते हैं । इस प्रकार वे भावसमूह जब जैसा चाहते हैं लोगों के हृदयों में विकार उत्पन्न करते हुए वस्तुपूर्वक उसे नकारा करते हैं, कोई नहीं जान पाता कि वे भावसमूह स्वयं किस प्रकार के हैं । अतुत वे भावसमूह स्वयं तो बड़े ही गम्भीर, अतिशुभ्र मठीमाँति गवरहित और दूसरों के साथ चिन्ताक करने में जटाय चतुर हैं । वही कारणों से (अपने को अपने को डिपाने के ही कारण) छग व हैं जट समझते हैं जब कि इन भावों का आत्मन विदग्ध समझना चाहिये । जिन कारणों से अपने को जट समझना चाहिये व ही कारणों से छोग अपने को सहृदय समझते हैं । जायस यह है कि विदग्ध वस्तुओं को जट समझने के कारण छग स्वयं तो जट हैं और अपने को सहृदय समझता है । इससे वही जटाय और वदा हो उचती है कि विदग्ध को जट और जट को विदग्ध कहा जावे । ऐसे लोक के लिये यदि जट कहा जावे और इस प्रकार के भावसमूह से व्यंग्य दी जावे जा विदग्ध लोगों के लिये व्यङ्ग्य में प्रसिद्ध हो चुके हैं तो यह ट-को प्रस्ता ही होगी । जायस यह है कि यह ससार जट व्यंग्य की अद्वेया भी अधिक पापी (जट, मूर्ख) है । [यहाँ पर 'जट जगत् को जट कहनेव ले मूल है' इस वचनार्थ में उतना जम कार नहीं है किना किसी वनी लोगों का मानने वे 'टये स्वयं जट नी जट जने के व्यङ्ग्य' में है । जट यह ध्वनि का छग है ।

ध्वन्यालोक

'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपजेयमुक्तिं न यथाकृच्छ्रिष्यतेति प्रतिपाद्यते । प्रथमं हि विद्वांसो वैश्याकरणा, व्याकरणमूलरवात् सर्वविद्यानाम् । ते च ध्वन्यमाणुष्येण ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिमिर्याच्यवाचकसम्मिश्र- शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः ।

(अनु०) 'विद्वानां के द्वारा अभिविष्ट किया जाता है इस कथन में विद्वानों के द्वारा कहने का आशय यह है कि इस ध्वनि सिद्धान्त का आरम्भ विद्वानों ने किया है, यह यहाँ मनमान रूप में प्रचलित नहीं हो गया । अतः इसका प्रतिपादन किया जाता है । वैश्याकरण हो प्रथम कटि के विद्वान् माने जाते हैं क्योंकि सब विद्याओं के मूल में व्याकरण ही है । वे लोग वषों के चुनाव करनेवाले माग को ध्वनि कहते हैं । उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करनेवाले दूसरे काव्यशास्त्रवेत्ता विद्वान् भी इन चार अर्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं— (१) वाच्यार्थ के लिये (२) वाचक शब्द के लिये (३) सम्मिश्र अर्थात् विभाव अनुभाव रत्नादि के सुयोग से होनेवाले व्याख्यान के लिये । (४) आ ना रूप में स्थित शब्द के द्वारा अर्थात् व्यञ्जनावधारण के लिये । इन चारों के अतिरिक्त काव्य नामक पदार्थ को भी ध्वनि कहते हैं क्योंकि वह भी उक्त चारों प्रकार का एक सम्मिश्रित रूप ही होता है ।

लोचनम्

विद्वदुपजेति । विद्वज्जय उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उत्तेरिति बहुव्रीहिः तेन 'उपज्ञापक्रम' इति उपपत्त्याध्वय नपुसकत्वं निरवकाशम् ।

विद्वदुपजेति । विद्वानां से ज्ञान वर्णा प्रथम वर्णम् है जिस व्यक्ति का इस प्रकार बहुव्रीहि है । इससे 'उपज्ञापक्रम' इत्यादि शब्दों से उपपत्ति के अर्थों होनेवाला नपुसकलिंग निरवकाश हो जाता है ।

सारावली

हो ही नहीं सकता । अब प्रश्न यह है कि पुनश्च कहे हम एक अवयव अवयवी न मानें; समुदाय के अन्दर हा उस अवयव और अवयवी को एकलक्षण क्यों न मान लें ? इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में भी केवल एक अवयव ही पूरा समुदाय कैसे करा जा सकता है ? अवयवों के समुदाय को ही अवयवी कहते हैं । अतएव एक अवयव का पूरे अवयवी से तादात्म्य हो ही नहीं सकता । दूसरी बात यह भी है कि उस समुदाय में प्रतीयमान अर्थ भी एक अवयव होगा जो कि प्रधान रूप में स्थित होने के कारण कभी भी अलंकाररूपता को प्राप्त हो नहीं हो सकता और यदि प्रतीयमान अब अवधान होगा तो उसे ध्वनि का संज्ञा प्राप्त न हो सकेगी । इन कारणों से कई मौ व्यक्त यह नहीं कह सकता कि अलंकार में स्थित अलंकार ही वही ध्वनि का रूप धारण किया करते हैं । (प्रश्न) निम्नदेह दुमने किसी अलंकार को ही प्रधानता का अभिवेक देकर 'ध्वनि' यह नाम द दिया है और उसी को काव्य की

लोचनम्

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तृण्यो स्यात् प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरं पानगाष्टया-
मुन्मत्तेषु भ्रमति मन्त्रो बहुमाहन्त कति ॥

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्नेन वाच्यमनोपस्क्रियत । यत्तद्वाह्यं केनपि-
भार्ताज्ञातं पितामही तत्र मही, जाता ततोऽनन्तरं
माता, सम्प्रति सान्पुराशिशना जाया कुलोद्भूतम् ।
पूर्वो वर्षकाले भविष्यति पुनः सेवानवया स्तुता
युक्तं नाम समग्रनातिविदुषां किं भूषणां कुल ॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिमात्यस्य गतासम्यग् स्मृतिरित्युक्त्वा । का चानन
स्तुतिरिति कृता ? त्वं वशाक्रमणं राजति हि कियदिदम् ? इत्यवग्राह्या व्याजस्तुति
सहृदयगोष्ठापु निन्दितेऽनुपक्षयैव ।

यस्य विकारः प्रमदस्य प्रतिबन्धस्तु इतुना चन ।

यमयति तमसिप्रायः तत्प्रतिबन्धः च भावाऽसौ ॥

‘दूसरे के घर में होनेवाले वृत्तान्त से क्या ? किन्तु मैं यौन होकर स्थित होने में समर्थ
नहीं हूँ क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव प्राकृतिक रूप में मुस्कराता है । यदि है कि आपकी
मियतमा कीर्ति घर-घर में, नाजारों में, खोराहों पर, मण्डपाओं में जन्मल के समान घूमती
रहती है ।’

यहाँ पर जो स्तुत्यात्मकं व्यङ्ग्य है उससे वाच्य ही उपरहित होता है । जो किसी ने
कदाहरण दिया था—

इं नाय । पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, उसके बाद माता बन गई अब कुछ भी उद्भूति
के लिये अमुराशिरूपी रमणा के सहित तुम्हारी जाया बन गई । अब तो वह पूरे है । जायने
तो वही तुम्हारी अनिन्दनाय पुत्रवधू है जायेगा । समस्तनातिवर्ष में निपुण राजाओं के घर में
क्या यह अवित है ?’

यह हमें ग्राम्य ही मदीन होता है क्योंकि यह अत्यन्त असम्यग् स्मृति में दृष्ट है । आर
इसने स्मृति की क्या ? तुम वशाक्रम से राजा हो यदि किन्तो स्मृति दुर्ग ? इस प्रकार की
व्याजस्तुति सहृदयों की गालों में निन्दित ही होता है अतः इसकी उपराहो की जानी
चाहिये ।

‘जिसका अभिव्यक्ति विकार प्रादुर्भूत होता है जिस दृष्टि से वह अभिप्राय का व्यङ्ग्य होता
है वह प्रतिबन्ध (इतु) वाच्य होता है ।

सारावली

मनु जो ने वैय्याकरणों को पछिछावन लिखा है और पुण्यदन्त ने तो यहाँ तक कहा है कि—'वैय्याकरणों के सुधामधुर स्निग्ध बचनों से व्यापूर्णकर होकर यदि मुझे रहना पड़े तो मैं देशी के शाप से मृत्युलोक में जन्म लेने को भी भय्य समझूँगा ।')

[जैसा कि पहले बज्जारा या चुक्रा है ध्वनिकार को ध्वनि को किसी शाचीन परम्परा का धान या और वह परम्परा आलोककार के समय तक नष्ट हो गई थी। यहाँ पर ध्वनिकार ने 'धूरियि. कवित' कहकर उसी परम्परा की ओर सन्नत किया है, किन्तु आलोककार को ऐसी किसी परम्परा का धान नहीं था। अतएव उन्होंने इस कथन की सङ्गति मिटाने के लिए कल्पना कर ली कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रादुर्भाव वैय्याकरणों के स्फोटवाद से हुआ है। अभि-
नव गुप्त मन्दट इत्यादि बाद के सभी आचार्यों ने इसी व्यवस्था को ठोक मारा। यद्यपि 'जहाँ पर शब्द और अर्थ धारण को गोचर बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वानों ने ध्वनि सदा प्रदान की है' इस कथन का यह आशय कभी नहीं हो सकता कि 'विद्वानों ने स्फोटवाद का प्रतिपादन किया था और उसके आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।' यद्यपि वैय्याकरणों के स्फोट और काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त में कुछ साम्य अवश्य है, यह भी सम्भव है कि पहले पहल साहित्य शास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रवर्तन वैय्याकरणों के अनुकरण पर हुआ हो और बाद में उस सिद्धान्त का विस्तार कर पूरा काव्यशास्त्र उससे आर्जित कर दिया गया हो। अतएव यहाँ पर स्फोटवाद का सशित परिचय मात्र कर देना आवश्यक है।

वैय्याकरण लोग शब्द और अर्थ का तादात्म्य मानते हैं 'जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है।' यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक में अर्थ की ओर कितनाई देखा जाती है वे शब्द की ओर नहीं होती? यदि सहृद शब्द और अर्थ दोनों एक हैं तो जिस प्रकार शब्द अर्थ (वस्तु) से कुछ मीठा हो जाता है उसी प्रकार शब्द शब्द से भी कुछ मीठा हो जाना चाहिये। अग्नि शब्द से मुँह बल जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस शब्द का समाधान वैय्याकरण इस प्रकार करते हैं कि किसी भी शब्द का वाच्य अर्थ नहीं होता किन्तु प्रत्येक वस्तु का एक मात्रामक चित्र हम लोगों के अन्तःकरण में बना होता है। वह आकृति ही ज्ञात कहलाती है—'आकृतिर्वाच्यवद्वाच्य' वह आकृति ही शब्द का वास्तविक अर्थ होती है। शब्दों को बीजाक्षर कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनों को सदा अन्तः-
करण में होती है, अतः दोनों का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। इस विषय में वैय्याकरण का सिद्धान्त अनेकवादी वेदान्तियों के बहुत निकट पड़ता है। अनेकवादी वेदान्ती दृश्यमान जगत् को भ्रमनाश्र मानते हैं। अज्ञान वस्त्र को जान लेने से उस भ्रमका निराकरण उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार आगने के बाद दृश्यमान स्वप्नजगत् का अन्तर्धान हो जाता है। दृश्यमान भ्रमनाश्र विषय के सब पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु ज्ञान के

श्रोतवन्

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता । यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी
वाग्व्यापाराद्विकारोऽप्रतिबन्धो नियत प्रभवस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं
येन हेतुना गमयति स हेतुसंश्लेषभोगवत्त्वादि लक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः । यथा—

एकाकिनी यदबला तस्मिन् तथाहमस्मिन् गृहे गृहप तथ गतो विदेशम् ।

क याचते तदिह वासमिव वराकी अधर्ममान्धवधिरा ननु मूढ वान्ध ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारोति वाच्य प्रधानम् । व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु
न काचिदलङ्कारवेति निरूपितमित्यल्ल बहुना ।

यहाँ पर भी वाच्य की प्रधानता में भावालङ्कार होता है । जिस विशेष प्रकार की चित्त
वृत्ति से सम्बन्ध वाग्व्यापार इत्यादि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत रूप में उत्पन्न होते हुये
उस चित्तवृत्तिरूप विशेष अभिप्राय को व्यक्त करता है; वह हेतु अर्थात् वयेष्ट भोग्यत्व इत्यादि
लक्षणवाला वह अर्थ ही भावालङ्कार होता है । जैसे—

‘जो कि मैं इस घर में अकेली अबला तथा तस्मिन् हूँ, मेरा गृहपति विदेश चला गया है;
तो यहाँ निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो । अरे मूर्ख वान्ध ! यह मेरी बात नि सन्देह
अन्धी और बहरी है ।’

यहाँपर व्यङ्ग्य एक-एक पद में सहायक है । अतः वाच्य की ही प्रधानता है । व्यङ्ग्य
की प्रधानता में तो कोई अलङ्कारता नहीं होती, वह निरूपण कर दिया गया है, अधिक
कहने से क्या ?

साक्षात्

इसमें भी भाव ठीकी अलङ्कार बनता है जब वाच्य की प्रधानता हो । अतएव यह है कि
विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण वाणी का व्यापार इत्यादि जो विकार उत्पन्न हुआ हो
वह यदि उस चित्तवृत्ति को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ हो तो जिस हेतु उस अभिव्यक्ति का
उद्भव होता है वह हेतु ही भावालङ्कार कहा जाता है । इस प्रकार का हेतु हो सकता है
वयेष्ट वपभोग्यता इत्यादि । जैसे—

काह प्रोपितपातिका निवाससंशय के इच्छुक किसी पक्षिक से कह रही है—‘हे मूर्ख
पक्षिक ! तुम देख रहे हो कि इस घर में मैं अकेली हो तस्मिन् अबला हूँ मेरे घर का स्वामी
भी विदेश चला गया है । बेचारी तुड़ी बात एक तो अन्धी है दूसरे बहरी, फिर तुम निवास
की प्रार्थना किससे कर रहे हो ।’

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा वयेष्ट वपभोग्यता रूप अभिप्राय की सूचना मिलती है ।
व्यङ्ग्य एक-एक पद का सहायक बनता है । अतएव वाच्य की ही प्रधानता है । यदि यहाँ
पर (या वही अन्यत्र) व्यङ्ग्यार्थ प्रधान माना जावेता तो इसे अलङ्कार सदा मात ही नहीं
हो सकेगी । इस प्रकार यहाँ तक पूर्णरूप से ‘स्वभनामूलक अलङ्कारों का भ्रम में अन्तर्भाव
नहीं हो सकता यह सिद्ध कर दिया गया । अब अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता ? [अल

छोचनम्

ध्रुवमाणेष्विति । ओषधशब्दकुर्वी सन्तानेनागता मन्त्र्याः शब्दाः ध्रुवन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः ध्रुवमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं ताव-
दस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह मगवान् मर्तुहरिः—

ध्रुवमायेति । ओष-शब्दकुर्वी में परम्पराप्रवाह से आये हुये अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं इस प्रक्रिया में अन्तिम शब्द अतिशोचर होते हैं यह कह दिया गया । उनका घण्टानुरणन-
रूप है ही, वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे गये हैं । जैसा कि मगवान् मर्तुहरि ने कहा है—

वारायती

समसना चाहिये जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृमता से आत्मा में कृमता नहीं होती अथवा ठेठ मुकुट छह श्यादि विभिन्न वस्तुओं में देखने पर मुखाकृति विभिन्न प्रकार की मतीत होती है किन्तु कुछ में भेद नहीं होता उसी प्रकार औषधिक ध्वनिभेद होने पर भी स्फोट में भेद नहीं होता । यह स्फोट सिद्धान्त का सार है । वैय्याकरण स्फोट के अक्षकों को ध्वनि कहते थे । उनके मत में ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति होगी—‘ध्वनतीति ध्वनिः’ । साहित्यशास्त्रियों ने इसी ध्वनि शब्द को लेकर उसका और अधिक विस्तार किया । उन्होंने ध्वनित करना एक सामान्य धर्म ठे छिया और जिसने भी ध्वनित करनेवाले वस्तु से उन सभी का समवेग ध्वनि में कर दिया । इस प्रकार रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, वाक्य रचना इत्यादि समस्त अक्षरक वर्ग इस ध्वनि शब्द से समुदीृत होने लगा । केवल इतना ही नहीं बलितु अर्थ भी यदि दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो वह भी अक्षरक वर्ग में सन्निविष्ट हो गया । यह व्यञ्जनक अर्थ वाक्य भी हो सकता है, लक्ष्य भी और यदि एक व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा दूसरा अर्थवाच्य अभिव्यक्त होने लगे तो व्यङ्ग्यवाच्य भी व्यञ्जनक कोटि में आ जावेगा । ध्वनि शब्द का वही एक विस्तार नहीं हुआ बलितु उसकी कर्म साधन व्युत्पत्ति को मानकर व्यञ्जनात् अर्थ को भी ध्वनि सत्ता प्रदान की गई और इस प्रकार वस्तु अलङ्कार और उस दोनों का समवेग ध्वनि में हो गया । इसके अतिरिक्त मावसाधन व्युत्पत्ति का आभार लेकर व्यञ्जना की प्रक्रिया को भी ध्वनि शब्द से अभिविहित किया जावे लगा । हाथ ही इन सबका समूह काव्य भी ध्वनि के क्षेत्र में आ गया । इस प्रकार काव्य के लिये उपर्युक्त समस्त सामग्री का अन्तर्भाव इस ध्वनि शब्द में हो गया और ध्वनि ने काव्य की आत्मा का रूप धारण कर लिया ।

‘वैय्याकरण लोग श्रवणेंद्रिय द्वारा शोचर किये हुये वर्णों के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं ।’ ॥१॥ कथन का आशय यह है कि परम्परा द्वारा शब्द कर्णविचर तक पहुँचते हैं और अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं । ॥२॥ प्रक्रिया के अनुसार शब्दज शब्द ही सुनाई पड़ते हैं यह कहा गया है । जिस प्रकार वक्ता को ध्वनि में अनुरणनरूपता होती है अर्थात् शब्द होने के बाद एक प्रकार का सञ्चार सुनाई पड़ता रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण के

लोचनम्

नन्वबद्धार एव कश्चित्त्वया प्रधानतामिषेक दृष्ट्वा ध्वनिरित्यारमेति चोक्त इत्यानाह—यथापि चेति । नहि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासी तथा-
स्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यबद्धारस्वरूपस्य
समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इत्यादि 'कस्म वा ण'
इत्यादि, उदाह—तद्विष्टत्वमेवेति ।

अलंकार को हो तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि और आना यह कह दिया है' यह शङ्का कर के कहते हैं—यथापि चेति । समासोक्ति इत्यादि में कोई एक ही हम दोनों में बैठा हो नहीं कर दिया है क्योंकि उससे मित्र में भी उसको सत्ता होती है, क्योंकि समस्त समासोक्ति इत्यादि अलंकारस्वरूप के अभाव में भी उसे दिखलाया जा चुका है (जैसे) 'अत्ता एत्थ' इत्यादि और 'कस्म वा ण' इत्यादि । यह कहते हैं—तन्निष्ठत्वमेव इति ।

तारावली

प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता—(१) व्यङ्ग्यार्थ के होते हुए भी जहाँ उसकी प्रधानता न हो (२) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मस्तिता के साथ प्रतीत हो रहा हो । (३) जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का एक ही प्रधानता हो (४) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्रधानत्व शुद्ध न हो । अब मन्त्र बोलता है कि तो फिर व्यङ्ग्यार्थ होता कहाँ पर है ? इसका उत्तर अन्तिम कारिका में दिया गया है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक होते हैं वहीं सकार से रहित विषय ध्वनि का होता है । यहाँ पर सकार का अर्थ है किसी भी अलंकार का अनुपवेश । आशय यह है कि वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि का रूप धारण करता है नहीं उसके किसी दूसरे अलंकार में प्रविष्ट होने की संभावना नहीं । वहाँ पर सकार का अर्थ सकारालंकार नहीं है क्योंकि वहाँ पर देखकर का मन्त्रव्यक्ति भी अलंकार में ध्वनि के समावेश का निराकरण करना है । यदि सकार को दूसरे अलंकारों का व्यष्ट्यापमानकर भावना को भावे तो यह निष्ठ करण होगी ।

उपर बोलता है कि अलंकार वाच्य-नाचक भाव का आशय लेकर प्रवृत्त होते हैं और ध्वनि व्यङ्ग्य-नाचक भाव का आशय लेकर प्रवृत्त होती है । यह एक दूसरे का विरोध है । अतः ध्वनि और अलंकारों का तादात्म्य नहीं हो सकता । केवल इतना ही नहीं अतिरिक्त ध्वनि स्वामिगानाय है और अलंकार इत्यादि भूयस्वस्वीय । दूसरे शब्दों में ध्वनि अज्ञो है और अलंकार इत्यादि ज्ञः । जिस प्रकार स्वामी का समावेश भूयस्वर्ग में नहीं हो सकता अथवा जिस प्रकार भद्रों का ज्ञ में समावेश नहीं हो सकता उसी प्रकार ध्वनि का भी अलंकारों में समावेश नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की एकता सामान्य नियम के विरुद्ध है । अवयव और अवयवी इन दोनों का तादात्म्य दो प्रकार से हो सकता है एक तो अवयवी अवयव से एक करके उसे पूर्ण ज्ञ मानकर और दूसरे अवयव की समुदाय के अन्दर हो रहा हुये । एक-एक अवयव एक-एक होकर पूरे अवयवी के रूप में प्रसिद्ध हो जाये, ऐसा

लोचनम्

एत घण्टानिर्हादस्थानीयऽनुरणनाधोपलक्षितो ध्वन्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यददत । तथा श्रूयमाणा य वर्णा नादशब्दवाभ्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यफोटाभि म्यत्रकास्त ध्वनिशब्देबोद्धाः । यथाह मगवान् स एव—

इस प्रकार घण्टानिर्हाद के समान अनुरणन आत्मा से उपलब्धित व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि के रूप में व्यञ्जन किया जाता है । उसी प्रकार नादशब्दवाच्य जो श्रूयमाण वच अन्त्य बुद्धि के द्वारा किये जानेवाले शब्दों के अभिव्यञ्जक होते हैं वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे जाते हैं । जैसा कि उही मगवान् ने कहा है—

तारावली

लहरी से भर जाता है । इसी प्रकार बीचोबीच में जब शब्द प्रविष्ट होता है वह उसको लहरी एक के बाद दूसरी उठकर कर्ण विपर तक पहुँचती है जहाँ प्राहक यत्र के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है । दूसरा न्याय है करम्बमुकुट न्याय । जैसे करम्बमुकुट के शीर्ष में एक कठ्ठी सी होती है जिससे एक शूल सा बनकर समस्त मुकुट को आवेष्टित कर लेता है । वही शब्द की भी दशा है । वस्तुतः बीचोबीच न्याय ही ठीक है क्योंकि उसमें शब्द की एकता अक्षुण्ण बना रहती है । जलधारा में उठनेवाली तरंगें एक ही होती हैं किन्तु करम्ब का कलियों में वैसी एकता नहीं होती । अतः आचार्यों ने बीचोबीच न्याय को ही स्वीकार किया है करम्ब मुकुट न्याय का नहीं । बीचोबीच न्याय से उत्पन्न होनेवाले शब्द को शब्दज शब्द कहते हैं । उत्पत्तिवादियों के अनुसार शब्द के दो भेद हैं ध्वनि और वर्ण । शरीर इत्यादि के अभिप्राय से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं और कण्ठवायु इत्यादि के अभिप्राय से उत्पन्न शब्द वर्ण कहलाते हैं । इस सम्बन्ध में प्रभुत्व लोचन का न्याय करना चाहिये । 'श्रीवशाकुटी ने शब्द सन्तान (परम्परा) से आते हैं' का आशय यह है कि शब्द बीचोबीच न्याय से कर्ण कुहरा में प्रविष्ट होकर प्राहक यत्र के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं । 'शब्दज शब्द का न्यायना की हो ना चुकी । शब्दज शब्द का प्रत्यक्ष अनुमय पष्ठानुरणन में होता है । पष्ठ के वज्र चुकने के बाद जो उसमें एक प्रकार की झड़ार होती रहती है वही शब्दज शब्द का स्वरूप है । कारिका में सयोग और वियोग का आशय लेकर साधनों के द्वारा शब्द के उत्पन्न होने की बात कही गई है । ये साधन ध्वनि में मृदङ्ग इत्यादि का अभिवाद्य और वर्णों में कण्ठ वायु इत्यादि का अभिप्राय हो सकते हैं ।]

जिस प्रकार पष्ठानाद में अनुरणनरूपता होती है और उस अनुरणन को ध्वनि सन्तान से अभिव्यक्त किया जाता है उसी प्रकार (शब्द और अर्थ से) अनुरणन रूप में उपलब्धित होने वाला व्यंग्यार्थ भी ध्वनि शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है । (इस प्रकार सत्त्वप्रकृत्यवद्भ्यः अर्थध्वनिर्ना सृज्यते हो गई । इनको उपरुपण मान लेने पर सब प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का समावेश ध्वनि में हो गया ।) इसी प्रकार जो लाप (वैयर्थ्यकल्प) शब्द को निय तथा अकल्प मानते हैं उनका कहना है कि वायु सयोग के द्वारा वर्ण प्रयुक्त शब्द रूप में प्रभे

चारावती

आत्मा भी कह दिया है, (उत्तर) वही नहीं ऐसा होता अवश्य है कि अलंकार भी ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। अलंकारध्वनि भी ध्वनिवाच्य का एक प्रकार है। किन्तु यह समझना ठीक नहीं कि समासोक्त इत्यादि अलंकारों में ही हमने किसी एक को ध्वनि कह दिया है, वहाँ कहीं-कहीं वहाँ पर भी होनी है जहाँ अलंकार ध्वनि नहीं होता। यह कहलाया जा चुका है कि जहाँ समासोक्ति इत्यादि अलंकारों में किसी एक को भी ध्वनि नहीं होती वहाँ पर भी ध्वनि काव्य हुआ करता है। जैसे 'अच्छा एव' और 'कस्तु वाम' इन उदाहरणों में अलंकार-व्यतिरिक्त ध्वनि दिखलाई जा चुकी है। इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि अलंकारनिष्ठ ही नहीं होती।

ऊपर इतिहास मनोविज्ञान इत्यादि आधारों पर सिद्ध किया गया है कि ध्वनि काव्य ही काव्य की आत्मा है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सिद्धान्त यों ही मनमाने ढंग से प्रतिपादित कर लिया गया है या इसमें कोई वास्तविक प्रमाण भी है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये ध्वनिकार ने लिखा था 'सुरिभिः कथित' और आलोचकार ने लिखा है कि 'यह उक्ति विद्वदुपमा है।' उपमा शब्द का अर्थ है प्रथम ध्यान या उपक्रम। विद्वदुपमा शब्द में दो समास हो सकते हैं एक तो तत्पुरुष जिसका अर्थ होगा विद्वानों का प्रथम ध्यान या विद्वानों द्वारा उपक्रम और दूसरा समास हो सकता है बहुव्रीहि, जिसका अर्थ होगा 'विद्वानों से प्रथम उपक्रम हुआ है जिसका।' यहाँ पर तत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्पुरुष होने पर 'उपदोषकस्य तदाचार्यस्यासावायम्' इस सूत्र से तत्पुरुष लिङ्ग हो जावेगा और 'विद्वदुपमा' न बनकर 'विद्वदुपम्' यह रूप बनेगा। बहुव्रीहि समास होने पर उक्ति का विशेषण हो जाने से कौटिलिग सङ्गत हो जाता है।

(विद्वदुपम्) शब्द में विद्वत् शब्द का अर्थ है वैय्याकरण। क्योंकि वैय्याकरण ही सर्वोच्च विद्वान् माने जाते हैं। भगवान् भर्तृहरि ने वैय्याकरणों की प्रशंसा इन शब्दों में की है :—

उपासनीय यत्नेन वाक्त्र व्याकरण महत् ।

प्रदीपमूत्र सर्वासां विद्वानां यदवस्थितम् ॥

किं बहुना—

इदमाद्य पदमयान् मुक्तिस्तान्तरपर्यन्तम् ।

॥ सा योऽसमाप्यमानामविद्या रानपद्धति ॥

रुक्मान्तरेण ते देवा विचरन्ति महोत्तरे ।

ये व्याकरणसंस्कारपरिवर्तितमुखा नरा ॥ वाक्यपदीय अ. का. ।

भामह ने आलंकारिकों के लिये व्याकरणज्ञान की अनिवार्यता स्वीकृत की है :—

'सदोपपुक्तं सर्वभिरन्यविद-करोजुभिः ।

नारायणस्य दुर्गाधमनु व्याकरणस्य ॥

सम्भारान् स्वयं गम्भमतकर्तुमयं जन ॥' (व्याख्यातकार २-३)

ओचनम्

तेन व्यञ्जको शब्दार्थावबोधे ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरि-
गानेष्वपि सारम् । यथोक्तम्—

अव्यायसापि यत्नेन शब्दमुच्चारित मतिः ।

यदि वा नैव गृह्णामि वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ।

उपे सावास्वेव ग्रथमाणेषु वक्तुर्योजन्यो द्रुतविद्यम्यादिवृत्तिभेदात्मा
प्रसिद्धानुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह ॥ एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्त्येवृत्तिभेदे तु वैकृताः ।

ध्वनयः समुपोद्गन्ते, स्फोटगमा तैर्न मिषते ॥ इति ।

इससे व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि शब्द से कहे गये हैं । और भी वर्णों के उतने
परिमाण के होते हुए भी—जैसा कि कहा गया है—

‘अल्प प्रयत्न के द्वारा उच्चारण किये हुए भी शब्द को बुझि या तो प्रहण ही नहीं करती
या सम्पूर्ण वर्णों को स्पष्ट रूप में ग्रहण करती है ।’

उस उतने ही सुने जानेवाले वर्णों में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से द्रुत
विद्यम्य इत्यादि वृत्तिभेदात्मक अधिक व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है । जैसा कि
उन्हीं ने कहा है—

‘शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में जो वैकृत ध्वनियाँ कारण होती हैं उनसे स्फोट
रूप आत्मा में भेद नहीं आता ।’

सारावती

व्यक्ति होती है और उस अदृष्ट से स्वर्ग इत्यादि फल कालान्तर में प्राप्त होते हैं । स्फोट के
अन्तिम वर्ण से प्रदीप्त होने का वही आशय है ।]

इस सिद्धान्त का उक्त यह है कि नित्य तथा अखण्ड स्फोट की वर्णों के रूप में व्यवस्था
वर्णों के रूप में ध्वनि के द्वारा होती है । इस प्रकार व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं । इसी साम्य
के आधार पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ ध्वनि कहे गये हैं । ध्वनि के प्रयोग में एक और बात
है—श्रोत्रेन्द्रिय से जितने वायु संचयन के द्वारा वर्ण सुनाई पड़ जावे, उस वर्ण का वही परिमाण
होता है । जैसा कि कहा गया है—

‘यदि प्रयत्न की मोड़ी भी कमो में शब्द का उच्चारण किया जावे तो उस शब्द को
बुझि या तो प्रहण ही नहीं करती या स्फुट रूप में समस्त वर्णों को ग्रहण नहीं करती ।’

वाक्य यह है कि वर्ण एक निश्चित परिमाण में ही ध्वनि के द्वारा सुनाई पड़ते हैं ।
उस प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से वक्ता का जो अतिरिक्त व्यापार होता है और जो कि द्रुत
विद्यम्य इत्यादि वृत्तियों के भेद में कारण होता है उसे भी ध्वनि कहते हैं । जैसा कि उन्हीं
(भर्तृहरि) ने कहा है—

‘शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में वैकृत ध्वनियाँ प्रस्फुटित होती हैं किन्तु उनसे
स्फोट की आत्मा में अन्तर नहीं आता ।

धारावती

रूप में सब एक हो जाते हैं। इसको इस प्रकार समझिये—यदि हम कार्य का निषेध कर कारण की सत्ता दाह करते जायें तो एकता या अमर को और अप्रसर हावे जावेंगे। जैसे ठकरी की रानी हुई सैकड़ों वस्तुयें मिश्र होती हैं किन्तु ठकरी के रूप में सब एक है। इसी प्रकार लोहे की वस्तुयें लोहे के रूप में, पथर की वस्तुयें पथर के रूप में और मिट्टी की वस्तुयें मिट्टी के रूप में एक होती हैं। मिट्टी, पत्थर लोहा, ठकरी सब एक दूसरे से मिश्र हैं किन्तु पृथ्वी के विकार के रूप में सब एक हो जाते हैं। यदि हम इसी प्रकार कार्य का निषेध करते हुए कारण की सत्ता मानते चले जायें तो समस्त तत्त्व एक हो जावेंगे। इसी धारा को ब्रह्म नाम से अभिहित किया जाता है। अन्त कारणतत्त्व में वाय्व ब्रह्म को यही एकता परा नणी कहा जाती है। वही पर जिस प्रकार घट पट मट इत्यादि समी अपतत्त्व एक हैं उसी प्रकार क' 'ख' ग' इत्यादि शब्दतत्त्व भी एक ही हैं। जब वाय्वब्रह्म को घट पट इत्यादि रूप में बुद्धि ग्रहण करती है तो उस परा वाणी का नाम परपन्ती हो जाता है। यदि हम अपने ज्ञान बन्द कर लें तो कण्ठदेग में एक प्रकार की सनसनाहट का हुन अनुभव होता है। इसे मध्यमा नाम से पुकारा जाता है। परा वाणी का स्थान नाभिदेश है पश्यन्ती का हृदय और मध्यमा का कण्ठ। ॥ तीनों अवस्थाओं में क ख ग' इत्यादि वर्ण एक रूप रहते हैं। मनमें भेद नहीं होता। कण्ठ से जागे बढ़कर जब वर्ष स्थान और मयज्ञ के द्वारा पृथक् पृथक् होकर दूसरे द्वारा ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं तब उस वाणी को बैधरी कहते हैं। जिस वायुसयोग के द्वारा स्थान और मयज्ञों से वाय्व अभिव्यक्त हुआ करते हैं उसे वैष्वाकरण छोग ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार वाय्व के दो भाग होते हैं—एक तो रसोत या अर्धभाग और दूसरा वायुसयोगानन्त ध्वनि। रसोत में किसी प्रकार का भेद नहीं होता और न वसमें किसी प्रकार की उपाधि होती है, मेद ध्वनि में होता है। इसीछिये विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण की हुई ध्वनि विभिन्न प्रकार की होती है। जब परिपोता वपू की ध्वनि और प्रकार की होती है, वीर व्यक्ति का ध्वनि और प्रकार की होती है तथा दूसरे लोगों की ध्वनि दूसरे प्रकार की होती है। इस ध्वनिभेद से स्फोट रूप वाय्वब्रह्म में भेद नहीं होता। किन्तु वह स्फोटरूप वाय्व ब्रह्म वायुसयोग रूप ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ करता है। ध्वनि का अर्थ है सम्मन नहीं होता और अर्थवाग बिना ध्वनि के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसीछिये जब कमी मेदा इत्यादि लगा होता है और बहुत से लोग एक साथ रोहते हैं तथा उनके वाय्व तो सुनारं पड़ते हैं किन्तु अर्थ समस्त में नहीं आता, तब लोग यही कहा करते हैं कि बहुत बड़ी ध्वनि सुनारं पड़ रही है। आशय यह है कि जिस प्रकार अनिवरनीय स्वाति से जल का विवत जगत् है उसी प्रकार वाय्वब्रह्म से विवर्तित होनेवाला और उसी में परवसान को प्राप्त होनेवाला समस्त वाय्व और उसका वाय्व अर्थ सभी कुछ उस स्फोटरूप वाय्वब्रह्म का विपरिणाम है। उसको व्यञ्जना करनेकछे वायुसयोग को ध्वनि कहते हैं। विभिन्न प्रकार का भेद ध्वनिभेद हुआ करता है स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता यह इस प्रकार

बोचनम्

‘गाम्भवं पुरुष पशुम्’ इति वस्त्वमुच्चयाञ्च चकारेण विनाशि । तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । समिश्रयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दन शब्दः शब्दव्यापारः, न चासाविमिषादिरूप, अपि त्वात्मभूत, सोऽपि ध्वनन ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च चोऽर्थ मोऽपि ध्वनिः । उक्तप्रकार-ध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । अत एव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः ।

‘गाम्, अश्वम्, पुरुषम्, पशुम्’ के समान विना चकार के ही समुच्चय हो जाता है । हमसे वाच्य भी ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है, दोनों की व्यञ्जकता होती है ‘ध्वनित करता है’ इस व्युत्पत्ति का मानकर । शब्द करना शब्द कहलाता है अर्थात् शब्दव्यापार, यह अविषा इत्यादि रूप नहीं होता अपितु आत्मभूतत्व होता है, वह भी ध्वनन अर्थात् ध्वनि कहलाता है । ‘काव्य’ इस नामवाला जो अर्थ है वह भी ध्वनि होती है क्योंकि ध्वनि के एक बार प्रकाशन ही (काव्य) होता है । इसलिये साधारण हेतु बतलाते हैं—‘व्यञ्जकत्वसाम्यादिति’ व्यञ्जकत्वका भाव सब पक्षों में सामान्यरूप में साधारण होता है यह अर्थ है ।

वारावर्ती

एत प्रकार हम लोगों ने अभिषा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन शब्दव्यापारों से मिश्र व्यापार को ध्वनि उदाहरण प्रदान की । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं । इन सब का संयोग होने के कारण समस्त काव्य को भी ध्वनि कहते हैं । विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों का व्यवस्था करना उचित नहीं है यह बात नहीं । अर्थात् भेद और अभेद दोनों का व्यवस्था बर्जित नहीं है । ‘काव्यस्य आत्मा ध्वनिः’ में भेदव्यवस्था है क्योंकि काव्य शब्द में वही और ‘ध्वनिः’ में प्रयत्न है । वही अद्वय व्यञ्जक इत्यादि ध्वनि के अर्थ हैं । अतः भेदव्यवस्था किया गया है । इसी प्रकार ‘स ध्वनिः’ में दोनों शब्दों में प्रयत्न है । अतः भेदव्यवस्था है ।

(‘वाच्यवाचकसमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः’)
 इस वाक्य को एक दृष्टि में देखने पर सीधा अर्थ यह प्रतात होता है कि ‘वाच्य और वाचक से मिलित, शब्द आत्मोपलब्ध तथा काव्य इस नामवाले तत्त्व को व्यञ्जक की समानता के कारण ध्वनि कहा गया है ।’ किन्तु बोचनकार ने इस वाक्य का और ही अर्थ लगाया है जिससे ध्वनि के सभी भेदों का इस वाक्य में समावेश हो जाता है । यहाँ पर समिश्र एक पृथक्त्व है, वाच्य वाचक शब्द के साथ व्यञ्जक मध्यमन्दतों का समावेश हो जाता है । अर्थात् वाच्य वाचक से युक्त समिश्र । शब्दात्मा एक पृथक् तत्त्व है और काव्यमिति व्यवस्था यह

लोचनम्

यः संयोगविभोगाभ्यां करणैरपजन्मते ।

स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरदाहताः ॥

‘जो संयोग विभोग इत्यादि कारणों से उत्पन्न किया जाता है वह स्फोट है । अन्य लोगों ने शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा है।’

सारावली

शब्द भी एक प्रकार का बुद्धि उत्पादन रूप अनुरूपन होता रहता है । यही बात सर्वहरि ने इस प्रकार कही है,—

‘संयोग और विभोग का सद्वारा लेकर विद्वत्प्रमाण इत्यादि कारण जिसे उत्पन्न किया करते हैं उसे स्फोट कहते हैं । दूसरे ठाग शब्दज शब्द को ध्वनि के नाम से पुकारते हैं ।’

[वक्त भाष का सुन्दर समझने के लिये वर्षोच्चारण प्रक्रिया पर सज्जित मकास्य वाचना आवश्यक प्रतीत होता है । शब्द के विषय में तीन मत हैं—(१) शब्द अनित्य होते हैं । ये उत्पन्न और बिलट हुआ करते हैं । अन्य द्रव्यों के समान उनकी भी नाश होती है । यह सिद्धान्त है न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का । (२) वर्ष नित्य होते हैं, ये वर्ष ही शब्द का निर्माण किया करते हैं । उन्हीं का वर्ष के साथ सम्बन्ध होता है जिसे शक्ति कहते हैं । यह सिद्धान्त है मीमांसा, वेदान्त, सांख्य और योगदर्शन का । (३) वैय्यकरणों का स्फोटवाद अथवा अक्षम्भता का सिद्धान्त । ये लोग शब्द के समान समस्त वर्षों की एकता तथा अक्षम्भता को मानते हैं । इनके सिद्धान्त का परिचय पहले दिया जा चुका है । अस्तुत्र लोचन नैय्यादिकों के उत्पत्तिवाद को मानकर लिखा गया है । अब इस प्रकार को ठीक रूप में समझने के लिये नैय्यादिकों का उत्पत्तिवाद समझ ठिक्क जाना चाहिये । नैय्यादिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं क्योंकि शब्द के कारण होते हैं, कारण से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ अनित्य हुआ करते हैं । शब्द व्योवेन्द्रिय प्राप्त होता है इन्द्रिय प्राप्त सभी वस्तु अनित्य होते हैं जैसे रूप इत्यादि अनाया हुआ करते हैं । कार्यवस्तुओं के समान मन्दरीय इत्यादि व्यवहार शब्द के विषय में भी हुआ करता है । इन्हीं कारणों से शब्द स्वतः अथवा अनित्य माना जाता है । इस शब्द का उत्पन्न करनेवाले दो कारण होते हैं—संयोग और विभाग । जैसे भृगुश और हाथ के संयोग से, अथवा सुगरी और पथरी के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे सहायन शब्द कहते हैं । शीत के फलने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे विभागन शब्द कहते हैं । किन्तु यहाँ पर शब्द उत्पन्न होता है उससे व्योवेन्द्रिय कुछ न कुछ दूर या हाथ हो है । अब शब्ददम में ही व्योवेन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती । जिस प्रक्रिया के द्वारा शब्द अवयवद्रव्य तक पहुँचता है उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं—बीबीउरइ न्याय और बरव सुउठ न्याय । बीबीउरइ न्याय का अर्थ यह है कि जिस प्रकार किसी साराश में एक प्रस्ताव या पथर का दृक्प्रापक दिया जावे तो साराश में उल्लेख उत्पन्न हो जाता है । पहले पंठाकार एक उल्लेख उत्पन्न होती है फिर दूसरी, त्रितीयसरी इसी क्रम से सारा सरोवर

लोचनम्

यत्पुनरुत्पद्यते 'वाग्विकल्पानामानन्त्यादिति' तत्प्रातिहारि—न चैव-
विधस्येति । वक्ष्यमाणः प्रमेदो यथा—मुख्ये द्वे रूपे । तद्वेदा यथा—अर्थान्तर-
सङ्क्रमितवाच्यः, अत्यन्तविरस्तुतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य; अतंसङ्क्षयक्रम-
व्यङ्ग्यः सङ्क्षयक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तर-
भेदाः । महाविषयस्येति अतोपलक्ष्यव्याप्तिर इत्यर्थः । विशेषप्रवृत्तेनान्यापकत्व-
माह । मात्रशब्देनास्तिस्वाभावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां
तत्र वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत्र पृथ मुकुलितलोचनत्वादिविकार-
कारणं चेतो येषामिति । अभाववादिन इति । अवान्तरप्रकारत्रयमिन्ना
अपीत्यर्थः ।

और जो यह कहा गया कि 'वाणी के विकल्पों के अनन्त होने से' इत्यादि । उसका
परिहास कर रहे हैं—न चैव विधस्य इत्यादि । कहे जानेवाले प्रमेद जैसे—मुख्य दो रूप हैं ।
उनके भेद जैसे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्तविरस्तुतवाच्य ये अविवक्षितवाच्यपरवाच्य
के भेद हैं । विवक्षितान्यपरवाच्य के असङ्क्षयक्रमव्यङ्ग्य और सङ्क्षयक्रमव्यङ्ग्य ये (दो भेद हैं)
उसमें भी अवान्तर भेद होते हैं । 'महाविषयस्य' का अर्थ है समस्त लक्ष्य में व्यापक । विशेष
प्रवृत्ति से अन्यापकता बतलाते हैं । मात्र शब्द से अत्रित्व का अभाव (बतलाते हैं) उसमें
अर्थात् ध्वनिस्वरूप में भावित अर्थात् दे दिया गया है चित्त जिन लोगों का अथवा चमत्कार-
रूप उस भ्रमकार के द्वारा भावित अर्थात् अधिवासित अतएव मुकुलित लोचनत्व इत्यादि विकार
का कारण है चित्त जिनका । अभाववादी अर्थात् अवान्तर दोनों प्रकारों से निश्चयी ।

वारावली

भेद और उपभेदों के कारण, बिनाका निरूपण आगे चलकर द्वितीय उद्योत में किया जावेगा ।
ध्वनि का विषय महान् है ।' उसके प्रमेद इस प्रकार है—मुख्य रूप से ध्वनि के दो रूप
होते हैं—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य । उनके उपभेद इस प्रकार हैं—अवि-
क्षितवाच्य दो प्रकार का होता है—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्तविरस्तुतवाच्य ।
विवक्षितान्यपरवाच्य भी दो प्रकार का होता है—असङ्क्षयक्रमव्यङ्ग्य और सङ्क्षयक्रमव्यङ्ग्य ।
उनके भी बहुत से अवान्तर भेद होते हैं । इस प्रकार ध्वनि का विषय महान् हो जाता है
अर्थात् कान्य शब्द से जो कुछ भी अभिहित किया जाता है उस सबमें ध्वनि व्यापक रूप में
रहती है ।' केवल विशेष प्रकार के अलङ्कारों में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।' इस
वाक्य में 'विशेष' शब्द का अर्थ है कि अलङ्कार व्यापक नहीं होते जब कि ध्वनि कान्य में
व्यापक होती है । 'केवल' शब्द का अर्थ है अलङ्कार केवल आग्रहण ही हो सकते हैं वे
अज्ञेय (प्रमाण) नहीं हो सकते । 'उद्भाषितचेतसान्' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा
सकता है—जिन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप में अपना चित्त लगा दिया है उनके प्रति ईर्ष्यालु
नहीं होना चाहिये । दूसरा अर्थ है—'ध्वनि को चमत्कार रूप में समझते हुये जिन्होंने उसी

बोधनम्

प्रायगैरनुपाख्यातैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।

ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधारयन्ते ॥

‘उपाख्यान में अशब्द तथा (स्फोट के) ग्रहण के अनुकूल प्रायशः से ध्वनि के द्वारा प्रकाशित किये हुये शब्द में स्वरूप का अवधारण किया जाता है ।’

सारावली

रक्षित होते हैं । इस प्रकार अभ्यस्त होनेवाले वर्णों को नाव शब्द से अभिहित किया जाता है । ये वर्ण स्फोट के अग्र-दन्तक होते हैं और स्फोट का अभिव्यञ्जन सदा ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा हुआ करता है । यही बात मयवान् मनुंहिर ने इसी प्रकार कही है :—

‘स्फोट को ग्रहण करने के अनुकूल इस प्रकार के कुछ अन्तराल प्रत्यक्ष होते हैं जिनके स्वरूप का वास्तविक विवेचन नहीं किया जा सकता । किन्तु उनके द्वारा ध्वनि से प्रकाशित किये हुये शब्द में स्फोट के स्वरूप को समझ लिया जाता है ।’

कमर कहा गया है कि स्फोट का ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा होता है । अन्तिम बुद्धि शब्द का आशय ठीक रूप में समझ लेना चाहिये । एक निबन्ध है शब्द बुद्धि और धर्म द्विधाभावाभावी होते हैं । ये शब्द क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण में स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं । जिन प्रयत्नों का आशय लेकर एक वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार के दूसरे प्रयत्नों का आशय लेकर दूसरे वर्ण की उत्पत्ति होती है । अब मान लीजिए एक ‘घट’ शब्द है । इसमें चार वर्ण हैं ‘घ’ ‘अ’ ‘ट’ ‘अ’ । पहले ‘घ’ की उत्पत्ति होगी, वह पहले क्षण में उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण में स्थित रहेगा ; उसके स्थितिकाल में ही दूसरे क्षण में ‘अ’ की उत्पत्ति होगी । तीसरे क्षण में ‘ट’ नष्ट हो जायेगा, ‘अ’ स्थित रहेगा और ‘ट’ की उत्पत्ति होगी । फिर चतुर्थ क्षण में ‘अ’ नष्ट हो जायेगा, ट स्थित रहेगा और अ की उत्पत्ति होगी जो कि पञ्चम क्षण में बना रहेगा और षष्ठ क्षण में नष्ट हो जायेगा । वर्णान्तरावधारियों के मत में वर्णों का अर्थ होता धर्माभ्यास । इस प्रकार ‘घट’ शब्द पूर्ण रूप से कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता, इन वर्णों का सहाय कभी बनेगा ही नहीं । अब प्रश्न यह है कि फिर ‘घट’ वह से घट अर्थ का अवगम कैसे हो सकता है ? हमने शब्दों का ही सांख्यिक अवगमन और ही असम्भव हो जानेगा । फिर उनका व्यर्थवोध कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि इन वर्णों का नाश हो जाता है तथापि इनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है । वह संस्कार स्थायी रहता है और दूसरे वर्ण के संस्कार से उसका योग होता है । इस प्रकार ‘घट’ शब्द के चारों वर्णों का सामूहिक संस्कार अन्तिम वर्ण ‘अ’ पर संग्रहित है जिससे सामूहिक भावना घटार्थ की अभिव्यञ्जिका होती है । वह इसी प्रकार होता है जैसे यद्यपि धर्म जिस क्षण किये जाते हैं उसके दूसरे क्षण स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं । किन्तु उस धर्म से वर्ण शब्दादि की प्राप्ति बहुत समय बाद होती है । उसके छिपे वह स्वरूप की जाती है कि यद्यपि शब्दादि कावों से एक प्रकार के अर्थ की

लाचनम्

अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति । विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति । तत्रार्थं । कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति । कदाचिदनुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षितं भव, व्यङ्ग्यपर्यन्ता तु प्रतीतिं स्वसौमन्यमहिम्ना करोति । अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यङ्ग्यक, एवम् अन्तः । ननु च विवक्षा चान्यपरत्व चेति विरुद्धम् । अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्मको विरोधः । सामान्येनेति । वस्त्व-
लङ्कारसामना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुपमाम्यामवाम्या सङ्गृहीत इति भावः ।

वर्णित होत हुये भी जा वाच्य है । विवक्षितान्यपर हाते हुये जो वाच्य है यहाँ उसमें अर्थ कदाचित् अनुपपन्नान होने इत्यादि निमित्त के द्वारा अविवक्षित होता है । कदाचित् उपपद्यमान होने के कारण विवक्षित ही होता है । व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को तो अपने सौमन्य की महिमा से छर देता है । अतएव यहाँ पर अर्थ प्रधानतया व्यङ्ग्यक होता है । पहले तो शब्द (व्यङ्ग्यक हाता है) : (मूल) विवक्षा और अन्यपरत्व ये विरुद्ध हैं ? (उत्तर) अन्यवाक्य के रूप में विवक्षित होने में क्या विरोध है ? 'सामान्य रूप में' यह । आदाय यह है कि बहुत रस और अलङ्कारालोक निस्सन्देह तीन प्रकार की भी ध्वनि इन दोनों ही भेदों के द्वारा सङ्गृहीत हो गए हैं ।

उत्तराध्यायी

विचार करना है किन्तु उदाहरण के आधार पर ही लक्षणपत्र की व्याख्या भी की जा सकती है और उसका उत्तर भी दिया जा सकता है । अतएव यद्यपि लक्षणपत्र और अनास्य ब्रह्म पद्य का परिहार पहले करना चाहिये तथापि इस प्रकरणपाठ विषय का अधिकृत्य करके उदाहरण देने की सुविधा के लिये इच्छाकार ने ही ध्वनि के प्रमुख भेदों का पहले निरूपण किया है । ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण दूसरे उद्योत में विस्तारपूर्वक किया जावेगा । उसी का अनुवाद यहाँ पर कर दिया गया है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है—
अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । (अविवक्षितवाच्य शब्द में एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है और दूसरा कर्मधारय ।) बहुव्रीहि द्वारा अर्थ करने में सुलोपा, सप्तमी, पञ्चमी, तृती और चतुर्था के अर्थों में बहुव्रीहि मानकर ध्वनि के पाँचों अर्थों में सामानाधिकरण्य की सतीर्भाति शोभना को जानी चाहिये । ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ भी होता है और अविवक्षितान्य में 'वाच्य' शब्द का प्रयोग किया हो गया है । अतएव ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ होने पर वाच्य का अर्थ करना चाहिये 'अपनी आत्मा' इससे 'अविवक्षितवाच्य' शब्द का अर्थ हो जावेगा—'अविवक्षित अर्थात् अवधान कर दिया है अपनी आत्मा को जिसने अर्थात् व्यङ्ग्यक अर्थ । 'अविवक्षितान्य' में विभिन्न अर्थों में बहुव्रीहि करने पर ये अर्थ होने—(१) पद्य के अर्थ में बहुव्रीहि—अविवक्षित है वाच्य जिसका अर्थात् वाचक शब्द, (२) सुलोपा के अर्थ में बहुव्रीहि—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य रूप स्वामा जिसके द्वारा अर्थात् वाच्य अर्थ । (३) सप्तमी के अर्थ में बहुव्रीहि—'अविवक्षित कर दिया गया

लोचनम्

अम्नामिरपि प्रसिद्धेभ्यः स्रष्टव्यापारैर्म्योर्निघातात्पलङ्गनात्प्लेभ्योऽ-
तिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः । एवं चतुष्कमपि ध्वनिः । तथोगात्र ममस्त्रमपि
काव्य ध्वनिः । तेन व्यतिरेकान्यतिरेकव्यवदेशोऽपि न न युक्तः । वाच्यवाचक-
सन्निध इति । वाच्यवाचकमहितः सन्निध इति मध्यमपदसंज्ञा सनामः ।

‘हमारे ज्ञाता मा कमिषा, तापसं और छत्रजन्तुन अनिक मध्यमपदो से अतिरिक्त व्यापार
को ध्वनि कहा गया है । इस प्रकार चतुर् हा ध्वनि होता है और उनके बीच से सन्निध काव्य
ध्वनि । कहा जाता है ।) इससे मेरे और अनेक का अन्तर्गत मा ठीक न हो वह बात नहीं
है । ‘वाच्यवाचकसन्निध’ इति । वाच्यवाचक सहित सन्निध वह मध्यमपदसंज्ञा सनाम है ।

शरावतां

[इस मन्त्र विवरण का अन्त्य यह है कि—‘ध्वनि दो प्रकार की होती है—मातृ
और वैतृ । मातृ ध्वनि ‘कृत’ ‘इत्यम्’ ‘आप्तात्’ इत्यादि समावेशित होता है । यद्यपि
संज्ञे तत्र प्रकल्पित होता है तथापि वह निष्कान्त वातुशब्दों से अवलोक रहता है । इस
कारण का निराकरणकर शब्द का प्रकल्पित करना ही मातृ ध्वनि का काम है । यह
प्रकल्पित संज्ञे ध्वनि से अलग पड़ता होता है । अन्तर संज्ञे एक होता है, निरूप होता
है, व्यापक होता है और नाना प्रकार का ध्वनों के स्वरूप से आकल्प होकर एक ही
काम है और वह वह पूर्व कर्त्तों के सम्कार से एक ही प्रकार का ध्वनि बन जाता है
है वह अवशेष करता है । मातृ ध्वनि को ही सर्व कहते हैं । संज्ञे बना भी मातृ
ध्वनिसे रहित नहीं होता । इतिहे मन्त्र इति से विचार न करनेवाले नैर्घटिक
होते इस संज्ञे का ध्वनि ही आकार नहीं ध्वनि । वैतृ ध्वनि का काम यह है कि वह
मातृ ध्वनि के द्वारा मन्त्र ध्वनिसे पूर्व में कुछ विनिर्वात इत्यादि शब्दों का रस
है । कहा ही जाता है कि एक ही सर्व मन्त्र का ध्वनि न ध्वनि उपधारण किया बहुत न
विष्णु से ध्वनि । ध्वनि की, सर्व मन्त्रों का, और न केवल ध्वनि की ध्वनिसे न केवल
पूर्व में होता है वह मेरे मा वैतृ ध्वनि का ही ध्वनि है । वैतृ ध्वनिसे होते हुए मा
मातृ ध्वनिसे नहीं होता, अन्तर अन्तर इत्यादि की एकपदा कही जाती है । वैधा-
काव्यमित्र ध्वनि का कहा करता है । इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि उपधारण को
मन्त्र को मा ध्वनि कहते हैं । इस प्रकार ध्वनि पर ध्वनि ध्वनि में ध्वनि का ध्वनि कहता
गया है (१) नैर्घटिकों के अनुसार उपधारण होनेवाले अन्तर ध्वनि के ध्वनि । इस अन्तर
पर सर्वध्वनि ध्वनि मन्त्रों का ध्वनि कहते हैं । इनमें ध्वनिसे ही मन्त्रध्वनि ध्वनि का ध्वनि
माना जाता (२) वैधाकाव्य के मत में एक ही ध्वनि होता है और मातृ ध्वनि रसका
अन्तर्गत ध्वनि है । इस प्रकार ध्वनि ध्वनि होता है । इसी कारण के कारण पर सर्वध्वनि
ध्वनि में ध्वनि का ध्वनि कहते हैं । यह ध्वनि दो प्रकार का होता है वाच्य और
वाचक ध्वनि । (३) वैतृ ध्वनिसे ही ध्वनिसे ही ध्वनि होता है । इस ध्वनि के कारण पर
ध्वनिध्वनि का ध्वनि कहते हैं ।]

ध्वन्यालोकः

उपगच्छस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।

गूरुश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

(अनु०) कर्त्तने पहले (अतिवर्जितवाच्य) का उदाहरण—

स्वर्ण को फूलवाली पृथ्वी को जान ही पुरुष प्राप्त कर पाते हैं—गूरु, सकल और पूर्ण विद्यवाला तथा जो सेवा करना जानता है ।

लोचनम्

ननु उपगच्छामपृच्छे एतच्छामनिवेशनस्य किं कथम् ? उच्यते—अनेन हि नाम-
इयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धामिधातात्पर्यलक्षणात्मकस्याप्राप्तितयाव-
गतार्थप्रतीतिः प्रतिपत्तगतायाः प्रयोक्तृमिधायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्व-
मुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोक्तोक्तिवत् ।

सुवर्णपुष्पामिति । सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा । एतच्च वाक्यमेवा-
सम्भारस्वार्थमिति कृत्याऽतिवर्जितवाच्यम् । तत्र एव पदार्थमभिधान्वय न
वातपर्यवस्यत्वावगमस्यैव बाधक्यत्वेन समुपहृत्य सादृश्यत्वं सुलभममृदिसमा-
ध्यात्वात्मनत्वां लक्षयति । तदुक्त्याप्रयोजनं गूरुकृतविद्यसेवकानां प्राप्तस्यम-
शब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकुलशयुगलमिव महापतामुपनयन्-
त्यन्यत् इति । शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, ध्वनेस्तु तत्सहकारितयेति
चत्वारो व्यापाराः ।

(मन्त्र) उक्त नामों की पीछर नये नानों के सनावेत का क्या लाभ ? (उत्तर)
पडता है—तब दोनों नामों के द्वारा ध्वनात्मक व्यापार में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य
और लक्षणालम्ब तीनों व्यापारों से अवगत होनेवाले अर्थ का प्रतीति से प्रतिपत्ता के अन्दर
रहनेवालों और प्रयोक्तृ की अभिधायरूपिणी विवक्षा का सहकारित्व बतड़ा दिया गया है इस
प्रकार नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही प्रत्युज्ज्वलित कर दिया गया है ।

सुवर्णपुष्पम् इत्यादि । सुवर्णों को जो फूलवाली है उसे सुवर्णपुष्पा (कहते हैं) यह वाक्य
ही सम्भव स्वरूपवाला है इसलिये यह अतिवर्जितवाच्य है । उसी से पदार्थ को कहकर और
वन्वय को वातपर्यवस्यत्ति से अवगत कराकर बाधकर उसको उपहृत्य सादृश्य से सुलभममृदिसमा-
ध्यात्वात्मीयता को लक्षित करता है । उक्त लक्षण का प्रयोजन शूर, सफलविद्यावाले और
सेवकों का प्राप्तस्य अशब्दवाच्य के रूप में छिपाया जाता हुआ होकर नायिका के कुच-
कुलशयुगल के समान महापता को प्राप्त होते हुये ध्वनित करता है, इस प्रकार शब्द यहाँ पर
प्रधानतया व्यञ्जक है और अर्थ तो उसकी सहकारिता के रूप में (गूँहोत होता है) शब्द
प्रकार कर व्यापार है ।

ध्वन्यालोकः

न चैवविधस्य ध्वनेर्बन्धमात्रप्रभेदतन्नेदसङ्ख्यन्या महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धाद्यकारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तन्नावितचेष्टां युक्त एव सारम्भः । न च तेषु कयत्त्रिदीर्घ्या कलुषितशेषमुपोक्तवमाविष्करणीयम् । तदेव ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः ।

(अनु०) जो ध्वनि इस प्रकार की है भागे चलकर दिये जानेवाले सेदों उपनेदों से जिसका विषय महान् तथा व्यापक हो जाता है उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अमसिद्ध केवल अलङ्कारों के प्रकाशन के समान नहीं हो सकता । अतएव जिनके हृदयों में उस ध्वनि प्रति (अथवा अमसिद्ध अलङ्कारों के प्रति) याचना भरी हुई है उनका उत्तेजित होना उचित ही है । उनके प्रति ईर्ष्या के कारण अपनी बुद्धि को कभी क्षुण्णित नहीं बनाना चाहिये । इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण हो गया ।

वारावती

एतत् तत्र है । यहाँ पर यद्यपि 'व' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि समुच्चय हो जाता है जैसे 'मैं नाच, नौका, पुष्प, पशु को जानता हूँ' । इस वाक्य में यद्यपि 'और' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि सभी का समुच्चय हो जाता है । इस प्रकार वाक्य अर्थ की ध्वनि कहते हैं और वाचक शब्द को भी ध्वनि कहते हैं । दोनों अन्वयक होते हैं, दोनों अवस्थाओं में व्युत्पत्ति होगी, 'ध्वनित इति ध्वनिः' । सम्मिश्र अर्थात् अन्वय को भी ध्वनि कहते हैं । सम्मिश्र शब्द का अर्थ है जो विभाव अनुभाव के सम्मिश्रण के द्वारा भवगत किया जाने इस प्रकार का अन्वयार्थ । इस अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग करने पर व्युत्पत्ति होगी 'ध्वनित इति ध्वनिः' । अब 'शब्दात्मा' शब्द की छीमिये । शब्द का अर्थ है 'शब्दन' अर्थात् शब्दव्यापार । अतएव 'शब्दात्मा' शब्द का अर्थ हुआ ऐसा शब्दव्यापार जो आशय के रूप में स्थित हो । ऐसा शब्दव्यापार अविधा नहीं हो सकता बलितु अन्वय हो सकता है क्योंकि वही काव्य की आत्मा है । इस प्रयोग में ध्वनि की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वनित ध्वनिः' । जिस वाक्य के लिये 'काव्य' यह नाम दिया जाता है वह भी ध्वनि कहलाता है क्योंकि उसमें कोई ऐसा शब्द नहीं होता जो उक्त चारों प्रकारों से भिन्न हो । उक्त समस्त प्रकारों में ध्वनि शब्द का प्रयोग वैय्याकरणों के अनुसार इस आधार पर होने लगा कि वैय्याकरण भी ध्वनि के द्वारा शब्द की व्यवस्था मानते हैं और साहित्यिकों की ध्वनि में भी मूल आधार अन्वय हो रहा है । आशय यह है कि अन्वय अन्वयक मात्र का होना एक साधारण तर्क है जो सभी पक्षा में सामान्य रूप में लागू होता है । आशय यह है कि अन्वय-अन्वयक मात्र सामान्यतया सभी पक्षा में साधारण रूप में पाया जाता है ।

अभाववाद का एक पक्ष में जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि अनन्त वाग्विस्तृत्य में ही एक साधारण अलङ्कार माना जा सकता है' । अब उसका उत्तर दिया जा रहा है—'ध्वने

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व तु नाम कियच्चिर किमभिधानमसावकरोत्तप ।

तदपि यत्न उवापरपाटल दशति विम्वफल शुक्रशावक ॥

(मनु०) दूसरे (विशिष्टान्तरवाच्य) का उदाहरण—

हे तर्क्य न मालूम इस शुक्रशावक ने किस पर्वत पर कितने दिनों किस नाम की लपटा की जो इसे तुम्हारे अपर के समान पाटल विम्वफल के दशन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । (जब अपर के समान विम्वफल को प्राप्त करता रहना कठिन है तब तुम्हारे अपर को प्राप्त कर सकने की तो रात हो क्या ?)

लोचनम्

शिखरिणीति । नहि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमा सिद्धि विदधुः । दिव्यकल्पसहस्रादिभ्यां परिमित काल । न चैवविधांसमफल-जनकत्वेन पञ्चाग्निप्रभुत्वमपि तेष धृतम् । तवेति मित्र पदम् । समासेन विग-लिततया प्रतीयत, तस्य दशसोत्यभिप्रायण । तेन यदाहु 'वृत्तानुरोधावदधर-पाटल न कृत' मिति, तदसदेव ।

'शिखरिणि' इत्यादि । निर्विघ्न अर्थात् उत्तमावधिगते श्रीपर्वत इत्यादि भी इस सिद्धि को पूरा न कर सकेंगे । दिव्य कल्पसहस्र इत्यादि यहाँ पर परिमितकाल है । इस प्रकार के उत्तम फलजनक के रूप में पञ्चाग्नि प्रभुत्व तब भी नहीं मुने गये हैं । 'तव' यह मित्र पद है । समास के द्वारा विगलित रूप में (अप्रधान रूप में) स्वीत होता है, तुम्हारा दशन करता है इस अभिप्राय से । इससे जो कहते हैं—'कन्द के अनुरोध से 'त्वदधरपाटल' यह नहीं किया' यह ठीक नहीं है ।

वारावती

कर्मत्र का आभय स्रोत नहीं माना जा सकता । कर्मोत्पद विग्रह का विकल्प होगा यदुवाहि समास—'सुरप हैं पुत्र जिसके' किन्तु इस विग्रह में सुवर्ण को पुष्पनाभ माना जा सकेगा । वह अर्थ नहीं निश्चित सकेगा कि पृथिवी धूर इत्यादि के लिये तत्त्व सुवर्ण को उत्पन्न करती है । इस अर्थ में एक नई छाया है । अतः लोचन की म्याल्ला हो सनीचोन है ।]

यत्न विशिष्टान्तरवाच्य का उदाहरण लाजिये—विम्वफलरूपो शुक्रशावक ने तर्क्य के अपर-दशन का भी सुन्दर फल प्राप्त किया है वह ऐसी-वैसी तरस्या से प्राप्त नहीं हो सकता । लोक में बड़े से बड़े जितने भी तब प्रसिद्ध हैं वे इतना उधकटि का फल नहीं दे सकते । न तो वह स्थान ही इष्टिगत होता है वहाँ ऐसी तरस्या की जा सके, न इतना उत्तम हो है और न ऐसी तरस्या हो प्रसिद्ध है । तरस्या के उत्तम से उत्तम स्थान श्रीपर्वत इत्यादि हैं जिनको निर्विघ्न उत्तम सिद्धि प्रदान करने की प्रताप्ता सुनी ग्य है । किन्तु वे भी इतनी बड़ी सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते । संसार में समय की गन्ता सोचि है जो स्वर्गव सद्गुरु कल्प से

ध्वन्यालोकः

अस्ति ध्वनिः । स चासाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यइवेति द्विविधः सामान्येन ।

(अनु०) ध्वनि है । वह सामान्यरूप से दो प्रकार की होती है अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ।

लोचनम्

सैषा प्रयुक्तौ फलमाह—अस्तीति । उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुगङ्गा सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरण-योग्येऽप्यप्रतिसमाधाय अविष्यदुद्योतानुवादानुमारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—सचेति । एवभाषि ध्वनिशब्दार्थं येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहु-व्रीह्याभिव्येण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुचोभ्यम् । वाच्येऽर्थे तु ध्वनी वाच्य-शब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानाकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः एव विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि । यदि वा कर्मधारयैणार्थपक्षे

उनके मन्वास्यान का फल बतला रहे हैं—‘ध्वनि है’ इत्यादि । उदाहरण की पीठपर भाक्तत्व की वृद्धा भी सरलता से हो सकती है और उसका परिहार भी सरलता से किया जा सकता है, इस अभिप्राय से भाक्तत्व और अलक्षणीयत्व के प्रथम परिहार योग्य होने कृपे की छनका प्रतिस्माधान न करके भागे जानेवाले उद्योत के अनुवाद के अनुत्तर पृथिकार ही मनेद निरूपण कर रहा है—स च इत्यादि । पौरो प्रकार ॥ अविष्यद के अर्थ में ‘जिसके द्वारा’ ‘जिसमें’ ‘जिससे’ ‘जिसका’ ‘जिसके लिये’ इस बहुव्रीहि के अर्थ के अभाव से यथोचित रूप में सामानाधिकरण्य की योजना सुविधापूर्वक की जा सकती है । ध्वनि वाच्यार्थ को कहते हैं, यह मानने पर वाच्यशब्द से स्वात्मा कहा जाता है, उससे अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया गया है स्वात्मा जिसके द्वारा, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ (कहलाता है) । इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में भी । अथवा कर्मधारय के द्वारा अर्थ करने के पक्ष में अवि-

तारावती

वाच्य से अपने विषय को अविवाहित कर लिया है उनके वेश सुवृत्ति हो गये हैं उनके विषयों में पल्लव का विकार उत्पन्न हो गया है । अतः उनके प्रति अपनी बुद्धि को ईर्ष्या से परिपूर्ण नहीं बनाना चाहिये । (क्योंकि वास्तविकता को न समझ सकने के कारण वे बेचारे दया के पात्र हैं ।) इस प्रकार तीन अन्तर प्रकारों में विभक्त अभाववादियों का निराकरण हो गया ।

अभाववादियों का फलितार्थ बतलाया जा रहा है ॥ ‘ध्वनि है’ । अभाववाद के निराकरण कर देने से यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि की सत्ता का अपठान नहीं किया जा सकता । अब दो मन्त्र दोह रह गये—(१) क्या ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षण में कर दिया जाना चाहिये ? (२) क्या ध्वनि का लक्षण बनाना मजबूत है ? इन दोनों पक्षों पर दो

तारावली

समाप्त नहीं किया गया। भाष्य यह है कि यहाँ पर वक्ता मुख्यरूप से 'तव' शब्द पर जोर देना चाहता है। जो दो सप्ताह में सैकड़ों रमणियों हैं और अधिकतर विम्वरुड को उनके अथर की उपमा का सीमाव्य प्राप्त होना ही रहता है किन्तु 'तुन जैसी मुन्दरी' के अथर की उपमा का सीमाव्य निम्नन्देह एक नवी बात है जो साधारण तथा लोकप्रसिद्ध तरस्या का फल नहीं हो सकता। शुक्रभाषक समीक्षिते धन्य है कि वह 'तुम्हारा' अथर दशान कर रहा है। वह आशय तमो व्यक्त हो सकता है जबकि 'तव' शब्द को प्रयुक्त रक्खा जावे। यदि समाप्त कर दिया गया होता तो 'तव' शब्द अथर का विशेषणमात्र बन कर रह जाता और वास्तविक व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति न कर पाता और इस पक्ष में विवेचानिमित्त दोष आ जाता। [विशेष से विशेषण के किसी विशेष सम्बन्ध का लेकर उसका प्रिया से अन्य हो जाता है जैसे वैदिक वाक्य 'अश्वया निहास्यैकहायन्या सोम कोषानि' में 'गो' से अन्वित आश्वय का साध्यता इत्यादि सम्बन्ध से ऋषण में अन्य हो जाना है और 'भनवान् मुखी' इस लौकिक वाक्य में 'मनुष्य' के अर्थ से अन्वित धन का प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से मुख में अन्य हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर अथर से अन्वित वास्तव्यत्व का विम्वरुडकर्मक दशान में प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से अन्य हो जाता है। भाष्य यह है कि विम्वरुड तुम्हारे अथर की उपमा मातकर अपने का सीमाव्यशाही समाप्त है और शुक्रभाषक प्रधानरूप तुम्हारे अथर की ही दृष्टिगत रख साधन्य के कारण विम्वरुड का दशान कर रहा है। यही 'तव' के व्यत्यस्य में पड़ने का विरुद्ध अर्थ है।] 'दशति' शब्द का अर्थ है स्वाद लेना है; चखता है। भाष्य यह है कि स्वाद ले ले कर धीरे धीरे चख रहा है। जिससे प्रत्यक्ष विच्छेद नहीं होता। एक पैद के समान सभी कुछ खा नहीं डालता। यदि पैद के समान सभी कुछ खा जावे तो आस्ताव बहुत शीघ्र ही समाप्त हो जावे और स्वाद लेने के लिये उसे कुछ सेव न रहे। किन्तु यह शुक्रभाषक तो रस्य है, रस ले-ले कर चख रहा है। जिस प्रकार उसको तुम्हारे अथर दशान का सीमाव्य किसी अनुमत्तरस्या के फल के रूप में मिला है उसी प्रकार रस्यता भी तरस्या का ही फल है। 'शुक्रभाषक' शब्द से व्यक्त हो जाता है कि वह भी तरस्या का ही फल है जो कि उसे वाक्य के कारण उचित समय में देना सीमाव्य प्राप्त हो गया। इससे व्यक्त होता है कि वक्ता अनुमत्तर से भरा हुआ है; उसके हृदय में नायिका के अथरपान को वंछित अभिलाषा छिपी है, वह औरिष्य का परिवार न करते हुये विदग्धता के साथ अपने अभिप्राय को प्रकट करना चाहता है। इसीलिये चाटुकारिता के इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है जिससे रति की आह-वननूत नायिका को उशीपन हो जावे जो कि उसको अभिलाषा के अनुकूल हो। यहाँ पर चाटुकारिता नायिका के लिये उद्दिष्ट है।

प्रथम भेद (अविशङ्कितवाच्य) में चार व्यापार थे—अभिधा, वाचन, लक्षणा और व्यञ्जना। यहाँ पर केवल तीन ही व्यापार हैं। लक्षणा की तीनों शक्तें मुख्यतः शब्द इत्यादि यहाँ पर नहीं मिलती। अतएव तीसरा व्यापार लक्षणा यहाँ पर नहीं होगा भयवा यहाँ पर किसी न किसी प्रकार मुख्यार्थ वाच को कल्पना की जा सकती है—नायक ने अकस्मात् उस

तत्तावती

हे वाच्य जिसमें अर्थात् व्यञ्जनान्वयापार (४) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसके लिये अर्थात् व्यञ्ज्य अर्थ । (५) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिससे अर्थात् व्यञ्जना व्यापार के वाच्य सामर्थ्य ब्यादि हेतु । इसी प्रकार विवक्षितान्वयवाच्य के भी विभिन्न अर्थ कर देने चाहिये । अथवा कर्मधारय समास भी हो सकता है—अर्थात् जो अविवक्षित होते हुए वाच्य है । इसी प्रकार जो अन्वयवृत्ता के साथ विवक्षित है और वाच्य है । व्यञ्जनान्वयापार का आश्रय देने पर वाच्यार्थ को दो स्थितियाँ हो सकती हैं—कहीं वो वाच्यार्थ का अनुपपन्न (असङ्गत) होना ब्यादि कुछ ऐसे हेतु होते हैं जिनसे वाच्य अविवक्षित हो जाता है । कहीं कहीं वाच्यार्थ सङ्गत ही होता है अतएव उसका कहना बला को अमोघ ही होता है । किन्तु एक तो उस शब्द का प्रयोग नवीन महिमा के साथ किया गया होता है, दूसरे उस शब्द में ही कार्य ऐसी भिन्नता विद्यमान होती है कि उससे एक नवीन अर्थ व्यक्त होने लगता है । इस प्रकार वह शब्द अपने सौमन्य की महिमा से उस नवीन अर्थ को भी व्यक्त कर दिया करता है । अतएव वाच्यार्थ से लेकर व्यङ्ग्यार्थप्रतीति पर्यन्त उस शब्द का व्यापार चलता रहता है और वह शब्द अपने सौमन्य की महिमा से व्यङ्ग्यपर्यन्त गति उत्पन्न किया करता है । प्रथम प्रकार की व्यङ्ग्यप्रतीति में वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, अतएव उसे अविवक्षित वाच्य कहते हैं और दूसरे प्रकार में अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) के साथ वाच्यार्थ विभक्त होता है, अतएव उसे विवक्षितान्वयवाच्य कहते हैं । द्वितीय प्रकार में अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है अतः प्रधानतया अर्थ व्यञ्जक होता है किन्तु प्रथम प्रकार में अर्थ अविवक्षित होता है अतः प्रधानतया शब्द व्यञ्जक होता है । (यहाँ पर महिम मूढ ने एक प्रश्न उठाया है कि) अर्थ विवक्षित भी है अर्थात् वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट भी होता है और उसका वाच्यार्थ प्रतिरिक्त दूसरा भी अर्थ निवृत्तता है, यह बात परस्पर विरुद्ध है । इसका उत्तर यह है कि इसमें क्या विरोध है कि एक शब्द अपने अर्थ को एक अन्य विशेष अर्थ के साथ बहता है ! मूढ में कहा गया है कि ज्वनि सामान्यतया दो प्रकार की होती है । यहाँ पर सामान्यतया का अर्थ यह है कि यद्यपि ध्वनि के तीन भेद किये गये थे वरतु, रस और अलङ्कार । तथापि इन तीनों भेदों का समग्र अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्वयवाच्य वही दो भेदों में कर दिया गया । (प्रश्न) पहले छे ध्वनि के तीन नाम चले ही थे वरतु, रस और अलङ्कार । वही की पीठ पर ये दो नये नाम सन्निविष्ट कर देने से क्या लाभ ? (उत्तर) इन दो नामों के रखने का एक विशेष प्रयोजन है । वह वरतुतया का युक्त है कि ज्वनि का एक अर्थ व्यापार भी है । उस व्यापार में शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं । अब प्रतिपत्ता (ओठा) किसी शब्द की श्रुति है तब उसको अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक पूर्ण प्रसिद्ध दोनों व्यापारों से एक अर्थ को अवर्णित होता है । दूसरे ओर प्रयोज्य (वचा) का अभिप्राय भी किसी विशेष अर्थ में होता है जिसे वचा की विरक्षा कहते हैं । अभिधा इत्यादि दोनों व्यापारों से अवगत तथा ओठा के अन्तःकरण में विराजमान अर्थ का ओर प्रयोज्य क

लोचनम्

उत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—मन्त्रा विमर्शति । उक्तप्रकार इति पञ्च-
त्वर्षेषु योज्यम्—शब्दोऽयं व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च । रूपभेद दर्शयितुं
ध्वनेस्तावद्रूपमाह—वाच्येति । तात्पर्येण विधान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति
यावत् । प्रकाशनं योतनमित्यर्थः । उपचारमात्रमिति । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा ।
उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः । मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारा-
त्तत्वादादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनयोजनारम्भा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवध्वन्यनु-
पयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाप्तत्वादसत्कल्पः । 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजन
लक्षणम् । तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्सकं तत्रैवं स्यात् ।

उत्तमे प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—मन्त्रा विमर्शति इत्यादि । 'उक्त प्रकार' इस
शब्द को पाँचों अर्थों में लगाना चाहिये—शब्द अर्थ व्यापार व्यङ्ग्य और समुदाय में ।
रूपभेद को दिखाने के लिये ध्वनि के रूप को कहते हैं—वाच्य इत्यादि । 'तात्पर्य' का
अर्थ है विधान्तिधाम होने के कारण प्रयोजन के रूप में । 'प्रकाशन' का अर्थ है योतन ।
'उपचारमात्र' इति । उपचार गुणवृत्ति को कहते हैं अर्थात् लक्षण । उपचार अर्थात् अति-
शयित व्यवहार मात्र शब्द से यह कहते हैं—वहाँ सूचीय लक्षणाव्यापार वस्तुस्थिति से
सम्भव होते हुये भी अनुपयुक्त होने के कारण प्रादरणीय न होने के समान होता है । 'अति
अर्थ को लेकर' यह प्रयोजन का लक्षण है । वहाँ पर भी लक्षण है अब किन्तु प्रकार ध्वनन
और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं ?

तारावती

किन्ना सर्वत्र विवर्तितान्तरात्म्य में लक्षणा दिखलाई जा सकती है ? उत्तर है नहीं ।
असत्तत्त्वकमध्यस्थ में तो लक्षणा का उन्मेषनाश भी नहीं होता । क्योंकि उसमें कोई कम
लक्षित किया हो नहीं जा सकता । ■ प्रकार इस दूसरे भेद में भी चार ही व्यापार
होते हैं ।

जब दोनों उदाहरणों में लक्षणा का समावेश दिखलाया गया । अथवा 'उत्त ध्वनि को
लोग मात्र (लक्षणागम्य) बतलाते हैं' इस पक्ष का उल्लेख कर उसमें दोष दिखलाये जा
रहे हैं । जिस लक्षणापक्ष का अधिक प्रकाश में रखन किया गया है उसकी विवेचना से यह
सामान्य निवृत्तता है कि लक्षणा के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव करने से तीन विकल्प हो सकते
हैं—(१) ध्वनि और लक्षणा दोनों एक ही वस्तु हैं, एक वस्तु के दो नाम रख दिये लक्षणा
और ध्वनि, दोनों एक दूसरे के पर्यायवाचक शब्द हैं । (२) भक्ति या लक्षणा ध्वनि का
लक्षण है । लक्षण का उपयोग यह होता है कि वह किसी एक वस्तु को अन्य समस्त
वस्तुओं से पृथक् करता है । जैसे पृथ्वीतल या गन्धर्व, यह लक्षण पृथ्वी को जड़ इत्यादि
गैर समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है । मन्त्र यह है कि क्या इसी प्रकार भक्ति या लक्षणा भी
ध्वनि का लक्षण अथवा व्यावर्तक धर्म है । (३) क्या भक्ति सत्त्वानाश से ही ध्वने का उ-
त्पत्ति होती है । जैसे कोआ अथवा सत्त्वानाश से ही देवदत्त के घर का परिपाक होता है ।

वारावरी

अभिप्रेत विवक्षित अर्थ का परस्पर सहकार अवश्य होता है यही सिद्ध करने के मन्तव्य से यहाँ पर नये नाम रखे गये हैं। इस प्रकार नामों के द्वारा ही ध्वनि का स्वरूप भी मत्तु केजीवित कर दिया गया है।

अविवक्षित वाच्य का जो उदाहरण मूल में दिया गया है उसके सुवर्णपुष्पा शब्द को लीजिये। इसका अर्थ है—‘जो सुवर्ण को पूछती है।’ यह पृथिवी का विशेषण है। अतएव पृथिवी पर लता का आरोप हो जाता है। न तो पृथिवी एक लता ही है और न किसी लता में सोने के फूल ही आते हैं। इस प्रकार इस वाच्य का अपना अर्थ (वाच्यार्थ) असम्भव है, अतएव विवक्षित नहीं हो सकता। इसीलिये इसे अविवक्षितवाच्य कहते हैं। इसका स्वरूप इस प्रकार होगा—पहले यह शब्द पदार्थ का अभिधान करेगा अर्थात् अभिधावृत्ति से वाच्यार्थ-बोध होगा। इसके बाद (अभिहितान्वयवाद के अनुसार) तात्पर्यशक्ति के द्वारा अन्वय का अवगमन होगा। (अन्विताभिधानवाद के अनुसार अन्वय की प्रतीति अभिधावृत्ति से ही हो जायेगी।) तब वाक्य की प्रतीति होगी कि यह अर्थ असम्भव है। इससे उस अर्थ का हलन हो जायेगा। तब सादृश्य सम्बन्ध को हेतु मानकर इसका लक्ष्यार्थ हो जायेगा। ऐसे व्यक्तियों को सम्पत्ति हलुम होवे है और वे उस सम्पत्ति के समूह के पात्र बन जाते हैं। इस लक्षणा का प्रयोजन यह प्रकट करना है कि पूरे कुलविनिमयात् और सेवक प्रसन्ननीय होते हैं। वास्तव में कहना यही है किन्तु इसे शब्द के द्वारा न कहकर छिपाते हुये कहा गया है। इस प्रकार जैसे सुन्दरियों के कुचकलश का जोड़ा छिपाये जाने पर ही बहुमूल्य बनता है उसी प्रकार यह अर्थ छिपाये जाने के कारण बहुमूल्य हो गया है। इसीलिये इसे ध्वनि कहते हैं। यहाँ पर प्रधानतया शब्द व्यञ्जक है और अर्थ उसका सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है। इस प्रकार यहाँ पर (अभिहितान्वयवाद के अनुसार) चार व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना। (अन्विताभिधानवाद के अनुसार तात्पर्य को छोड़ कर तीन वृत्तियाँ होती हैं।)

[यहाँ पर भावः सभी टीकाकारों ने लोचनकार द्वारा की हुई ‘सुवर्णपुष्पा’ शब्द की व्याख्या पर आपत्ति उठाई है। लोचनकार ने विग्रह किया था—‘सुवर्णं पुष्पवतीति’ अर्थात् जो सुवर्ण को पूछती हो। यहाँ पर ‘सुवर्ण’ इस अर्थ के उपपन्न होने का कारण ‘पुष्प’ शब्द से ‘कर्मव्यञ्ज’ रूप से अणु प्रत्यय हो जाता है। खीलिङ्ग बनाने के लिये वधत्वे ‘टाप्’ किया गया है। इस पर एक आपत्ति यह है कि पुष्प शब्द सकर्मक है; ‘सुवर्ण’ शब्द असकर्मक कैसे हो सकता है। किन्तु यदि षिच् का अर्थ अन्तर्भूत मान लिया जावे तो वह शब्द सकर्मक हो सकता है। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि इस शब्द में अणु प्रत्यय है तो उसका खीलिङ्ग शब्द बनाने में कीचू होना चाहिये और सुवर्णपुष्पी शब्द बनना चाहिये। किन्तु अबादिगण आह्वितगण है और उसमें पुष्प शब्द को मानकर टाप् हो सकता है। यद्यपि आह्वितगण का आशय अतिव्यक्ति है तथापि यहाँ पर विशेष व्यञ्जना होने के कारण अपरि-

ध्वन्यालोकः

माधैतस्याद्भक्तिलक्षण ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरन्याप्येतेन चासौ लक्ष्यते तथा ॥ १४ ॥

नैव मत्स्या ध्वनिलक्ष्यते । कथम् ? अतिव्याप्तेरन्याप्येतेन । तत्राति-
व्याप्तिर्ध्वनियतिरिक्तेऽपि विषये मत्ते सम्प्रदात् ।

यत्र हि मत्स्याकृत महत्सौष्ठव नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध-
नुरोधप्रवर्तितभ्यवहारो कवयो दृश्यन्ते । यथा—

(मनु०) यह न सहो किन्तु मत्ति ध्वनि का लक्षण तो होतो ही है । इस पर कहते हैं
'लक्षणा ध्वनि का लक्षण (व्यावर्तक धर्म) नहीं हो सकता, क्योंकि इससे अतिव्याप्ति और
अव्याप्ति व हा दोष आयेगे' ॥ १४ ॥

यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि का व्यावर्तक धर्म लक्षणा है । यह कैसे ? (उत्तर)
अव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण । उनमें अतिव्याप्ति इसलिये होगी कि ध्वनि से भिन्न
विषय में भी लक्षणा सम्भव है ।

वही अक्षय्य के कारण बहुत बड़ा सुन्दरता नहीं आती वही भी कवि लोग मत्ति के
नुरोध से आरोपित शब्दवृत्ति (लक्षणा) के द्वारा व्यवहार करते देखे जाते हैं । जैसे—

चौचनम्

द्वितीय पञ्च दूषयति—अतिव्याप्तेरिति । असाविति ध्वनिः । तथेति
मत्स्या । ननु ध्वननमेवमसाविति कथं तद्व्यतिरिक्तेऽस्ति विषय इत्याह—
महत्सौष्ठवमिति । अतएव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्ग्रन्थकालेन न कृत्य
किञ्चिदिति भावः । महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्वयति । यथोक्तम्—'समाधिरन्य-
धमेत्येवाप्यारोपी विवक्षितः' इति दर्शयति । ननु प्रयोजनानामेव कथं तथा
व्यवहार इत्याह—प्रसिद्धनुरोधेति । परम्परया तथैव प्रयोगात् ।

द्वितीय पञ्च को दूषित करते हैं—अतिव्याप्ति इत्यादि । वह अर्थात् ध्वनि । 'उससे' का
अर्थ है ध्वनि से । (मनु) ध्वनन अवश्यमासी है फिर तद्व्यतिरिक्त विषय कैसे हो सकता
है ? यह कहते हैं—'महत् सौष्ठवम्' इति । आशय यह है कि प्रयोजन के आदरणीय न होने
के कारण पञ्चदश से कम कार्य नहीं । 'महत्' शब्द के ग्रहण से वह गोप्य हो होता है ।
जैसा कहा गया है—'अन्य धर्म के कही आरोप को सहायि कहा जाना बजाट है ।' यह
दिखाते हैं । प्रयोजन के अभाव में वैसा व्यवहार कैसे होता है ? यह कहते हैं—'प्रसिद्ध-
नुरोध' इति । परम्परा से वैसा प्रयोग होने के कारण ।

वारावर्ती

अब द्वितीय पञ्च का खण्डन किया जा रहा है—'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह
उससे लक्षण नहीं होती ।' 'यह' का अर्थ है ध्वनि और 'उससे' का अर्थ है लक्षणा के द्वारा ।

बोचनम्

दशतोत्यास्वादयति अबिच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदत्तिकवत्परमुद्धे, अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्रसिद्धदेव रसज्ञताम्यस्य तप प्रभावादेवति । शुक्रशावक इति । तारव्यादुचितपल्लानोऽपि तपस एवति । अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभिप्रायव्यापन-वैदग्ध्यचातुर्विरचनात्मकविभावोदापन न्यग्रथम् ।

अत्र च त्रय एव व्यापारा—अभिधा, तात्पर्यं, ध्वनन इति । मुद्रयार्थ-बाधायभावे मध्यमकक्षयाया लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात् । यदि वा ध्वनिः किञ्चित्प्रदेशानुपपत्तेर्मुन्वयार्थबाधार्थं सादृशालक्षणा भवतु मध्य । तस्यास्तु प्रयोजन ध्वन्यमानमव, तत्पर्यकक्ष्यानिरास, केवल पूर्वत्र लक्षणैव प्रधान ध्वननव्यापारे सहकारि । इह स्वमिधागत्यर्थशक्ती । वाक्यार्थसौन्दर्याद्व व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ते केवल छेदान लक्षणाव्यापारापयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम् । असल्लक्ष्यक्रमस्य ह्ये तु लक्षणा समुत्पन्नमात्रमपि नास्ति । असल्लक्ष्यवादेव क्रमस्यति वक्ष्याम । तेन द्वितीयोऽपि भेद चत्वार एव व्यापारा ॥ १३ ॥

दशति का कार्य है त्वह छेदा है । अबिच्छिन्न प्रबन्ध के रूप में, औदत्तिक के समान बहुत नहीं छा बाधा । अर्थात् 'रसज्ञ है' यहाँ पर उसकी शक्ति के समान ही उसकी रसज्ञता भी तप के प्रभाव से हो है । शुक्रशावक इति । तात्पर्य के कारण उचित फल लाभ भी तपस्यात्म्य ही है । अनुरागा का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय-व्यापन वैदग्ध्य के साथ चातुर्विरचनात्मक विभाव का उदापन अद्भुत है ।

यहाँ पर तीन ही व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन । क्योंकि मुद्रयार्थ-बाधा के अभाव में तीसरी (ध्वनि) लक्षणा का अभाव है । अथवा वाक्यमिच्छा विरहित प्रश्न के अर्थ को अनुपपत्ति से मुद्रयार्थ-बाधा में छाड़कर से बाध में लक्षणा हो जाने । उक्तता तो प्रयोजन ध्वन्यमान (प्रधान नृत्त-अद्भुत) ही है । वह चौथी कक्षा में विरहित होने-छेदा है । केवल पहले लक्षणा हा प्रधान (तथा) ध्वननव्यापार में सहकारी है । यहाँ ता अभिधा और तात्पर्य-शक्ति प्रधान हैं । वाक्यार्थ सौन्दर्य से व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति हो जाने से केवल अभाव लक्षणा व्यापार का उदय भी है वह कहा गया । असल्लक्ष्यक्रमस्य ह्ये में तो लक्षणा का समुत्पन्नमात्र भी नहीं है क्योंकि क्रम का सल्लक्षण न जाना ही (उसमें कारण है) वह हम कहेंगे । सल्लक्ष्य द्वितीय भेद में आकर ही व्यापार होता है ॥ १३ ॥

सारायर्था

जान नहीं जाती । उक्तता समय भी इस सिद्धि के लिये पक्का नहीं है । उदाहरण रसज्ञ शुद्ध तत्पर्यार्थ भी हुनी गई है किन्तु इस प्रकार के उत्तम पत्र का देनेवाली कर तत्परा पत्र ही नहीं है । तत्पर्यार्थ-प्रत्यय में 'तप' शब्द प्रयुक्त है, यदि यहाँ पर समझ कर दिया गया होता तो उसका पक्ष ही हो जाता । 'तुम्हारा दमन कर रहा है ।' वह अभिप्राय व्यक्त नहीं हो पाता । अतएव कुछ ठीक ठीक वह कहना ठीक नहीं है कि यहाँ पर क्रम को प्रति के लिये

ध्वन्यालोकः

तथा-सुम्बिज्ज् असहुत्तं अवरन्धिज्ज् सहस्सहुत्तमि ।

चिरमिथ पुणरमिज्ज् पियोज्ज्णो णत्थि पुनरुत्तम् ॥

[शतकृत्वाऽवरुद्धयते सहस्रकृत्वा- सुम्ब्यते ।

विरम्य पुनारम्यत प्रियो जनो नास्ति पुनरुत्तम् ॥] इतिछाया ।

(अनु०) उक्तो प्रकार :-

‘अरने मियवम का सो बार अलिङ्गन किया जाता है, हजार बार सुम्बन किया जाता है ।
रुक्-रुक्कर रमण किया जाता है किन्तु वह पुनरुक्त नहीं होता ।’

लोचनम्

अवरन्धिज्ज् आच्छिद्यते । पुनरुत्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते उक्ताधस्या-
सम्नधात् ।

‘अवरन्धिज्ज्’ इसका अर्थ है अलिङ्गन किया जाता है । ‘पुनरुत्तम्’ इससे अनुपादेयता
उत्पन्न होती है, क्योंकि उक्त अर्थ असम्भव है ।

छारावत्तो

परध्वनि नहीं हो सकती । यदि हम वह लक्षण बनावें कि ‘वहाँ लक्षण हो रही ध्वनि हो
सकती है ।’ तो लक्षण होने से वह प्रसिद्ध स्थानों पर भी ध्वनि का लक्षण बना जावेगा जहाँ
वस्तुतः नहीं जाना चाहिये । यही अलक्ष्य में लक्षण का पटित हो जाना रूप अविश्यासि दोष
कहा जाता है । वस्तुतः, श्रोत्रिये प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण व्यञ्जकता से वहाँ
कोई आवश्यकता ही नहीं पूरी होती । ‘व्यञ्जना में अधिक सुन्दरता नहीं होती’ इस वाक्य में
अधिक शब्द का आशय यह है कि ऐसे स्थान पर व्यञ्जना गुणीय होकर अलङ्कार का रूप
धारण कर लेती है । समाधि अलङ्कार का लक्षण करते हुए जैसा कि कहा गया है—जहाँ
अन्य धर्म का कहीं अन्यत्र आरोप विवक्षित हो उसे समाधि कहते हैं ।

(मूल) जब दूसरे अर्थ में दूसरे शब्द के प्रयोग में कोई प्रयोजन नहीं होता तब वैसा
प्रयोग किया हो क्यों जाता है ?

(उत्तर) किसी अन्य अर्थ में अन्य शब्द के प्रयोग की परम्परा चल सकती है जिससे
प्रतिभा के समान वैसा ही प्रयोग होने लगता है ।

॥ वे यह कहते हैं कि प्रसिद्ध का अर्थ ही है प्रयोजन का किया न होना, यद्यपि ध्वनि-
स्थल में भी प्रयोजन सर्वथा अस्तुतः नहीं होता । वह इस रूप में -यक किया जाता है कि
स्मृतरूप में अवभास के समान हो जाता है । तथापि उसमें कुछ न कुछ निगूढ़ता उसी प्रकार
अपेक्षित होती ही है जिस प्रकार कोष की निगूढ़ रखने की आवश्यकता होती है ।

अब प्रथम उदाहरण को लीजिये—‘वमलिजो पत्र की शब्दा कह रहा है’ इस वाक्य में
‘वदति’ ‘कहना’ चेतन का काम है । शब्दा कहने का काम नहीं कर सकती । अतः शब्दा-
पुराति से उसका अर्थ हो जाता है ‘प्रकट कर रहा है ।’ लक्षण का प्रयोजन है—‘स्मृत-

ध्वन्यालोके

यदप्युक्त मक्तिर्ध्वनिरिति, तद्व्यतिसमाधीयते—

मत्स्या विमर्ति नैकत्वं रूपमेवादय ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिमत्स्या नैकत्वं विमर्ति निबलरूपत्वात् । वाच्यव्यति-
रिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाम्बा तालयैष प्रकाशन यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स
ध्वनिः । उपचारमात्र तु मक्तिः ।

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'मत्स्य ध्वनि है' इसका अर्थ समझना किना
का रहा है —

‘दोनों में रूप भेद होने से मक्ति से ध्वनि रहस्यता को धारण नहीं करती ।’

यह ध्वनि जिसके प्रकार कन्य वल्लभों का चुके हैं मक्ति के साथ रहस्यता को धारण
नहीं करती क्योंकि दोनों का रूप भिन्न होता है । वहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य
व्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता में ध्वनि होती है । मक्ति
तो केवल वरचार को करते हैं ।

छायेनम्

अतएवोक्तयोदाहरणपृष्ठ एव जातानाहुतित्वनुनाप्य रूपवति । अथ भाव—
मक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पयायवचाद्रूपम् ? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या भव्यतो
ध्यावर्तकधर्मरूपतया छक्षणम् ? उक्तकाक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रानुप-
कक्षणम् ?

अतएव दोनों उदाहरणों की दृष्टि पर ही ‘छायेनम्’ कहते हैं यह अनूचित करके दृष्टि
करते हैं । नार यह है—मक्ति और ध्वनि का दर्भ के समान छत्र होती है । अथवा
पृथिवी के समान पृथिवी से अन्यत्र व्यापक स्वरूप होने के कारण छत्र है । अथवा
दरदर के पर के कोने के समान सम्भवमात्र होने से उपलब्ध है ।

छायावती

छाया से ऐसा विदित मन को का दिया । सुकृत-रक तो विनम्र का राह छिपा ही
करत हैं, का उसके छिपे रहती हैं । वस्तु की वाच्यरूपता है । इन्हीं दोनों के उपलब्ध
होने से सुकृत-रक ही जाता है । वस्तु से नादिका का छिन्द्यातिरेक छत्रार्थ के रूप में
गृहीत जाता है, जिसका सम्बन्ध है वाच्यरूपता के समान दोनों वाच्यरूपता को
मक्ति और ध्वनि नादिका को उपलब्ध कर लेना । यह सम्बन्ध नादिका को छत्र
विदित होता है जो व्यङ्ग्यवाच्यरूप है । इस प्रकार मध्य में छत्रार्थ दोनों का छत्रो है ।
अतएव उक्तार्थ से हमें यह है कि अविच्छिन्नवाच्य के उदाहरण में छत्रार्थ में ध्वनि
छत्र व्यङ्ग्यवाच्य में छत्रार्थों को किन्तु यहाँ पर अविच्छिन्न और वस्तु से दो वृत्तियों
मध्य रूप में उपलब्धी होती है, क्योंकि वाच्यवाच्यरूप से ही व्यङ्ग्य की मक्ति होती
जाती है, छत्रार्थ व्यङ्ग्य का उपलब्धता उपलब्ध होता है । अब मध्य उपलब्ध होता है

लोचनम्

अत्र ग्रहणेनोपादयता लक्ष्यते । हरणेन उत्पस्तन्त्रतापचि ।

तथा अत्रति । कनिष्ठमायाया स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीड-
योगन मृदुकाऽपि प्रहारो दत्त सपनीना सीमाग्यसूचक वक्रोदासीमाग्यम-
प्राप्तानां हृदय दुस्महो जात मृदुलवादेव । अन्यस्य दत्तो मृदु प्रहारोऽन्यस्य
च सम्यगत । दुस्सहइव मृदुरपीति चित्रम् । दाननात्र फलवत्त्व लक्ष्यते ।

तथा परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयाऽनुभवतिशब्दो मुख्य एव,
तथाप्यप्रस्तुत इक्षौ प्रशस्यमान पीडाया अनुभवननासम्भवता पीडावत्त्व
लक्ष्यते, तच्च पाठ्यमानात्वे पर्यवस्यति । नन्वस्त्यग्र प्रयोजन सकिमिति न
ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैव विध इति ।

यहाँ पर ग्रहण के द्वारा अनुपादेयता छिपित होती है, हरण से उसकी परतन्त्रता का
मात्र छिपित होती है ।

तथा अत्र यह । कनिष्ठमाया के स्तन पृष्ठ में नवलता के काग्य काल के द्वारा उचित
क्रोडा के बाग से बौमल भी दिया हुआ प्रहार उस सीमाग्यसूचक क्रीडा के सबिभाग को न
मात्र बरनवालो सीतों के हृदय में दुस्सह हुआ गया बौमल हाने के कारण ही । अन्य का दिया
हुआ मृदु प्रहार अन्य क ठिये हा जाता है । और मृदु होत हुये भी दुस्सह यह विविध है ।
दान से यही फलवत्ता छिपित होती है ।

वाराचदी

रूप में प्रकट कर रही है ।' यदि 'स्पृष्ट प्रकट' कर रही है' यही कह दिया जाता तो क्या
असुन्दरता आ जाता ? यदि 'बहती है' इस शब्द के द्वारा छिपा कर कहा गया तो क्या अधिक
सुन्दरता हो गई ? इस प्रकार अधिक सुन्दरता न हाने से ध्वनि नहीं हा सकती, किन्तु लक्षणा
है । इसीलिये जगदी कारिका में कहेंगे कि ध्वनि का विषय वही होता है जो पसी चास्ता
को प्रकट करे जिसका प्रकट करना दूसरी वक्ति से असम्भव हो ।'

अब दूसरा उदाहरण लीजिये । प्रिय कभी पुनरुक्त नहीं होता' इसमें अवलम्बितवश का
वर्ण है 'आलिङ्गन किया जाता है ।' पुनरुक्त काइ शब्द या वाक्य हो सकता है, मनुष्य कभी
पुनरुक्त नहीं हो सकता । अत इसका बाध होकर लक्ष्याय होता है—'प्रिय व्यक्ति कभी
अनुपादय नहीं होता ।' यहाँ पर पुनरुक्त कहने में यैसी मौन सा सुन्दरता है जो अनुपादय
कहने में नहीं आती ?

अब तीसरा उदाहरण लीजिये—ग्रहण कोई वस्तु की जाती है, महिलायें ग्रहण नहीं की
जा सकती । इसी प्रकार हरण किसी मूर्त द्रव्य का होता है, हृदय का हरण नहीं किया जा
सकता । अत बाध हाकर ग्रहण और हरण का लक्ष्यार्थ कमज 'उत्पस्तन' और 'अपन कर
लेना' होता है । ग्रहण और हरण इन दोनों शब्दों के प्रयोग में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो
उदादान और अपीन करना इन दोनों शब्दों में विद्यमान नहीं है ।

चौथा उदाहरण लीजिये—प्रियतम न जानी छोटा स्वा के स्तनपृष्ठ पर उचित क्रीडा

तारावर्ती

(किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कहाँ है ? दूसरे ने उत्तर दिया कि 'वह जहाँ कौआ बैठा है। वहाँ कौआ देवदत्त के घर का परिचायक है।) क्या इसी प्रकार लक्षणा भी ध्वनि की परिचायिका है ? लक्षणापक्ष में यही हीन विकल्प है। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है।

ध्वनि भक्ति के साथ स्वरूपता को धारण नहीं करती। ध्वनि का मकार बरछाया वा जुका है। यह बरछाया वा जुका है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार ५ अक्षरों में होता है— शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और सन्का समुदाय। इन सभी अक्षरों में उक्त मकार की योजना करनी चाहिये। अर्थात् पाँचों अक्षरों में ध्वनि और लक्षणा में रूपभेद होता है यह समझना चाहिये। रूपभेद की समझाने के लिये आशोककार ने यही पर ध्वनि वा स्वरूप बरछाया है—जहाँ शब्द और अर्थ किसी दूसरे वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ की तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित किया करते हैं और उही व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता भी होती है उसे ध्वनि कहते हैं। तात्पर्य के द्वारा कहने का भावय यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विमान्ति व्यङ्ग्यार्थ में ही होती है। अतः विमान्ति का स्थान होने के कारण प्रयोजन के रूप में व्यङ्ग्यार्थ ही अभिप्रेक्ष्य होता है। प्रकाशन का अर्थ है पोषण। यह दूर ध्वनि की बात। अब भक्ति की छीन्त्रिये। मौक्तिकेवल उपचार को कहते हैं। उपचरण का अर्थ है व्यवहार का अतिशयान्त। अर्थात् श्रुतों के आधार पर अथवा परम्परागत अत्यन्त व्यवहार के कारण जहाँ एक शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जावे जो उस शब्द के वास्तविक अर्थ से सम्बन्ध रखता हो। केवल उपचार को लक्षणा कहते हैं। इस वाक्य में केवल शब्द का आशय यह है कि लक्षणा में ही यह बात दखी जाती है कि जिस अर्थ में शब्द प्रचलित न हो उस अर्थ में उसका प्रयोग करना अर्थात् लक्षणा में जिस प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे में प्रयोग किया जावे और प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यञ्जनाव्याप्य हो यही ही लक्षणा होती है। किन्तु लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ लक्षणा के अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये अनुर्थ व्यापार व्यञ्जना वस्तुस्थिति के कारण उपरिमत हो किन्तु उसका उपयोग कुछ न हो रहा हो, अतः उसका आदर न किया जा सके तथा उसका होना न होना एक जैसा हो। न्यायसूत्रकार ने प्रयोजन का यह लक्षण दिया है— 'धर्म्यमभिवृत्त्य मरतंते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस वस्तु को लेकर कोई शब्द प्रयुक्त हो उसे प्रयोजन कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ प्रयोजनान्विध्वनिक के लिये व्यञ्जना का आशय दिया जाता है और ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। (इसी प्रकार ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ तात्पर्य उपरिमत के कारण लक्षणा का विषय हो और प्रयोजनदान के लिये व्यञ्जना न मकर अनुर्थ स्थिति का आशय दिया जावे तथा ऐसे स्थान पर भी हो जाता है जहाँ वाच्यार्थ वाच इत्यादि द्रव्यों के न होने के कारण लक्षणा का बीज न हो।) इस प्रकार अब लक्षणा के अभाव में व्यञ्जना और व्यञ्जना के अभाव में लक्षणा सम्भव है उन दोनों एक हो ही कैसे सकती है ?

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।

छावण्यायाः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

(अनु०) और भी—

जहाँ पर शब्द अपने विषय से भी भिन्न किसी दूसरे विषय में रूढ़ हो जाते हैं वे छावण्य
इत्यादि शब्द प्रयुक्त होकर ध्वनि का स्थान कभी नहीं बनते ॥१६॥

लोचनम्

यत्त उक्त्यन्तरेणेति । उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थम्यापार-
चित्तोपेक्षेत्यर्थः । शब्द इति पञ्चस्वर्गेषु योज्यम् । ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—
ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः । उदाहृत इति । वदसीत्यादौ ।

एव यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननम्यापार इत्युक्त्वा यत्र
मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननम्यापार
इत्याह—किञ्चेति । छावण्याया ये शब्दाः स्वविषयाछवणरसयुक्तत्वादेः
स्वार्थादन्यत्र ह्युपवादाँ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसंज्ञिष्यपेक्षणम्यवधानशून्याः ।
पदाह—

‘यत्त उक्त्यन्तरेण’ इत्यादि । उक्त्यन्तरेण का अर्थ है ध्वनि के अतिरिक्त स्फुट शब्दार्थ
म्यापार विशेष के द्वारा । ‘शब्द’ यह पाँचों अर्थों में जोड़ा जाना चाहिये । ‘ध्वन्युक्तेर्वि-
षयीभवेत्’ इति । अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा कहा जाता है । उदाहृत इति । वदति इत्यादिमें ।

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन होते हुये भी आदरास्पद नहीं होता उसमें कौन ध्वननम्यापार
होता है ! यह कहकर वहाँ मूलतः प्रयोजन होता ही नहीं और उपचार होता है वहाँ भी
कौन ध्वननम्यापार है ! यह कहते हैं—किञ्च इत्यादि । छावण्य इत्यादि जो शब्द अपने विषय
छावण्यरसयुक्तत्व इत्यादि स्वार्थ से भिन्न हृत्वा इत्यादि में रूढ़ हैं और रूढ़ होने से ही तीनों
(छवणाभयोजनों) की सन्निधि के अपेक्षारूप व्यवधान से शून्य हैं । जैसा कि कहा है—

वारावसी

(वट्ट) इस प्रकार के विषय में व्यङ्ग्यार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है इत्युच्यते एते हम ध्वनि नहीं
कह सकते ॥ १४ ॥

प्रस्तुत कारिका में इस बात का हेतु देते हुये कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता में भी ध्वनि क्यों
नहीं होती ! यह बतलाया गया है कि ध्वनि का विषय कौन सा शब्द होता है । ‘दूसरी
वक्ति के द्वारा’ कहने का आशय यह है कि जिस वास्ता को कोई शब्द केवल ध्वनि के
आधार पर ही व्यक्त कर सके, विशेष प्रकार के वाच्य और नाचक के द्वारा वह वास्ता
मूल न की जा सकती हो, वही शब्द ध्वनि का विषय होता है । यही शब्द के पाँचों
अर्थ देने चाहिये (१) ‘शब्दो’ अर्थात् जो प्रकृतित किया जाने अर्थात् अर्थ । (२)

ध्वन्यालोकः

परिमलान् पौनस्तनजघनसङ्गादुभयत-

स्तनोर्मध्यस्थान्क परिमिळनमप्राप्य हरितम् ।

इदं न्यस्तन्यास इत्यमुज्जलताक्षेपवल्गवे

हृन्नाहम्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशायनम् ।

(अनु०) 'दह कर्तृनोपगच्छात्' स्तनो और बसाओं के स्पर्श होने के कारण उनका ससर्ग-प्राप्तकर दोनों ओर अत्यन्त नर्तित हो गया है किन्तु मध्य भाग के दृश होने के कारण उसका निलन प्राप्त न कर हरा बना हुआ है । दोनों पुनलताओं के शर-उपर फैलने के कारण इसकी रचना अस्त भूल हो गई है । इस प्रकार दह आच्छादित उस इन्द्राणी के सन्ताप को कह रहा है ।

लोचनम्

वयं तु ब्रूम — प्रसिद्धिः प्रयोजनस्यानिगूढतत्पर्यं । उच्चारणेनापि रूपेण व्यप्योबनं चकासद्भिगूढता निधानवदपक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटाकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । यद्यगूढ स्वशब्दोप्यत, किमवास्त्य स्वात् । गूढतया वर्णने वा किं चाक्षरमधिकं जातम् । अनवैवासायेन वक्ष्यति—यत् उक्त्यन्तरणाशक्यं पदिति ।

हम वो कहते हैं—अर्थ यह है कि प्रसिद्धि अर्थात् प्रयोजन को जो अनिगूढता । भाव यह है कि उक्तान् अर्थात् स्फुट अवमासमान रूप में वह प्रयोजन प्रकाशित होते हुये काव्य के समान निगूढता की अपेक्षा करता है । 'वदति' इसने वरचारा (लक्षणा) होनेपर निस्सन्देह स्फुटीकरण की प्रतिपत्ति प्रयोजन है । यदि अगूढ को स्वशब्द से कहा जाता तो क्या बचावता हो जाती ? अथवा गूढरूप में बचन करने पर क्या अधिक चकास उलग्ग हो गई ? इसी प्रश्न से कहेंगे—'क्याकिं जो दूसरी रक्ति से असम्भव होता है' इत्यादि ।

तारावली

(मूल) अब कि लक्षणा में ध्वनि का होना अनिवार्य है तब लक्षणा का विषय ध्वनि के अतिरिक्त कैसे हो सकता है ?

(उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जिनमें व्यञ्जना होती तो है किन्तु उसके कारण कोई विचार सुन्दरता नहीं आती । कहने का आशय यह है कि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति सचन होती है तथापि ध्वनिरूपता की भाव करने के लिये इस बात की आवश्यकता होती है कि उसने कुछ न कुछ निगूढता अवश्य रहे । किन्तु ऐसे भी स्थान होते हैं जहाँ प्रयोजन निगूढता गूढ़ नहीं होता । उन शब्दों का उल्लेख अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा चल पकती है और कवि लोग स्वभाविक रूप में उन शब्दों का प्रयोग करते चले जाते हैं तथा सुननेवालों की उसने चरकार बंध नहीं होता । इस वहाँ

लोचनम्

निरुद्धः अत्रगा काश्चित्तामय्यादभिवचनम् । इति । ते तस्मिन् स्व विषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहारः । उपचरिता शब्दस्य वृत्ति गीता लाक्षणिकी चेत् यथं । आदिग्रहणेनानुलोम्य, प्रातिहृष्य, सन्नद्धाचार्येयमादय शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते । लोभानामनु- गतमनुलोम मदेनम् । वृत्तस्य प्रतिपक्षतया स्थित स्यात् प्रतिहृष्यम् । तुल्यगुणः सन्नद्धाचार्य इति मुख्यो विषयः । अन्य पुनरुपचरित एव । न चात्र प्रयोजन विविदिद्विषय लक्षणा प्रवृत्ते त न तद्विषया ध्वननव्यवहारः ।

‘कुछ निम्नदा लतागणें सन्ध्या में अभिरामन कर होती हैं’ ये अने शिष्य से आकर उस विषय में प्रयुक्त होकर भा ध्वनि का स्थान नहीं बना। वहाँ पर ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। अब यह है कि शब्द की उपचरित वृत्ति गीता और लाक्षणिकी होती है। आदि ग्रहण से अनुलुम्ब, मानिलुम्ब, सन्नद्धाचार्य इत्यादि लक्षणिक शब्द ग्रहण किये जाते हैं। लोभ के अनुगत अनुलोम मदनः कृत् (७७) के प्रतिपक्षरूप में स्थित धारा प्रतिकूल। तुल्य गुणात्ता सन्नद्धाचार्य यह मुख्य विषय है। वहाँ पर किसी प्रयोजन के वर्देश्य से लक्षणा प्रवृत्त नहीं हुई है अतः तद्विषयक ध्वननव्यवहार नहीं होता।

तारावती

विलुप्त होता ही नहीं।) उसे स्थानों पर ध्वनन-व्यवहार का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ध्वनि का मूल प्रवृत्तिनिमित्त-व्यवस्था वहाँ पर होती ही नहीं।

(लावण्य शब्द का मूल अर्थ है लावण्यसमुत्त । लावण्यसमुत्त वस्तु मिय होती है । इसी सम्म के आधार पर इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में करने लगा है ।) लावण्य शब्दादि शब्द अने शिष्य लावण्यसमुत्त शब्दादि को आह का अने ध्वने से भिन्न रमणावस्था इत्यादि दूसरे अर्थों में रूढ़ हो जाते हैं । क्योंकि व रूढ़ हाउ हैं इसी लिये उनमें लक्षणा की तीनों धारें (लावण्य, लावण्यमन्त्र और रूढ़िप्रयोगवा-व्यवहार) छाँट नहीं जातीं । जैसे कि कहा भी गया है—‘कुछ निम्नदा लतागणें प्रयोग सन्ध्या में अभिराम के समान हो गई हैं।’ ये लप धारें अब आने शिष्य से भिन्न उस (लक्ष्यार्थ) में प्रयुक्त होनी भी हैं तथापि ध्वनि का स्थान नहीं बना। उनमें ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । शब्द की उपचरित वृत्ति का अर्थ है गीतावृत्ति अंर लक्षणागुत्त । ‘लावण्य शब्दादि’ में इत्यादि शब्द का अर्थ है लावण्य शब्द ही नहीं अनुत्त । स के अंत और बहुत से शब्द । जैसे अनुत्त न, प्रतिहृत्त, सन्नद्धाचार्य । अनुत्तान शब्द का मूल अर्थ है—‘लोगों का अनुगमन करनेवाला।’ सम्भवतः इस शब्द का पहला प्रयोग नटिका के लिये हुआ होगा । यदि लोगों की दिशा में नाटिका को बाव से अच्छा रहता है, यदि उससे विपरीत दिशा में नाटिका का बाव वांछनीय नहीं रहता । इसी लिये सम्भवतः अनुत्त न नाटिका का प्रयोग होता रहा होगा । बाद में अनुत्त न शब्द का प्रयोग

ध्वन्यालोकः

तथा—कुविधाधो पसबाधो ओरणमुहोओ विहसनाणाओ ।

जह गहिओ तह हिबधं हरन्ति उच्छित्त महिबाओ ॥

उसी प्रकार :—

‘स्वैरिणो महिटाए’ चाहे कुविड हो चाहे मत्तन्न हो चाहे रो रही हो चाहे हँस रही हो, बिस् रूप में ऊहे प्ररण करो उसी रूप में हृदय को हर लेती है ।’

तथा—

भज्यायै पहाओ नवखदाए दिण्णो पिण्ण घणवहे ।

मिउओ वि दूमहो निवज्जाओ हिभए सबत्तणिम् ॥

[नार्यायाः महारो नवखतया दक्षः प्रियेय स्तनपृष्ठे ।

मृदुकोऽपि दुस्तह इव जाओ हृदये सपक्षातान् ॥ इतिष्ठाया]

तथा—

परायै यः पीढामनुभवति महेऽपि मधुरो

पदांयः सर्वेषामिह तत्तु विकारोऽप्यभिमतः ।

न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स नृजगन्भेदप उचो

किमिच्छोर्दोषोऽभी न पुनरगुणाया मरभुवः ॥

इत्यत्रोक्षुपक्षेऽनुभवति तादः न चैवविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

‘प्रियठन ने झदनी नवजा पालो के लनो पर उसको नखला के बाएय एक हलका का महार भ्रान किया । वह महार कोमल होते हुए भी सफ़लियों के हृदय में मरुदनीय का मर्ताउ होने लगा ।’

प्रांनवी उदाहरण—

‘जो रघु दूसरे के लिये पीटा का अनुभव करता है, जो ताँडे जाने पर भी मधुर हा रहता है, जिसका विकार भी सभी को कभीहूँ होता है, यदि उस मकर का रघु निगलत दूँपड क्षेत्र में पककर बंद न सका तो क्या वह रघु का दोष है ? क्या वह गुणहीन मरुन का दोष नहीं है ?

वहाँ पर रघु पक्ष में ‘अनुभवति’ शब्द (ये उदाहरण होती है किन्तु प्रणि नहीं ।) उस मकर का मयोग धनि का विषय क्या हो ॥ नहीं सकता ।

लौचनम्

कुपिता प्रसक्ता अवसदितवदना विहसन्त्या ।

यथागृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वरिण्यो महिताः ॥

‘कुपित, प्रसन्न, रोड हुए मुखवालो, विहंसती हुई नेते की महार को जाने देते स्वरिणो महिताये हृदय को हर लेती है ।’

सारावर्ती

किसी शब्द का अपने वांछित अर्थ में प्रयोग प्रारम्भ होता है तब उसमें दो नहीं तीनों शब्द विद्यमान होते हैं। किन्तु परम्पराप्रवाह में जब लोग उसका अतिश्रम से प्रयोग करने लगते हैं तब उसमें किसी भी शब्द की प्रशंसा नहीं होती। अब कोई व्यक्ति व्याख्यान में 'कुशल' इस शब्द का प्रयोग करता है तथा साधारण श्रोता को न तो इस बात का हा आभास होता है कि 'व्याख्या में कुशल के उदाहरण का क्या अर्थ?' अब बाधित होकर यह शब्द निपुण अर्थ का प्रकाशन करता है, विवेकज्ञ रूप साधर्म्य ही लक्षणा का बीज है और 'मलम के रस से राहत सत्य व प्रहय का प्रकाशन करता' प्रयोग है। इन बातों पर बिना हा ध्यान दिये श्रोता 'कुशल' का निपुण अर्थ एकदम समझ जाता है। अभिधा से इसमें नेद यह है कि अभिधा में संकेत का माध्यम से किसी अर्थ में शब्द का प्रवृत्ति होती है और निरुद्धा लक्षणा में सर्वप्रथम बाधित होकर उचितरित वृत्ति से ही प्रवृत्ति होती है, बाद में वह शब्द अभिधावत् जैसा बन जाता है। कान्यकदाशकार ने 'कुशलप्रवृत्तिप्रयोगार्थ' मूल प्रवृत्ति को लेकर कहा है और अभिनव गुप्त ने बाधकाल में बाध इत्यादि के प्रतिबन्धान व हानि की बात लेकर 'दोनों शब्द लागू नहीं होती' यह कहा है। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं।

(प्रश्न) कभी-कभी कवि लोग चमत्कार का आधान करने के मन्तव्य से रूपकालेख इत्यादि की योजना के लिये निरुद्धा लक्षणा के मूल अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। (इस विषय में लोचन में जिस प्राकृत भाषा का उदाहरण दिया गया है वह निरुद्धा लक्षणा नहीं है और न उसकी सरलरूपलक्षणा का ही पता चलता है। अतः विहारी का यह दोहा इसका प्रकृत उदाहरण है—'सद्यः सद्योने रूप की जुन चरत तुषा गुझार।' नमकीन पानी को कितना ही पीने पडे जाओ उससे प्यास शान्त होती ही नहीं। रूप भी नमकीन है, अतः उसको पीने में नेत्रों का प्यास बुझती ही नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर नमकीन (लावण्युक्त) करने निरुद्धा लक्षणा के रूप में ही नहीं लिया गया है अपितु चमत्कार उत्पन्न के लिये कवि ने उसके मूल अर्थ की ओर संकेत किया है।) ऐसे स्थान पर निरुद्धा लक्षणा में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती ही है फिर वह कैसे कह सकते हैं कि निरुद्धा लक्षणा में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं। (उत्तर) यह सच है कि यहाँ पर निरुद्धा लक्षणा में ही व्यंग्यार्थ उचित है, किन्तु वह केवल लावण्य (नमकीन) शब्द से ही अवगत नहीं होता अपितु सम्पूर्ण वाक्यार्थ प्रतीति के बाद व्यंग्यार्थान्वायाग से वह अर्थ आता है। यहाँ पर नेत्रों को प्यास न बुझने से नमकीन शब्द के मूल अर्थ का ओर संकेत होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि निरुद्धा लक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता। अब इस विषय को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इसी लिये मूल में कहा है कि 'कहीं वही सम्भव होते हुए भी धर्तिलव्यवहार प्रचारांतर से प्रवृत्त होता है।' आन्तक यह है कि लक्षणावृत्ति के आधार पर लावण्य इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ही उस प्रकार की व्यञ्जना नहीं निकल सकती ॥ १६ ॥

ध्वन्यालोक

यत् —

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यच्चक्षारुत्वं प्रकाशयन् ।

शब्दन्यञ्जकतां विभ्रद्भ्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५ ॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचास्त्यन्यच्छिहत्तु शब्द ।

(अनु०) इसमें कारण यह है —

ध्वनि की रक्ति का विषय नहीं शब्द हो सकता है जो व्यञ्जनावृत्ति का आशय देकर ऐसी चास्ता प्रकाशित करे जो कि व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न किसी अन्य उपाय से प्रकाशित हो न की जा सके ॥१५॥

यहाँ पर उदाहरण दिये हुये निम्न में जिस शब्द में छापया है वह किसी ऐसी रमणीयता की अभिव्यक्ति में हेतु नहीं होता जो अन्य शब्द से व्यक्त न की जा सके ।

सारावली

मसज में उसको नखलाया तथा कोमलता का बिचार करते हुए बहुत ही कोमल प्रहार किया था, किन्तु फिर भी जिन सौतों ने इस सौमास्य सूचक कोड़ा-सविधान को प्राप्त नहीं कर पाया उनके लिये यह कोमल भी प्रहार असह्य हो गया । क्योंकि कोमल प्रहार था । (कोमल प्रहार मन का सूचक था । यदि मियतम ने जोर से मारा होता तो घायर सौतें मसज हो होतीं ।) यहाँ पर अन्य के कोमल प्रहार किया गया था और अन्य पर उसका प्रभाव पड़ा, यह असङ्गति असङ्गतर है । यह आश्चर्य की बात है कि प्रहार कोमल किया गया था और हो असह्य गया, यह विरोधाभास है । दान किसी वस्तु का दिया जाता है, प्रहार का दान करना असम्भव है । अतः प्रहार प्रदान किया का लक्ष्याश है प्रहार किया । लक्ष्याश का प्रयोजन है— सफल प्रहार किया । 'प्रहार प्रदान किया' इन शब्दों में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो 'सफल प्रहार किया' इन शब्दों में नहीं जा पाती ।

पौषवी उदाहरण अमस्तुतप्रमत्ता वा अन्योक्ति का है । 'इतु इतना गुणवान् होते हुये भी मरूमि में बुद्धि की प्राप्ति नहीं हो सका' यह अमस्तुत है, इससे अस्तुत भयं निकलता है— यदि महापुरुष किसी बुरे स्थान पर पहुँच कर उन्नति न कर सके तो इसमें महापुरुष का क्या दोष ? इसमें तो उस स्थान का ही दोष है । यहाँ पर 'अनुभवति' शब्द छपक है । अनुभव करना चेतन धर्म है । गन्ना कभी अनुभव नहीं कर सकता । अतः उसका लक्ष्यार्थ होता है— गन्ना पीसा जाता है । 'बाह्यपर पीसा का अनुभव करता है' इस कथन में ऐसी काह पाइता नहीं जो पीसा जाता है' कहने में न हो । यद्यपि अस्तुत महापुरुष के दृष्टिकोण से 'अनुभवति' शब्द मुख्य हो है तथापि नर कि अमस्तुत इतु की प्रमत्ता की जाती है तथा पीसा के अनुभव के साथ इतु के अन्वय की असम्भवता स्पष्ट होती है । उससे प्रोशान् में लक्ष्याश होती है और उसका परवसान पीसे जाने में जाता है ।

(मरन) नर कि यहाँपर प्रयोजन विषयान है । तब ध्वनि क्या नहीं मानी जाती ।

बोधनम्

मुख्यो वृत्तिमभिधाय्यापारं परित्यज्य परित्यज्य गुणवृत्त्या लक्षणारूप-
पाठ्यस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यापना, सा यत्कृत् कर्मभूत प्रयोजनमुद्दिश्य क्रियते,
तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः । न चासी लक्षणैव; यतः सरलन्ती
बाधकव्यापारेण विपुलाक्रियमाणा गतिरवबोधनेन शक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो
व्यापारो लक्षणा । न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः । तथाभावे
तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनावस्थानात् । तेनार्थं लक्षणाया

मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधाय्यापार को छोड़कर अर्थात् समाप्त करके लक्षणा रूप
में शिष्ट गोणावृत्ति से अमुख्य अर्थ का दर्शन अर्थात् प्रत्यापन, वह जिस फल अर्थात्
कारण में शिष्ट प्रयोजन के उद्देश्य से किया जाता है उस प्रयोजन में तो (कोई)
अन्य व्यापार होता है । यह लक्षणा तो नहीं ही होती क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात्
अवबोधन शक्ति स्थिति हमवाली अर्थात् बाधक व्यापार से विपुल की जानेवाली हो उसके
व्यापार को लक्षणा कहते हैं । प्रयोजन का प्रवर्णन करनेवाले शब्द का बाधक योग नहीं
होता । क्योंकि ऐसा होनेपर वही पर भी दूसरे निमित्त तथा दूसरे प्रयोजन के अन्वेषण से
अनवस्था हो जावेगी । भाव यह है कि इससे यह लक्षणा का विषय नहीं होता ।

व्यापत्ती

है । लक्षण भर्त्ता होता है और लक्ष्य भर्त्ता होता है । लक्षण-लक्ष्यभाव अभी बन सकता है जब
कि दोनों का एक विषय हो । जिसका विषय भिन्न होता है उनका भर्त्ता यहाँ भाव बन ही नहीं
सकता । अब लक्षणा और ध्वनि को ले लीजिए । लक्षणा का विषय होता है अमुख्य अर्थ,
(जैसे 'गङ्गाया घोष') में लक्षणा का विषय है अमुख्य भर्त्ता गङ्गा । इसके मतिवृत्त ध्वनि
(ध्वनित्वा) का विषय है लक्षणा का प्रयोजन (जैसे 'गङ्गाया घोषः' में शैल्य पावनत्व आदि)
इस प्रकार विषयभेद होने के कारण न इनका लक्ष्यलक्षणभाव बन सकता है न भर्त्ताभर्त्ताभाव ।
(प्रश्न) यहाँ पर तो लक्षणाव्यापार मानकर काम चल सकता है । प्रथम व्यापार के द्वारा
तब में लक्षणा ॥ और द्वितीय व्यापार के द्वारा प्रयोजन में लक्षणा हो जावे । इस प्रकार दो
लक्षणाव्यापारों को मानकर काम चल जावेगा, प्रथम ध्वनित्वा तथा ध्वननव्यापार को मानने
की क्या आवश्यकता रह जावेगी ? (उत्तर) दो लक्षणाव्यापार नहीं माने जा सकते क्योंकि
लक्षणा की सामग्री दिव्य शर उपस्थित नहीं है । इसी अभिप्राय से मन्त्रु कारिका (१७
वीं कारिका) लिखी गई है । इसका आशय यह है—नन्द की मुख्यवृत्ति अथवा प्रधान
व्यापार अभिधाय्यापार ही है । लक्षणा करने में उस मुख्यवृत्ति का परित्याग कर दिया जाता
है और गोणावृत्ति से जिसका कि दूसरा नाम लक्षणा है, अर्थ का प्रत्यापन कराया जाता है ।
इस लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ का प्रत्यापन कराया जाता है वह अर्थ भी मुख्य नहीं किन्तु
अमुरव (गौण) ही होता है । वह लक्षणा जिस फल अथवा प्रयोजन को छोड़ कर की जाती है

सारावली

‘शब्दोद्भवेन’ जिसके द्वारा प्रकटन किया जाने अर्थात् शब्द (३) ‘शब्दन शब्द.’ अर्थात् व्यापार (४) ‘शब्दोद्भवे’ जो व्यक्त किया जाने अर्थात् व्यञ्जनार्थ (५) इन सबका समुदाय । ये सब तमो ध्वनि का स्वरूप धारण करते हैं जब कि अन्य प्रकार से उसकी रमणीयता वा अभिपन्न सम्भव न हो । ‘ध्वनि वक्ति का विषय होता है’ अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा पुकारा जाता है । ‘उदाहरण लिये हुये विषय में’ अर्थात् ‘वदति’ इत्यादि स्थानों पर ॥१५॥

यहाँ तक यह बात बतलाई गई कि जहाँ छत्रणा में प्रयोजन की अभिव्यक्ति होती तो है किन्तु सौन्दर्य के लिये उसका उपयोग न होने के कारण वह अभिव्यक्ति व्यर्थ हो जाती है । अब यह बात बतलाई जा रही है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ छत्रणा होती है किन्तु प्रयोजन होता ही नहीं । (सारांश यह है कि छत्रणा दो प्रकार का होती है—निरुद्ध तथा प्रयोजनवती । निरुद्ध छत्रणा उसे कहते हैं जो कि प्रयोग परम्परा के कारण अपने मूल अर्थ को सर्वथा छानकर रुद्ध शब्द बन जाती है । पहले-महल विभी ध्वनि ने किता विशेष प्रयोजन से एक शब्द का हमारे अर्थ में प्रयोग किया । बाद में उसी के अनुकरण पर दूसरे लोगों ने बिना उस प्रयोजन पर ध्यान दिये उस शब्द का उभी रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार परम्परा चल पड़ी । धीरे धीरे उस शब्द का मूल अर्थ भिरोहित हो गया और वह शब्द दूसरे अर्थ में रुद्ध जैसा बन गया । उदाहरण के लिये कुशल शब्द की लीजिये । कुशल शब्द का मूल अर्थ है कुशा को बीननेवाला । बहुल कुशा को धानने में एक प्रकार की निपुणता अपेक्षित होती है । कुशा के आस पास और बहुत से वृक्ष उग जाते हैं । अतः कुशा के उपादान में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कुशा के साथ और पास समि-च्छित न हो जाव । इसी भाँसा पर किनी ने कुशल शब्द का प्रयोग निपुण के अर्थ में कर दिया । बाद में लोग उसी अनुकरण पर सामान्यतया निपुण के अर्थ में कुशल शब्द का प्रयोग करने लगे । वह प्रयोग इतना बढ़ा कि मूल अर्थ छूट गया और कुशल शब्द निपुण के अर्थ में सामान्यतया रुद्ध हो गया । इस प्रकार प्रयोग-परम्परा के कारण जो शब्द अर्थान्तर में रुद्ध हो गये हैं और जिनको मुनकर मूल अर्थ की प्रतीति नहीं होती उन्हें निरुद्ध छत्रणा कहते हैं । इनसे भिन्न जो छत्रणाएँ होती हैं उनमें अर्थान्तर में शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन को देखते होता है । उस प्रयोजन के प्राप्यमान के लिये व्यञ्जनार्थ का आश्रय लेना पड़ता है । वह व्यञ्जनार्थ दो प्रकार का होता है—एक तो ऐसा होता है कि यदि उसका अभिपान दूसरे शब्द के द्वारा किया जावे तो वह सुन्दरता नहीं आती जो छत्रणामूलक विशेष शब्द के प्रयोग से आती है । दूसरा ऐसा होता है कि उसका अभिपान हमारे शब्द ॥ करने पर भी रमणीयता में कोई अन्तर नहीं आता । ध्वनि का क्षेत्र प्रथम प्रकार की ही प्रयोजन-वती छत्रणा है द्वितीय प्रकार की नहीं । क्योंकि ध्वनि के लिये यह अनिवार्य है कि रमणीयता का पर्यवसान व्यञ्जनार्थ में हो ही । पिछले वृत्तों में कई उदाहरणों के द्वारा ऐसे रसक दिखलाये जा चुके हैं जहाँ छत्रणा तो होती है किन्तु दूसरे शब्दों से भी कहे जाने की योग्यता रखने के कारण ध्वनि नहीं होता । अब निरुद्ध छत्रणा पर विचार किया जा रहा है तिसरे प्रयोजन

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चाख्यातितयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्द-
स्यामुक्त्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चेन्नम् ।

(अनु०) प्रयोजन का लक्षण है ऐसे अर्थ को प्रकाशित करना जिसमें सौन्दर्य को विशेष
रूप से अभिव्यक्ति हो । यदि उसके प्रकट करने में शब्द की सुस्पष्टता का आशय लिया जावे
तो उपर्युक्त प्रयोग ही दुष्ट हो जावे । किन्तु ऐसा होना नहीं ।

सौधनम्

न विषय इति भावः । दर्शनमिति व्यक्त्यो निर्देशः । कर्तव्य इति । अग्रगमयितव्य
इत्यर्थः । अनुसृत्यतेति । बन्धनेन निपुणोक्त्यर्थः । तस्येति शब्दस्य ।
दुष्टतैवेति । प्रयोजनावगमस्य सुरसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्-
मुक्त्यार्थः । यदि च 'सिंहो बद्धः' इति शौचातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्तल्लङ्गा-
तिस्य शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीति नैव कुर्वीति किमर्थं तस्य प्रयोगः ? उपचारेण
कश्चिदिति चेन्नपि प्रयोजनान्तरमन्वेप्य तत्राप्युपचार इत्यनवस्था । अप न
तत्र स्तल्लङ्गातिः तर्हि प्रयोजनेऽग्रगमयितव्ये न लक्षणास्यो व्यापारः तस्या-
स्यमावात् । न च नास्ति व्यापारः । न चास्याभिधा सम्यक्स्य उद्यामावात् ।
ध्वन्यापाराभारमभिधालक्षणातिरिक्त स ध्वननव्यापारः । न चैवमिति । न च
'दर्शनम्' मे निबन्ध निर्देश है । कर्तव्य इति । अर्थात् अग्रगम्यता का प्रतीति ।
अनुसृत्यते इति । अर्थात् बन्धन के द्वारा निपुण किया जाता । 'तस्य' का अर्थ है शब्द का ।
दुष्टतैव इति । प्रयोजन के अवगमन की सुविधापूर्वक निष्पत्ति के लिये उस अनुसृत्य अर्थ में
शब्द का प्रयोग किया जाता है । यदि 'सिंहो बद्धः' में सिंह के अवगमन करावे जाने का
लक्ष्य होवे तो शब्द की गति का स्थल हो जावे तो उस प्रतीति को उपर्युक्त नहीं करेगा कि
उसका प्रयोग ही किमलिये (किया गया) ? उपचार (अनुसृत्य व च लक्षणा) के द्वारा का
वेगा तो बहोर भी दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण करना पड़ेगा; बहोर भी उपचार (मानना
होगा) यह अनवस्था आ जायेगा । यदि बहोर गति का स्थल न माना जावे तो प्रयोजन
का अवगमन करने में लक्षणा नामक व्यापार नहीं होगा क्योंकि उससे सान्प्रती नहीं है ।
यह बात नहीं है कि वहाँ (कोई) व्यापार न हो । वह अभिधा है नहीं क्योंकि वहाँ संकेत
नहीं है । लक्षणा और अभिधा के अतिरिक्त जो व्यापार है वहो ध्वनन-व्यापार है । न येन-

सारावली

अतः वही शरीर भाँखती रही । एक बात और है—यदि कोई प्रयोजन दूर भी निकला
जावे तो उसके प्राधान्य के लिये भाँखती सब सामग्री जुटाती पड़ेगी । किन्तु उसमें भी वही शरीर
शरीर प्रयोजन की हाँगी जिसके लिये पुनः सामग्री जुटाती पड़ेगी । यही अनवस्था दोष है
जिसके कारण मूल रूप में ही प्रयोजन में लक्षणा का निराकरण हो जाता है । इससे यह
सिद्ध हुआ कि प्रयोजनशक्ति लक्षणा-लक्षणा का विषय नहीं है । (लक्षणा दो प्रकार का

ध्वन्यालोक.

तेषु अपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

इन शब्दों में शब्द की उपचरितवृत्ति (लक्षणावृत्ति) होता ही है । इस प्रकार के विषय में कहीं कहीं मूल शब्द सम्भव होते हुये भी उनमें ध्वनि-व्यवहार दूसरे रूप में प्रवृत्त होता है । उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

लोचनम्

ननु 'वचनिति लुणादि पलुनमिगमिज्वाकवणुगम्यक गुमरिफोल परण्य (?) इत्यादी लावण्यादिशब्दसंविधानेऽस्ति प्रतीयमानामित्यनि, सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दान् । अपि तु समप्रवाक्यार्थप्रत्यारण्यनन्तर ध्वननभ्यापारादय । अत्र हि प्रियतमामुलस्यैव समस्तप्रकाशकरव ध्वन्यत इत्यल बहुना । तदाह—
प्रकारान्तरेणिति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः ॥१९॥

(मन्) 'वचनिति लुणादि पलुनमिगमिज्वाकवणुगम्यक गुमरिफोल परण्य' इत्यादि में लावण्य इत्यादि के सन्निधि में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है । (उत्तर) सब है किन्तु वह लावण्य शब्द से नहीं होनी अपि तु समप्र वाक्यार्थ का प्रतीति के बाद ध्वनन-भ्यापार से होती है । वहीँ नितानन्द प्रियतमामुल का ही समस्त दिशाओं का प्रकाशकर ध्वनित होता है । कम, बहुत की क्या आवश्यकता ? वह कहत है—प्रकारान्तरण इत्यादि । अर्थात् ध्वन्यवत्त्व के द्वारा ही । उपचरित लावण्य इत्यादि शब्द के प्रयोग के द्वारा नहीं ।

पारावर्ती

हो 'अनुकूल दिशा में' इस अर्थ में होने लगा । इसी प्रकार प्रसिद्ध शब्द का मुख्य अर्थ है कूल अर्थात् तट की दूसरी ओर । पहले यह शब्द नदी की धारा के लिये प्रयुक्त हुआ होगा कि नदी का धारा 'प्रतिकूल' अर्थात् तट की दूसरी ओर है । किन्तु बाद में सभी विपरीत दिशा की वस्तुओं के लिये इस शब्द का प्रयोग होने लगा । इसी प्रकार सार्ध अर्थात् एक पुरुष के पास बड़े-छोटे दो ब्रह्मचारियों की सत्रसंघाती रहते होये बाद में इस शब्द का प्रयोग किसी भी समान गुण रखनेवाले व्यक्ति के लिये होने लगा । (इसी प्रकार पुण्ड्र, मण्डप इत्यादि शब्दों के विषय में समझना चाहिये ।)

लोचनवार ने लिखा था कि निरुद्धा लक्षणा में लक्षणा की तीन शर्तें लागू नहीं होती । इस पर श्रीमहादेव शास्त्री ने लिखा है—'वस्तुतः निरुद्धा लक्षणा स्थल पर भी मुख्यावस्था और मुख्यावस्था का अन्तर्भाव होना ही है, केवल प्रत्यक्षन व्यभिचर नहीं होता । नहीं तो लक्षणा का अन्तर्भाव ही नहीं हो सत्रा और अभिप्राय से भेद क्या [रह जायगा ?] इसीलिये निरुद्धा लक्षणा के उदाहरण 'वनजि कुञ्ज' इत्यादि में काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि 'कुञ्जमहल इत्यादि के अर्थ का प्रयोग न होने के कारण ।' यह बतलता है सत्रा होनी है जब कि निरुद्धा लक्षणा में मुख्यावस्था और मुख्यावस्था व्यभिचर हो ।' भेदा निवेदन है कि जब

ध्वन्यालोक.

तस्मात्--

वाचकत्वाद्येणैव गुणवृत्तिर्न्यवस्थिता ।

व्यञ्जकानैकमूलस्य ध्वने स्याल्लक्षण कथम् ॥ १८ ॥

(अनु०) अतएव—गुणवृत्ति । गोणोवृत्ति तथा लक्षणा) वाचकत्व का आशय लेकर ही ध्वनिरियत होती है । अतएव वह (उस) ध्वनि का लक्षण वैसे हो सकती है जिसका एकमात्र मूल व्यञ्जकता ही होती है ॥ १८ ॥

लोचनम्

उपसहरति—तस्मादिति । यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाधिता । तद्वाचननोऽयानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्ति गोण-आधनिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनरत्मनो लक्षणा स्यात् ? भिन्न-विषयादिति ।

उपसहार करते हैं—तस्मादिति । क्योंकि लक्षणा अभिधा-पुच्छभूता ही होती है इस हेतु से उसके वाचन से उठने के कारण और उसकी पुच्छभूता होने के कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधान्यापार का सहारा लेनेवाली गुणवृत्ति अर्थात् गोण आधनिक (नामक) प्रकार । वह किस प्रकार व्यञ्जनरत्मक ध्वनि का लक्षण होगा ? क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है ।

वाराक्ये

यदि कहे कि प्रयोजन के प्रत्यायन में शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती तो मानना पड़ेगा कि प्रयोजन के अग्रिम में लक्षणा नामक व्यापार होता ही नहीं क्योंकि उसकी सामग्री तो रही हो नहीं वह तो बाध कह ही नहीं सकते कि वही पर कोई व्यापार होता ही नहीं । वही व्यापार होता है । ॥ व्यापार 'अभिधा' नहीं हो सकता क्योंकि प्रयोजन में संकेतग्रहण नहीं हुआ है । (कोश प्रत्ये में गद्या का अर्थ शीतल और पावन लिखा नहीं होता । अतएव प्रयोजनप्रत्यय के लिये कोई दूसरा व्यापार हो मानना पड़ेगा ।) अभिधा और लक्षणा से भिन्न जो दूसरा व्यापार है वही ध्वनन्यापार कहा जाता है । वृत्ति में कहा गया है—'यह बात वही नहीं होती' ॥ वाचक का आशय है कि लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति किसी भी विषय से रहित तत्काल हो जाती है । इसका अभिप्राय यह है कि वह अभिधा मुख्य अर्थ में प्रविष्ट होने लगती है तब वाचक आकर उसे रोक देता है । अब चूंकि अभिधा चरितार्थ हो नहीं पाती अतएव वही दूसरे अर्थ (अनुपलब्ध अर्थ) में बट जाती है । आशय यह है कि लक्ष्यार्थ भी अभिधा का अनुसंधान ही है, इसलिये लक्ष्यार्थ के लिये ठग कहा करत है कि यह इसका अनुसंधान है । इसी प्रकार अनुसंधान रूप में संकेत ग्रहण भी वही पर माना जाता है । इसी कारण कहा जाता है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर चला करता है ॥ १७ ॥

ध्वन्यालोकः

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।

यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्पष्टद्गातः ॥ १७ ॥

(अनु०) और भी—

‘मुख्य (अभिधा) वृत्ति को छोड़कर गौणी (लक्षणा) वृत्ति से जिस फल को अभिव्यक्ति के लिये अर्थ का प्रत्यापन किया जाता है उस फल को धोतिव करने में शब्द की गति प्रस्तुत नहीं होती।’

लोचनम्

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्ति-लक्षणं तदा भक्तिसिद्धिौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि इमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाभ्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः । न च निम्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः । धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाभ्यापारो युक्तः लक्षणसामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—अपि चेत्यादि ।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति होती है वहाँ-वहाँ ध्वनि होती है यह तो सही है। उससे यदि भक्ति ध्वनि का लक्षण है तो भक्ति के निकट सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार हो जावेगा। इससे अतिव्याप्ति होगी। स्वीकार करके भी हम कहते हैं—‘हो, जहाँ-जहाँ भक्ति वहाँ वहाँ ध्वनि।’ तथापि यद्विषयक लक्षणाभ्यापार होता है तद्विषयक ध्वनि-व्यापार नहीं होता। निम्न विषयवाले दो पदार्थों का धर्मधर्मों प्राप नहीं होता। और धर्म ही लक्षण (होता है) यह कहा जाता है। उसमें लक्षणा तो अनुस्मार्तविषयक व्यापार होता है और ध्वनन प्रयोजन-विषयक होता है। उसके विषय में भी दूसरा लक्षणाभ्यापार हो उचित नहीं है क्योंकि लक्षण की सामग्री का अभाव है। इस अभिप्राय से कहते हैं—अपि च इत्यादि।

तारावर्ती

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जहाँ-जहाँ लक्षणा हो वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है। अतएव यदि लक्षणा के द्वारा ध्वनि पहचानो जाओ है तो जहाँ-कहीं लक्षणा होगी वहाँ ध्वनि का व्यवहार होने लगेगा, यह अति-वाति दोष होगा। क्योंकि हम योही देर के लिये यह स्वीकार किए लेते हैं कि जहाँ-कहीं लक्षणा होती है वहाँ ध्वनि अवश्य होती है। तथापि हमें यह कहना है कि लक्षणाभ्यापार का जो विषय होता है ध्वनि-व्यापार का वही विषय नहीं होता। लक्षण उसे ही कहते हैं जो जिसमें नियमित रूप से रहता है। (जैसे गन्धर्वक नियमित रूप से पृथिवी के अन्दर रहता है अतः गन्धर्वक पृथिवी का लक्षण है।) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि असाधारण धर्म को ही लक्षण कहते

छायावती

[२१ वीं 'छाया' को हम ध्वनि का छाप मान सकते हैं या नहीं? इस प्रश्न पर विचार किया गया है। छाप का अर्थ है छवि का रंगना या पहचान करना। उदाहरण के लिये छिमा क यह पृष्ठ पर 'गाय केवां होती है? हम उसे गाय को एक ऐसा विशेषता बता दें जिससे वह गाय को ठीक पहचान ले। उसी विशेषता को छाप कहते हैं। गाय का छाप भी अनेकानेक, ऐसा ही जाना चाहिये जो सभी गावों में लागू हो जाय तथा गाय से भिन्न किसी अन्य वस्तु में लागू न हो। तथा छाप का पूर्णता कही जायगी। यदि गाय का छाप किसी जात और वह भेड़ में भी लागू हो जाय तो वह छाप का दोष होगा और वह छाप अशुद्ध करा जायेगा, इस छाप दोष का अनिवार्य कहते हैं। यह कि वह छाप का छाप में अधिक से अन्त हो जाना है। जैसे—यदि गाय का वह छाप दिया जावे कि 'जिसके चार दाँत हैं उसे गाय कहते हैं।' वह छाप अति-अन्त है कि वह गाय में भिन्न पोस गया भेड़ इत्यादि में भी लागू हो जाता है। इस प्रकार यदि गाय का ऐसा छाप बनाया जाय जो गाय गावों में तो लागू हो जाय और सभी गावों में लागू हो न हो तो छाप को अन्त छाप कहेंगे। जैसे यदि गाय का वह छाप दिया जावे कि 'जो सामान्यमान् श्वेत रंगु हो उसे गाय कहते हैं' वह छाप काछा गावों में लागू हो नही। अतः वह अन्त छाप है। अन्त छाप भी अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार अनिवार्य और अन्त छाप दो छाप-दोष होते हैं। यदि ध्वनि का छाप बनाया जावे और वह ऐसे स्थान पर भी लागू हो जाय जिन ध्वनि न माना जा सके तो उस छाप को अनिवार्य कहेंगे। 'छापना हा ध्वनि का छाप है' इस छाप में निश्चित प्रकार से विस्तारपूर्वक अनिवार्य दोष दिखताया जा चुका है। (इसके विचार के लिये देखो १४ वीं तथा १५ वीं कारिकाओं का भाष्य।) यह अनिवार्य का छाप—यदि ध्वनि का छाप बनाया जावे और ध्वनि के ही कुछ भागों में पड़ न हो तो वह छाप का अनिवार्य होवी। परन्तु प्रकार में यही अनिवार्य दिखताया जा रही है।]

१४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध में कहा गया था कि 'अनिवार्य तथा अनिवार्य के कारण गुणवृत्ति या छापना ध्वनि को छिन्न नहीं कराना।' इसको अनिवार्य का ता पड़ते भाष्य की जा चुका, यह अनिवार्य का अनिवार्य को जा रही है। 'इस छाप में अनिवार्य दोष भी है' वृत्ति का इस भाष्य में 'इस' शब्द का अर्थ है—'गुणवृत्तिरूप छाप में' गुणवृत्ति को छाप मानने में तभी अनिवार्य दोष नहीं हो सकता जब कि यहाँ कहीं ध्वनि हो यहाँ सर्वत्र छापना ॥ गुणवृत्ति अवश्य विद्यमान हो। किन्तु ऐसा होता नहीं है। [ध्वनि के कुछ भागों में तो गुणवृत्ति रहता है और कुछ में नहीं रहता। पहले ध्वनि के भेद करने गये थे अनिवार्यभाव या छापानामूलक ध्वनि और निवर्तमानस्वरभाव या अनिवार्यक ध्वनि] इनमें अनिवार्यभाव में तो छापना होगी है जिसके उदाहरण 'ध्रुवपंशुषां पृथीम्' इत्यादि हो

वाराचली

सप्त प्रयोजन के प्रस्थापन के लिये किमी अन्य भुक्ति को न मानना अनिवार्य है । (कारिका में फल शब्द में कर्म का प्रयोग किया गया है । वैचारिकों के मत के अनुसार धातु के दो भव्य हात हैं—फल तथा व्यापार । जैसे लकड़ा काटना एक क्रिया है, इसमें हाथ से कुल्हाड़ी उठा कर लकड़ी पर मारना व्यापार है, और लकड़ी के दो टुकड़े हो जाना फल है । जिसके अन्दर व्यापार रहता है उसे कर्ता कहते हैं और जिसके अन्दर फल रहता है उसे कर्म कहते हैं । मत्प्रेक्षक व्यापार का कोई न कोई फल अवश्य होगा है । लक्षणा भी एक व्यापार है इनका भी फल होना चाहिये । अब प्रश्न यह है कि उन फल अथवा प्रयोजन के प्रस्थापन के लिये कौन सा व्यापार माना जाना चाहिये ? क्या वह भी लक्षणा ही है ?) यह लक्षणा नहीं हो सकती । क्योंकि लक्षणा वही पर हाती है जहाँ शब्द की गति स्थिति हो जावे अर्थात् वहाँ शब्द की अवबोधनशक्ति किसी बाधक व्यापार के द्वारा कुण्ठित कर दी जावे । (जैसे महाह में घर बन सकने की अवबोधनशक्ति के कारण जब बाध की गति कुण्ठित हो जाती है तब उससे दूसरा अर्थ लिया जाता है) किन्तु जब शब्द प्रयोजन का अवगमन कराने लगता है, तब उसमें शब्द की अवबोधनशक्ति कुण्ठित नहीं होती । (जैसे 'गङ्गा तट पर घर' यह कहने में शब्द की शक्ति बाधित नहीं होती । यदि प्रयोजन के प्रस्थापन में भी बाधक बाध तथा लक्षणाव्यापार माना जावेगा तो लक्षणाव्यापार को सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी । जैसे प्रथम बार लक्षणा के लिए कोई सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक प्रयोजन माना जाता है । उसी प्रकार प्रयोजन की अवगति के लिये भी कोई नया सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा । इससे अनवरता दोष होगा । (आमतौर यह है कि लक्षणा की तीन शर्तें होती हैं—(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थ सम्बन्ध और (३) रुद्धि अथवा कोट प्रयोजन । यदि प्रयोजन के प्रस्थापन के लिये हम लक्षणा का सहारा लेंगे तो लक्षणा की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी । जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य में लक्षणा की तीन शर्तें विद्यमान हैं—(१) महाह में घर नहीं बन सकता इससे गङ्गा के मुख्य अर्थ महाह का बाध हो जाता है । (२) तट का गङ्गा से सम्बन्ध है इससे गङ्गा शब्द से तट अर्थ ले लिया जाता है । (३) गङ्गा तट के स्थान पर 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग यत्रागत दीर्घ पावनस्व की प्रतीति के लिये किया गया है । यही बाधित प्रयोग का प्रयोजन है । अब इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये हमें दूसरी बार लक्षणा करनी है । इसमें लक्षणा की कोई भी शर्त नहीं मिलती । (१) एक तो गङ्गा का 'गङ्गातट' अर्थ मुख्य नहीं है, दूसरे 'गङ्गा तट पर घर' यह वाक्य असम्भव नहीं है, जिससे उसका बाध हो जावे । अतः पहली शर्त समाप्त हो गई । (२) जिस प्रकार महाह और तट का सम्बन्ध है तट तथा दीर्घ पावनस्व का नहीं है । तट की अपेक्षा तो महाह में ही अधिक शीतलता और पवित्रता होती है । अतः कोई ऐसा निमित्त दिखाई नहीं पड़ता जिससे दूसरी बार लक्षणा हो सके । (३) शीतल व और पावनस्व से मित्र और प्रयोजन क्या होगा जिसके लिये यह लक्षणा की जानी चाहिये ? स्पष्ट हो है कि ऐसा कोई प्रयोजन विद्यमान नहीं है ।

वारावरी

नहीं गया है। यह लक्षणा है। किन्तु आलङ्कारिकों को यह विभेद मान्य नहीं। उनका कहना है कि बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा का बीज है और वह गुणवृत्ति में भी विद्यमान है ही फिर इन दोनों वृत्तियों के भेद मानने की क्या आवश्यकता ? शब्द प्रयोग कान्ता कोय पेमा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है जो वृत्तिभेद का हो प्रयोजक हो आवे। मोमासकों के सिद्धान्त का आरम्भ करने के लिये आलङ्कारिकों ने लक्षणा के दो भेद माने हैं गौणी और शुद्ध। साहस्य सम्बन्ध में गौणी लक्षणा है तो है तथा साहस्यभिन्न सम्बन्ध में शुद्ध। गौणी लक्षणा में भी सर्वत्र शब्दों का प्रयोग नहीं होता। नहीं होता है वही वह रूपक का बीज बन जाता है सम्बन्ध रूपकानुशोक्ति का बीज होता है। इसी मन्तव्य से यहाँ पर कहा गया है कि लक्षणा गौणी का भी भाग्य कर लेती है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि गौणी स्थल पर एक दूसरे अर्थ को कृता किस प्रकार है ? तथा जब उस अर्थ का वाचक शब्द भी साथ में रहता होता है तब उससे उसकी परना कैसे बनती है ? यहाँ पर शब्द की तीन प्रकार की क्रिया हो सकती है—(१) केवल लक्षक शब्द ही वाचक के अर्थ को लक्षित करता है उसके साथ सामानाधिकार्य को प्राप्त हो आवे। (एक ही अर्थ को भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट करने को शब्दों का सामानाधिकार्य कहा जाता है।) जैसे 'सिंहो वद' इस वाक्य में (सिंह शब्द लक्षक है और वद शब्द वाचक। सिंह शब्द 'वद' का अर्थ बढ़कर वद के साथ सामानाधिकार्य को प्राप्त हो जाता है।) (२) अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक शब्द के साथ दूसरे वाचक शब्द को सामानाधिकार्य बना देता है (३) अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक साथ दूसरे शब्द और अर्थ को लक्षित करा कर उनके साथ मिल जाते हैं। यही छात्रजिक का गौणी से भेद है। जैसा कि कहा गया है— 'गौणी में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं।' (किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। गौणी में भी शब्द प्रयोग नहीं होता और लक्षणा में होता भी है। लक्षणा के दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना। सारोपा रूपक बलवृद्ध का बीज है इसमें लक्षक शब्द के साथ वाचक का भी प्रयोग होता है जैसे 'सिंहो वद।' साध्यवसाना रूपकानुशोक्ति का बीज है। इसमें शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे बालक के लिये केवल सिंह शब्द का प्रयोग। यह तो गौणी की बात है। साहस्येतरसम्बन्ध अर्थात् लक्षणा के दूसरे भेदों में भी दोनों दशाएँ होती हैं। जैसे कार्यकारणभाव सम्बन्ध के उदाहरण 'आयुर्धनम्' में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि भी सानेनाथे शक्ति के लिये कई कहते हैं कि यह आयु खा रहा है तो यह साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार दोनों स्थानों पर दोनों अवस्थाएँ हो सकती हैं। अब आलङ्कारिकों का ही मत ठीक है कि गौणी या समावेश लक्षणा में हो होता है।) गौणीवृत्ति में भी लक्षणा होती ही है। अतएव (बाधित शब्द के प्रयोग में) सर्वत्र लक्षणा व्यापक हो होगी। वह लक्षणा (साहस्य सम्बन्ध के अतिरिक्त) ५ प्रकार की होती है। वह इस प्रकार—(१)

बोद्धवम्

प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव प्रतीते । तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे
बाधकेन प्रविष्टि सुनिरूप्यमाना सर्वा अघरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति । अत एव
अमुख्येऽस्यायमर्थ इति व्ययहार । तथैव चामुख्यतया सङ्केतग्रहणमपि तत्रा
स्तात्यमिधापुच्छभूतैव सा ॥ १७ ॥

मिति । इस प्रकार के प्रयोग में कई दुष्टता नहीं ही हैं क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति बिना
विघ्न के ही हो जाती है । इससे अभिधा ही मुख्य अर्थ में प्रवेश की इच्छा करते हुए बाधक
के द्वारा रोक दी हुई होकर चरितार्थ न होने से अयथ प्रसरित होती है । इसलिये इसका यह
अर्थ अमुख्य है यह व्यवहार होता है । वही प्रकार अमुख्य रूप में वहाँपर सकेत ग्रहण भी
है इसीलिये लक्षणा अभिधा की पूछ पकड़कर ही चलती है ॥ १७ ॥

सारांश

होती है उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा । उपादान लक्षणा वही होती है जहाँ लक्ष्यार्थ
के साथ लक्ष्यार्थ का भी परिवर्तन नहीं होता । इसे हा अग्रहणार्थी लक्षणा कहते हैं । जहाँ
लक्ष्यार्थ का सर्वथा परिवर्तन कर लक्ष्यार्थ सत्यता मित्र रूप में लिया जाता है उसे लक्षणलक्षणा
या जहालक्षणा लक्षणा कहते हैं । 'गद्गदी घोष' में उपादान लक्षणा नहीं है क्योंकि यहाँ पर
महाद्वयार्थ का सर्वथा परिवर्तन हो जाता है । लक्षणलक्षणा का विषय भी सत्य वाक्यत्व
इत्यादि नहीं अस्तित्व ही है ।) कारिका में 'अवदानम्' शब्द का प्रयोग विदा गया है ।
इसमें दशम शब्द 'दुष्ट' शब्द से निवृत्त होकर लुप्त प्रत्यय होने से बना है । अर्थात् इसका
आशय है अर्थ का दिखलाया जाना (देना जाना नहीं) सारांश यह है कि मुख्य वृत्ति को
छोड़कर जिस कथ के उद्देश्य से गौण वृत्ति के द्वारा कथ दिखलाया जाता है तबमें शब्द की
गति प्रकटित नहीं होती ।' वृत्ति में टिका है— यदि प्रयोजन करने में शब्द की अमुख्यता
हो तो उसके प्रयोग में दुष्टता का आशय । इस वाक्य में 'करने में' शब्द का अर्थ है 'अव
गमन कराने में', 'अमुख्यता का अर्थ है बाधक के द्वारा कुण्ठित कर देना और 'उसके' का
अर्थ है शब्द के । इस प्रकार एक वाक्य का आशय यह है— (मुख्य अर्थ की छाड़कर)
उस (उद्देश्य) अमुख्य अर्थ में (गद्गदी घोष) शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता
है जिससे प्रयोजन का अवगम सुविधापूर्वक हो जाये । (जैसे 'लक्षणा की अवगम कर है' यह
बहने के समान पर 'लक्षणा की कर है' इस वाक्य का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि जिससे
श्रीवाचिन्म की अभिधैव हो जाय ।) यदि 'लक्षणा की कर है' इस वाक्य के द्वारा शीघ्र
विषय की प्रतीति बनाने में शब्द की गति कुण्ठित हो जाय तो यह शब्द उस श्रीवाचिन्म की
प्रति उभरा ही नहीं सकेगा । तो उसका प्रयोग ही क्यों किया गया ? यदि वही उसको
महा उद्देश्य (लक्षणा) के द्वारा हो जायगी तो उसके लिये भी कोई प्रयोजन हुँदा पड़ेगा,
तबमें भी लक्षणा करनी पड़ेगी । (फिर तोसरी फिर शीघ्र इस प्रकार लक्षणाओं की लक्षी
सी लक्षणा करनी और उनको कही समझ ही न हो सकेगी ।) यह अनवस्था दोष होगा ।

साक्षनम्

तथाहि—'सिखरिणि' इत्यत्राकस्मिन्प्रश्नविशेषादिबाधकानुपवेशे सादृश्या-
लक्षणास्तथैव । मन्त्रशास्त्रादृतेव मन्त्र्य लक्षणा, कथं तद्वत्क विरक्षितान्यपाति ?
तज्ज्ञेदाश्च मुख्य्यास्तत्तद्व्यक्रमात्ता विरक्षित । तज्ज्ञेदश्चन्दन रसभावतदाभास-
तत्प्रसामभदास्तदन्तरभदाश्च, न च तेषु लक्षणाया उपपत्तिः । तथाहि—
विभावानुभावप्रतिपादक काव्य मुख्यार्थे तावदसाधकानुपवेशाऽप्यसम्भान्य इति
का लक्षणावकाशः ?

वह इस प्रकार—'सिखरिणि' इसमें बाधविशेष नञ् विभाव इत्यादि बाधक न अनुपवेश
में सादृश्य से लक्षणा है ही । (प्रश्न) निम्नलिखित वहीँपर मन्त्र्य में लक्षणा अत्रावार ही कर
ली फिर इसे विरक्षितान्यपर वह क्या कहा गया ? (उत्तर) यहाँ पर उसका असंलक्ष्य
प्रमाण मन्त्र्य भद कहा जाता अभास है । तज्ज्ञेद शब्द से रस भाव उनके अभास उनके
प्रसाम भद तथा उनके अवान्तर भद (आत है) उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं हो जाती ।
वह इस प्रकार—विभावानुभाव प्रतिपादक काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का अनुपवेश ही
असम्भान्य है फिर लक्षणा का क्या अवकाश ?

तारावती

लक्षणा हो जाती है । (५) क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का
अपहरण करनेवाले के विषय में कहा वह हमारे प्राण हर रहा है । (अन्न प्राण का
कारण है अतः कार्यकारणभाव सम्बन्ध से अन्न का प्रयोग प्राण के अर्थ में कर दिया गया है ।
इस प्रकार इस बीच भदवाली लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है । वह इस प्रकार—वहले
विश्वितान्यपरवाच्य का उदाहरण दिया गया था—'न जाने इस शुक्र शावक ने कितने दिनों
किस वर्ष पर कीन सी तपस्या की है जो इसे तुम्हारे अवर-दशन का सौमन्य प्राप्त हुआ ।'
इस उदाहरण में भी बाध उपस्थित होता है—क्योंकि नायक ने अकस्मात् वह प्रश्न क्यों कर
दिया वह समझ में नहीं आता । अतः विशेष प्रकार के प्रश्न के अभावमात्र किने जाने से
बाधक का अनुपवेश हो जाता है और अवर सुम्न में विस्मय तथा नायक का साहचर्य
हाने का कारण लक्षणा हो ही जाती है । (सिद्धान्ती) पिछले प्रकरण में मैंने इस उदाहरण
में मन्त्र्य में लक्षणा मान हा ली । (पूर्वापत्ति) फिर आप यहाँ पर एक दूसरा भेद विरक्षितान्यपर
वाच्य क्यों मानते हैं ? उसे लक्षणा मूलक अविवक्षितवाच्य में ही क्यों सम्मिलित नहीं कर देते ?
(उत्तर) विरक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस इत्यादि
तथा उसके भेदों की ध्वनि तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु तथा अलङ्कार की ध्वनि । तथा
उसके 'भद' का अर्थ है—रस, भाव, रसामास, मात्राभास और भावप्रशान (भावोदय,
भावशान्ति, भावसन्धि और भावप्रवृत्ता) की ध्वनि तथा उनके अवान्तर भद । वह असंलक्ष्य
क्रमव्यङ्ग्य ही विरक्षितान्यपरवाच्य का प्रमुख भेद है इसमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं होती ।
वह इस प्रकार—विभाव और अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक
का अनुपवेश असंभव है । अतः लक्षणा का अवकाश ही यहाँ पर क्या हो सकता है ?

ध्वन्यालोक

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्ति । अभ्यासिरप्यस्य लक्षणस्य नहि
ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षण अन्ये च बहव प्रकारा मत्तया म्या-
प्यन्त । तस्माद्रक्तिरलक्षणम् ।

(अनु०) अनरध्वनि अन्य होता है तथा गुणवृत्ति और हाथी है । इस लक्षण में
अभ्यासि शब्द भी है विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि का मंद तथा और बहुत से प्रकारों
में लक्षणों व्याप्त होता हो नहीं । अब लक्षण ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।

लोचनम्

एतदुपसहरति—तस्मादिति । यतोऽतिम्यासिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च मित्र-
विषयं च तस्मादुक्तोक्तिरर्थः । पूर्वम् 'अतिम्यासर्न' चासौ लक्ष्यते तथा'
इति कारिकागतोक्तिरप्यसि व्याप्ये अभ्यासिरप्यस्यति । अस्य गुणवृत्तिरूपस्ये-
त्यर्थः । यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेत् स्यादभ्यासि । न चैवम्—

इमं वा उपसहार करते हैं—तस्मादिति । क्योंकि अति-म्यासि बतलाइ है उसके प्रसङ्ग से
मित्रविषयता आ जाती है इसलिये उचित है । इस प्रकार 'अति-म्यासि और अभ्यासि से
यह हमने द्वारा लक्षण नहीं कहा जाता' इस कारिका में बाइं हुई अतिम्यासि का व्याख्या कर
अभ्यासि की व्याख्या कर रहे हैं—'अभ्यासिरप्यस्य इति' । अर्थात् इस गुणवृत्तिरूप की । जहाँ
जहाँ ध्वनि होती है वहाँ वहाँ यह भक्ति हो या अभ्यास न होवे । ऐसा नहीं है ।

तारावती

अद्वारहरी कारिका में भक्ति ध्वनि का लक्षण है तो है इस मान्यता पर विचार का
उपसहार किया गया है । कारण यह है कि लक्षणों अभिधा की पूछ बककर हो आगे पड़ती
है इसी कारण वाचक-च अर्थात् अभिधा-वाचक की आशय कही जाता है । इसके दो कारण
हैं—एक तो लक्षणों का अर्थ ही अभिधा की वाचक होता है दूसरे लक्षणों अभिधेदार्य
की अवगति के लिये आती है । गुणवृत्ति का प्रथम है यौग्य लक्षणों का प्रकार । वह
अन्यत्रानक ध्वनि का लक्षण ही हो कहे सकती है ? क्योंकि दोनों के विषय भिन्न होते
हैं । (आगे यह है कि लक्षणों परलक्ष्यता के सम्बन्ध में ही होता है । वह अभिधा से
निरपण होकर रहे ही नहीं सकती । गङ्गा' इत्यादि पद से तीर' तथा दल्लवाय नभा छिये
आते हैं अब कि यह छात्र हो जाता है कि प्रस्तुत वाचक गङ्गा का मुख्यार्थ 'प्रवाह सङ्ग
नहीं है और प्रवाह का निकलना सम्बन्धी 'तीर' उन सब का पूरक तथा सविकारक होता
है । इस प्रकार ध्वनि में न तो मुख्यार्थ की अपेक्षा होता है और न मुख्यार्थ सम्बन्ध
की । • अर्थात् इस भी है । सङ्गा है जिसका वाच्यार्थ से विषय प्रकार का सम्बन्ध ही न
हो । इतना अधिक मेद होने के कारण लक्षणों का हम ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते ।)
इस लिये दृष्टकार ने उपसहार करते हुये लिखा है कि 'ध्वनि और हाथी है तथा गुणवृत्ति
और हाथी है ।'

लोचनम्

नन्वेवं धूमागमनानन्तस्मिन्स्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तर रत्यादि-
चित्तवृत्तिप्रतिपत्तिमिति शब्द-व्यापार एवात्र नास्ति । इदं वाक्यं प्रतीतिस्वरूपज्ञो
मीमांसक प्रष्टव्य — किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमतः
भवति । न चैवं भ्रमितव्यम्, एवं हि लोकागतचित्तवृत्त्यानुमानमात्रमिति का
रसात् ? परस्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्चणाप्राप्तो
नासी स्मरणानुमानादिमाम्भेन त्रिबोकारपात्रीकृतं च । किन्तु लौकिकेन कार्य-
कारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिक प्रतिपद्यमान एव न तादृस्थेन
प्रतिपद्यते, अपितु हृदयसंवादापरवर्षायमहृदयस्वपरवर्षाकृततया पूर्णोपविध्य-
वसास्वादाङ्गुरीभावेनानुमानस्मरणसरणिमनाहृदयैव तन्मयीभवनोचितचर्चणाप्राण-
तया । न चासी चर्चणा प्रमाणान्तरसो जाता पूर्व यन्तुर्ना स्मृति स्यात् । न
चाधुना कुतश्चिन्ममाणान्तराधुरापन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात् । अतएवा-
लौकिक एव विभावादिष्ववहारः । यदाह विभावो विज्ञानार्थः' लोके कारण-
मेवाभिधीयते न विभावः । अनुभावोऽप्यलौकिक एव— यदप्यनुभावमिति

(प्रश्न) इस प्रकार धूम आग के अनन्तर अग्नि के स्मरण की भाँति विभाव इत्यादि
की प्रतिपत्ति के अनन्तर रति इत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति होती है । इस प्रकार वहाँ
शब्द का व्यापार ही नहीं होता । (उत्तर) प्रतीति के स्वरूप को जाननेवाले इस मीमांसक
से यह पूछा जाता चाहिये—आप वहाँपर दूसरे की समीप "प्रकार की चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति
आपके लिये रसप्रतिपत्ति अभिमत है । ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । ऐसा होने पर
लोकागत चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेने में ही क्या रस रह जावेगा, जो अलौकिक चमत्कार
रामक रसास्वाद है, जिसका माध्यम है काव्यगत विभाव इत्यादि की चर्चणा वह स्मरण अनु-
मान इत्यादि के साम्य से व्यर्थता का पात्र नहीं किया जाता चाहिये । किन्तु लौकिक कार्य
कारण के अनुमान इत्यादि के द्वारा संस्कृत हृदयवाला विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति होते हुए
ही उद्यम के रूप में उसे प्राप्त नहीं करता । अपितु जिसका पर्याय हृदय संवाद है उस
छद्मपरव के द्वारा परवत् हो जाने के कारण आगे चलकर पूर्ण होनेवाले रसास्वाद के अङ्ग-
रति हो जाने से अनुमान स्मरण इत्यादि की सरणि पर किता ही आनन्द हुए तन्मय होने की
योग्य चर्चणा का प्राण के रूप में स्वीकार कर (उसे प्राप्त करता है) । यह चर्चणा न तो
पहले दूसरे प्रमाण से उत्पन्न हुई थी और न अब ही किसी प्रमाणान्तर से उत्पन्न
हुई है, क्योंकि धौकिक में प्रत्यक्ष इत्यादि का व्यापार नहीं होता । अतएव
(रसप्रतीति के अलौकिक होने से ही) विभावादि अवहार भी अलौकिक ही होता है ।
जैसा कहते हैं—विभाव विज्ञानार्थक है, लोक में कारण हो कहा जाता है विभाव
नहीं । अनुभाव भी अलौकिक ही होता है जो वाणी वह और सत्य से किया हुआ अभिमत

लोचनम्

अविवक्षितवाच्येऽस्ति मक्तिः 'सुवर्णपुष्पा'मित्यादौ । 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम् ? ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति ? केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्य मज्जते 'सिंहो बटु' इति । अर्थो वार्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन यद्वाचकं सामानाधिकरण करोति । शब्दार्थौ वा युगपत् लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिथोमन्वत इत्येवं लाक्ष-
णिकाद्गौणस्य भेदः । यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणापाम्' इति, सत्रापि लक्षणास्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका । सा च एकाद्विद्या । उच्यते—

'सुवर्णपुष्पा' इत्यादि अविवक्षित वाच्य में मक्ति है । 'शिखरिणि' इत्यादि में वह कैसे ? (मरन) लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है । केवल शब्द उस अर्थ को लक्षित करा-
कर उसी के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है 'सिंहो बटु' इत्यादि में । अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक के साथ उसके वाचक का सामानाधिकरण्य कर देता है । अथवा शब्द और अर्थ एक साथ उसको लक्षित कराकर दूसरे ही शब्द और अर्थ से मिश्रित हो जाते हैं इस प्रकार लाक्षणिक का गौण से भेद है । जैसा कहा है 'गौण में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं ।' वहाँपर भी लक्षणा है ही इस प्रकार सर्वत्र वही व्यापक होती है । वह ५ प्रकार की होती है । वह इस प्रकार—

सारावली

सकते हैं जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है । निरुधितान्वयवाच्य के उदाहरण 'शिख-
रिणि वह तु नाम' इत्यादि वच में वह लक्षणा हो ही जिस प्रकार सकती है ? (अतएव ध्वनि के एक भाग में लक्षणा न होने में 'वही ध्वनि होती है वही लक्षणा अवश्य होती है' यह नियम जाता रहता है, यह अन्यासि दोष है, अत लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।) (वरन) लक्षणा तो गौणी के क्षेत्र को भी व्याप्त कर लेती है । (इस विषय में दो मत हैं—एक है भौमासकों का और दूसरा है आलङ्कारिकों का । भौमासक मानते हैं कि गौणी और लक्षणा वे पूरक-पूरक वृत्तियाँ हैं । गौणीवृत्ति में गुणों के साम्य के आधार पर एक शब्द का प्रयोग बाधित होकर बिना अर्थ में होता है और लक्षणा में गुणों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है । इन दोनों वृत्तियों में भेद यह है कि गौणी वृत्ति में जिसके लिये बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी साथ में ही प्रयोग किया जाता है किन्तु लक्षणा में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे 'सिंहो बटु' में शीर्ष इत्यादि गुणों के कारण 'बटु' के लिये सिंह कहा गया है और बटु क साथ सिंह का प्रयोग भी सम्मिलित है । अतः यह गौणी वृत्ति है । इसके म'ठकूड 'गङ्गा में पर' उसने सामान्य सम्बन्ध से 'ठट', के अर्थ में गङ्गा का प्रयोग किया गया है 'ठट' का प्रयोग किया

तारावती

इत्यादि चित्तवृत्ति का अनुमान या स्मरण निपुणतया कर दिया जाता है क्योंकि जिस प्रकार पहले घूमनेवाला अनुभव होता है और बाद में अग्नि वा अनुमान या स्मरण, उसी प्रकार पहले विभावदि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार रसप्रतिपत्ति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होती। (अब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होती जब यह तो दूर की बात रही कि उसके थिये इन शब्द के नये व्यापार व्यवहरना की कल्पना करें) [वहीपर प्रतिपत्तिमयी दो मन्त्रों की है—परकोष चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मोनासक क्या सिद्ध करना चाहता है? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है? यदि ऐसा है तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकोष चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं हो सकती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुर्बोध्यमान है क्योंकि रस अलौकिक होते हैं। अब उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के थिये दृष्टान्त नहीं से आवेगा? इसी आशय से लोचनकार यहाँर उपहास उड़ाते हुये उतर दे रहे हैं।] यह मोनासक प्रतीति के स्वरूप को तो भ्रमोन्मोहि समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं? आप इस भ्रम में न रहें। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमें रसत्व (आत्मादन) ही क्या रहे जावेगा? रसात्वाद और ही वस्तु है। रसात्वाद की आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्राप्य काम्यमग्नविभाव इत्यादि की चर्चणा है। यदि रस प्रकार के उक्त रसात्वादन को स्मरण और अनुमान को सनता प्रदान की जावेगी तो उसमें रसत्व भर्न ही क्या रहेगा? अतः स्मरण और अनुमान की तुलना करके उसे भर्न नहीं बनाना चाहिये। किन्तु किन लोगों के अन्तःकरण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संशुद्ध हो चुके हैं कि सनय वे लोभ काम्य वा नाथ में विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं उस समय उन्हें वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले मित्रान्त परकीय ही नहीं मानकर पढ़ते। किन्तु उनका हृदय उस समय सहृदयत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सहृदयता का अर्थ है हृदय का हम प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे गेठ छाती हुई सा जान पड़े। अपने चञ्चल पूर्ण होनेवाला रसात्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, भर्न अर्थ काम्य मोक्ष वे चारों उसके फल हैं। सहृदयों के हृदयों में विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसात्वादन का कल्पवृक्ष का एक अक्षुर जन जाता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर बिना ही आरुह्य हुये उन्नय हो जाते हैं। इस उन्नयन के अनुकूल (विभाव इत्यादि का जो चर्चणा होती है) नहीं इस रस का प्राप्य है। यह चर्चणा किसी दूसरे प्रमाण से रसात्वाद के पहले उत्पन्न नहीं

लोचनम्

अभिधेयेन सयोगान् द्विरप्यशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्द द्वी रेफो यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य सयोग सम्बन्ध पटुपदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरप्यशब्देन ज्ञेयत । अभिधेयसम्बन्ध व्याख्यातरूप निमित्ताकृत्य । 'गङ्गाया घोष ।' समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थं, 'यष्टी प्रवेश्य' इति यथा । वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चित् प्रवाति—'किमिवापकृतं न तन मम' इति । क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थं । यथा—भ्रमरपहारेणि व्यवहार प्राणानय इति इति । एवमनया लक्षण्या पञ्चविधया त्रिरसम्बन्ध इत्याप्तम् ।

अभिधेय के साथ सयोग से । द्विरप्यशब्द का जो आभेद 'दा रेफ हैं जिसमें वह (अर्थ) होने से भ्रमरशब्द, उस भ्रमर शब्द से जिस पटुपद लक्षण अर्थ का सयोग सम्बन्ध है वह अर्थ द्विरप्यशब्द से छिन्न क्रिया जाता है । यह) उस अभिधेय सम्बन्ध का निमित्त के रूप में मानकर हाता है । जिसके स्वरूप को व्याख्या की जा चुकी । सामान्य से (जैसे) 'गङ्गा में घर' । समवाय से अर्थात् (नित्य) सम्बन्ध से जैसे 'छवि' को प्रवेश कराओ ।' वैपरीत्य से जैसे शत्रु को उद्दिष्ट कर कहें—'उसने भेरा क्या उपहार किया ?' त्रिधायोगान् का अर्थ है कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले में 'यह उपहार है कि वह प्राणी को हर रहा है' । इस प्रकार इस पाँच प्रकार की छत्रया से सारा दिव्य ही व्याप्त है ।

तारावली

(१) अभिधेय अर्थात् वाच्याय में स्वामिसम्बन्ध होने पर । (यहाँ पर स्वामय का अर्थ है वाच्य वाचकभाव सम्बन्ध) उदाहरण के लिये 'द्विरप्य' शब्द को लोचने । इसमें वदुतीहि समाप्त है, अतः इसका अनुपपत्ति होगी—'दा रेफ जिसमें' इससे इसका अभिरणार्थ निम्न हुआ भ्रमर शब्द । (अब जैसे एक वाक्य है—द्विरप्य उक्त रहा है' इसका वाच्यार्थ हुआ 'भ्रमर शब्द उक्त रहा है ।' शब्द का उद्देश्य असम्भव है अतः तारावलीनुपपत्ति के कारण अभिरणार्थ का बोध हो जाता है ।) भ्रमर शब्द का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है पटुपद अर्थात् छ वैरीवाले एक विनाश प्राण से । अतः द्विरप्य शब्द से पटुपद रूप लक्ष्य अर्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ले लिया जाता है । इस लक्ष्यार्थ ग्रहण में अभिरण सम्बन्ध हो निमित्त है जिसकी शरणा की जा चुकी है । (२) सामान्य सम्बन्ध से जैसे—'गङ्गा में घर ।' (३) समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से । जैसे 'छवि' को जाने दा' । छवि का आना असम्भव है । अतः इस अर्थ का साथ दूसरे छत्रवाले पुरुष' यह अर्थ ले लिया जाता है । छत्रो तथा छत्रवाले पुरुष दोनों का समवाय सम्बन्ध है । क्योंकि जब तक पुरुषों के पास छत्रों नहीं हाता तब तक व छत्रवाले नहीं कह जायेंगे ।) (४) वैपरीत्य सम्बन्ध से जैसे शत्रु के विषय में कहें यह कह—'उसने हमारा क्या उपहार नही किया ?' (यहाँ पर वैपरीत्य सम्बन्ध से अन्तार में

लोचनम्

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ? भन्वयमसावलीकिको रसः । ननु विभाव्यादिरस्य किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगो । ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र ? यत् एव न दृष्टं तत् एवा-

(प्रश्न) यदि यह ज्ञापन भा नहीं और निष्पत्ति भी नहीं तो यह क्या है ? (उत्तर) यह वह नहीं है (किन्तु) अलीकिकरस है । (प्रश्न) विभाव इत्यादि यहाँ पर क्या ज्ञापकहेतु है या कारक ? (उत्तर) न ज्ञापक है न कारक, अपितु चर्वणोपयोगी है ।

सारावली

रसरूपता को धारण करने है । दूसरी बात यह है कि रस चर्वणा सदा हृदयसंवाद के द्वारा ही होता है । हृदयसंवाद में उपयोग होता है लोक चित्तवृत्ति का परिधान । क्योंकि जब तक लोकगत चित्तवृत्ति का परिधान नहीं हो जाता तब तक एक चित्तवृत्ति दूसरी चित्तवृत्ति से मेल खा ही नहीं सकती । जब लोकगत चित्तवृत्ति के परिधान के द्वारा सङ्घट्टों का हृदय दूसरी की चित्तवृत्ति से मेल खा जाता है तब ममता उद्यमान इत्यादि विभाव और पुलक इत्यादि अनुभावों के द्वारा रति इत्यादि स्वायीभाव का अवयव हो जाता है । (इनालिये स्वायीभाव ही रस रूपता का प्राप्त होता है यह सिद्धान्त माना गया है तथा विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव से उसे दृक् रक्ता गया है ।) यद्यपि रति इत्यादि स्वायीभावों के समान सञ्चारी इत्यादि अभिचारीभाव भी चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं किन्तु अन्तर यह होता है कि सञ्चारीभाव रूप में चित्तवृत्तियाँ सर्वदा मुख्य चित्तवृत्ति रति इत्यादि स्वायी भावों के अधीन होती हैं (तथा उसे पुष्ट करती हैं ।) इनालिये (पोटकना साम्य को लेकर) सञ्चारी भाव को भा विभाव इत्यादि के साथ सम्मिलित कर दिया गया है । अतएव रसास्वादन की निष्पत्ति को ही रमनिष्पत्ति कहते हैं । रसास्वादन का अर्थ है ऐसी चर्वणा जिसमें प्रसङ्गगत बन्धु समागम इत्यादि कारणों से होनेवाली हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियों को नीचा करके चर्वणकौटि का एक नई ही चित्तवृत्ति का आविर्भाव होता है । अतः चर्वणा की अभिव्यक्ति ही होती है । जिस प्रकार शब्दों के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञापन होता है उस प्रकार का ज्ञापन रस का नहीं हो सकता । जिस प्रकार दण्डध्वज इत्यादि के द्वारा घट इत्यादि का ज्ञापन होता है उस प्रकार रस का उत्पादन भी नहीं हो सकता । किन्तु रसका केवल अभिव्यञ्जन ही होता है ।

(प्रश्न) यदि रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता तो और होता क्या है ? (उत्तर) रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता यही तो रस की अलीकिकता है । (इसी अलीकिक क्रिया के लिये अभिव्यञ्जना नामक एक नया व्याख्यान मानना पड़ता है ।) (प्रश्न) विभाव इत्यादि को अगर कारक हेतु मानते ह या ज्ञापक ? (उत्तर) न यह कारक ही होता है न

लोचनम्

मनु किं बाधया, इत्यदेव लक्षणास्वरूपम्—‘अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्बन्ध-
णोच्यते’ इति । इह चामिधेयानां विनावानुमावादीनामविनाभूता रसादय इति
लक्ष्यन्ते, विनावानुभावयोः कार्यकारणरूपत्वान्, व्यभिचारिणः च तात्पर्यकारि
त्वादिति चेत्—मैवम्, धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव
स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात् । धूम-
शब्दस्य स्वार्थविधान्तत्वात् तावति व्यापार इति चेत्, आयात तर्हि मुख्यार्थः
बाधो लक्षणाया जीवितमिति । सति तस्मिन् स्वार्थं विधान्त्यमावाद् । नच
विनावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति ।

(प्रश्न) बाधा की क्या आवश्यकता ? लक्षणा का वही स्वरूप माना जावे—‘अभिधेय से
अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा कहते हैं’ । यही पर रस इत्यादि अभिधेयों से अविनाभूत ही
बन्धित होते हैं, क्योंकि विभाव और अनुभाव कारण कार्य रूप हैं और व्यभिचारी उनके सह-
कारी हैं । (उत्तर) ऐसा नहीं है । (ऐसा मानने पर) धूम शब्द से धूम के प्रतिपन्न हो
जाने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणा द्वारा सम्पादित हो जाती । उससे अग्नि से शीतापनोदन
स्मृति इत्यादि अपर्यवसित शब्दार्थ होगा । यदि कहो धूम शब्द के स्वार्थविधान्त होने के
कारण वतने में व्यापार नहीं होता तो मुख्यार्थवाच लक्षणा का जीवन (होता है) वह क्या
गया । क्योंकि उसके होने पर (ही) स्वार्थ में विभाव का अभाव होता है । विभाव इत्यादि के
प्रतिपादन में कोई बाधक है ही नहीं ।

वारावती

(प्रश्न) लक्षणा के लक्षण में मुख्यार्थवाच के समारोह को आवश्यकता ही क्या ?
लक्षणा की इतनी ही परिभाषा क्यों नहीं मानो जाती कि—अभिधेय के साथ अविनाभूत
प्रतीति (किसी रूप में सम्बद्ध होने) को लक्षणा कहते हैं । असत्स्वरूपसम्बन्ध में भी विभाव
अनुभाव इत्यादि के साथ अविनाभूत रसों की प्रतीति होती है । अतः उन्हें भी लक्षणा में ही
सन्निविष्ट कर सकते हैं । क्योंकि विभाव रस में कारण होते हैं और अनुभाव रस में कार्य
होते हैं । तथा व्यभिचारी मात्र सहकारी होते हैं । अतः ये सब रसों के साथ अविनाभूत
होते हैं रसका अन्तर यह है कि जहाँ पर धूम शब्द से बाध्यार्थ धूम की प्रतिपत्ति होने
के बाद अग्नि का स्मरण होता है वहाँ भी व्यास लक्षणा मानेंगे । रसके बाद रस के दूर
होने की स्मृति भी जो कि अपर्यवसित कार्य है, लक्ष्यार्थ ही माना जावेगा ।’ क्योंकि
धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध तो है ही ।) यदि आप कहें कि धूम शब्द स्वार्थ
विधान्त है क्योंकि उसका अर्थ रसतः पूर्ण हो जाता है अतएव अग्नि तथा शीतापनोदन पर्यन्त
अर्थों में लक्षणान्वयार नहीं माना जा सकता इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि जहाँ किसी
शब्द के अर्थ की रसतः पूर्ति न हो वहाँ लक्षणा होती है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

लोचनम्

स्वार्पाद् ध्वनन्यापारः । अतएवालक्ष्यक्रमता । यच्च वाक्यभेदः स्वादिति केन-
चिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया । शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयपरत्वेनार्थं प्रतिपादयद्-
युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात् कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत् । अविच्छेदत्वे वा
वाचनं को वाक्यार्थः स्यात् । क्रमेणापि विरम्य व्यापारायोगः । पुनरुच्चारितेष्वपि
वाक्ये न एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात् । प्रकरणसमयप्राप्त्यर्थतिरस्का-
रण्याधोन्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभावा इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति
प्रती सादेष्टव्यमासमित्येष नार्थ इति का प्रमेति प्रसज्यते । उत्रापि न काचिदि-
यत्तत्पनाभासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम् । इह तु विमावाद्यत्र प्रतिपाद्यमानं
चर्वणा विषयतोऽनुसृतमिति समयाद्युपयोगाभावात् । न च नियुक्तोऽहमत्र कदापि,
... लौकिकत्वात् ।
... पूर्वापरकालानु-

(शब्द और अर्थ में अनुरक्त हात्र कुछ ठोक) नहीं (देखा जाता) । उदाहरण करके भी
बिनाक शरित्वाग कर दिया जाता है' इस न्याय से जिसने प्रतीति कर दी है (अर्थ ज्ञान करा
दिया है) उस (शब्द) का उपयोग नहीं होता इस प्रकार शब्द का भी यहाँ पर ध्वनन
न्याय (होता है) । इसलिये अलक्ष्यक्रमता (बढ़ी जाती है) जो किसी ने कहा या कि
वाक्यभेद हो जावेगा वह अनभिज्ञता के कारण । निस्तन्दह एक शर वच्चारण किया हुआ छात्र
सकेत के वृत्त से अर्थ का प्रतिपादन करते हुये एक साथ विरुद्ध अनेक अर्थों के सकेत स्मरण
के असम्भव होने के कारण किन्तु प्रकार दो अर्थों का प्रत्यायन करा सकेगा विरुद्ध न होने पर
उत्पन्न एक ही वाक्यार्थ हो जावेगा । क्रम से भी विरुद्ध हाकर न्याय (होता) असम्भव है ।
पुनः उच्चारण किये हुये वाक्य में भी वृद्धा (अर्थ निकलेण) क्योंकि सकेत और प्रकरण तो
तदवस्थ ही रहते हैं । प्रकरण और सकेत से प्राप्य अर्थ के विरुद्धता के उपाय दूसरे अर्थ के
प्रत्यायन कराने में कोई नियम नहीं है इस प्रकार उससे 'स्वर्ग को कामना से अग्निहोत्र में
हवन करना चाहिये' इस मुक्ति में 'कुछ का मास खाना चाहिये' यह अर्थ नहीं है इसमें क्या
प्रमाण है यह (दोष) प्रसक्त हो जावेगा । उसमें भी कोई श्वरा नहीं है इसलिये अविश्वस-
नीयता हो जावेगी इस प्रकार वाक्यभेद दोष है । यहाँ पर तो प्रतिपादन किया जाता हुआ
विचार इत्यादि हो चर्वणाविषयता की ओर अनुसृत हो जाता है इस प्रकार सकेत इत्यादि के
उपयोग का अभाव है । 'नियुक्त किया हुआ मैं (यह कार्य) करूँ'; 'मैं शून्य हूँ' इस
प्रारोप प्रतीति के समान यह नहीं है । वहाँ बाद क कर्म की ओर अनुसृत होने से लौकि-
कता है । यहाँ तो विचार इत्यादि की चर्वणा अत्यन्त पुण के समान उसी समय के (वर्तमान-
काल के) शर के रूप में उद्भूत (होती है) पूर्वापरकाल की अनुसन्धिनी नहीं होती इस
प्रकार लौकिक वाक्यार्थ और वाक्यार्थों के विषय से यह सत्तावाद सर्वथा मिथ्य ही है ।

लोचनम्

यागद्वस्तवकृतोऽमिनयस्तस्मादनुभाव इति । तच्चित्तवृत्तितन्मयोमवनमेव अनु-
भवनम् । लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः । अत एव परकीया न चित्तवृत्ति-
गन्धत्वे इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे
स्यायिग्रहणं न कृतम् । तदप्युक्त इत्यभूतं स्यात् । स्यायिनस्तु रम्यभाव औचि-
त्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितवृत्तिसुन्दरचरणोदयात् । इदयसंवादीपयोगि-
लोकचित्तवृत्तिपरिष्ठानावस्थायामुद्यानपुष्पकारिभिः स्यायिभूतरक्षावगमान्धः ।
व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवत् एव चर्यते इति विभा-
भानुभावमध्यं गणितः । अतएव रस्यमानताया एवैव निष्पत्तिः यद्यप्यन्धप्रवृत्त-
कल्पुसमागमादिकरणोदितहर्षादिवृत्तिव्यभिचारेण चरणारूपत्वम् । अतश्चर्य-
णाभात्रानिष्यञ्जनमेव, न तु क्षाणं प्रमाणव्यापारवत् । साप्युत्पादन हेतु-
व्यापारवत् ।

(रसायी और व्यभिचारी को) अनुभव गोचर बनाता है इससे अनुभाव कहलता है । उस
चित्तवृत्ति का लम्ब होना ही अनुभवन है । लोक में तो कार्य ही कहते हैं अनुभाव नहीं ।
अतएव परकीया चित्तवृत्ति अवगत नहीं को जाती इस अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारि-
संयोगादसनिष्पत्तिः' इस सूत्र में रसायी का ग्रहण नहीं किया गया । प्राप्त वह इत्यभूत हो
जाता । रसायी की तो रसतत्त्वमिति औचित्य से कहो जाती है । विभाव और अनुभाव के योग्य
चित्तवृत्ति कि सस्कार के (उद्बोधन से) सुन्दर चरणों के उदय हो जाने से वह (रसायी
को रसत्व माति) होती है । इदयसंवाद में उपयोगी लोकचित्तवृत्ति कि परिष्ठान की अवस्था
में उद्यान पुष्प इत्यादि के द्वारा रसायीभूत रति इत्यादि के अवसरमन से भी (रसायी की)
रसता मास हो जाती है । व्यभिचारी तो चित्तवृत्त्यात्मक होते हुए भी मुख्य चित्तवृत्ति के
आधीन होकर ही चरणगोचर होता है, अतः विभाव और अनुभाव के मध्य में उसकी गणना
की गई । अतएव रस्यमानता (आरशादनगोचरता) की नहीं निष्पत्ति होती है कि प्रबन्ध में
आये हुए शब्दसमागम इत्यादि कारणों से उत्पन्न हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्ति को नीचा
करके चरणों रूपता भाव्य कर देता है । अतः वही चरणों का अर्थ अभिभूतन ही है क्षाण
नहीं होता, जैसा कि प्रमाण व्यापार का (क्षाण) हुआ करता है । उत्पादन भी नहीं होता,
जैसा कि हेतु व्यापार (से उत्पादन होता है) ।

वारावती

सुस्वार्थसाध लक्षणा का बीजन है । क्योंकि पर्यवसान का अभाव होता है । विभाव इत्यादि
के द्वारा रस के प्रतिपादन में कोई बाधक होता ही नहीं, अतः रसायी लक्षणा नहीं मानी
जा सकती ।

कतिपय मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार धूपमत्स्य के बाद अग्नि का अनुमान
वा स्मरण कर लिया जाता है उसी प्रकार विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के उपरान्त रति

छोचनम्

अतएव शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थवाधादिकमनपेक्ष्यैव सहृदया वचनमिषा चतुष्पा याम्क सवदन्ते । अत एव ग्रन्थकार सामान्यतः विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ मन्त्रेणैवमभ्यधात् । अस्माभिस्तु दुर्दुस्त प्रत्यापयितु मुक्तम्—मवचनं लक्षणा अलक्ष्यकम् तु कुपितोऽपि किं करिष्यस्यति । यदि तु न कुप्यत 'सुवर्णपुष्पा' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थवाधादिलक्षणा सामान्यतः सवदन्तैव स्वस्वार्थविधातिरित्यल बहुधा । उपसहरति—उस्माद्रक्ति रिति ॥ १५ ॥

अतएव शिखरिणि' इत्यादि में भी मुख्याचराध इत्यादि कन की अपेक्षा बिना किये हुये ही सहृदय लोग वक्ता के चतुस्तोत्ररूप अभिप्राय को खान लेते हैं । इनलिये ग्रन्थकार ने सामान्यतया विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वन में शक्ति का अभाव बतला दिया इनने तो शिखरिणी की दर-दर का श्रवणन कराने के लिये कह दिया—यहाँ लक्षणा ही आवे अलक्ष्यकन में तो कुपित होकर भी क्या कर लगे ? यदि कुपित नहीं हाते हो तो 'सुवर्णपुष्पा' इत्यादि अविवक्षितवाच्य में भी मुख्याचराध इत्यादि लक्षणा शान्ती की बिना ही अपेक्षा किये हुये स्वार्थ की विमान्ति हो जाती है । वक्ष अधिक की क्या आवश्यकता ? उपसहार करते हैं—स्माद्रक्ति इत्यादि ॥ १५ ॥

वारावता

किन्तु काव्य में अभिप्राय के द्वारा विभाव इत्यादि का प्रतिपादन होता है और फिर विभाव इत्यादि रसचरणा की ओर बानुछ हो जाता है । अतएव तबमें सनेत्र प्रकृति इत्यादि सामग्री का अपेक्षा नहीं होती । अन्य शास्त्रों में शास्त्रीय वाक्यों से आदेश मिलता है । इनमें पाठक या श्रिगालक यह अनुमन करता है कि मुझे शास्त्र ने अमुक काव्य में निरुक्त किया है अतः इस काव्य को करूँ, और अब वह शास्त्रीय विधि को पूरा कर चुकता है तब उसे यह अभिमान होता है कि मैं यह काव्य सफलतापूर्वक कर चुका । किन्तु ऐसा यह काव्य में नहीं होता । शास्त्र लौकिक हाते हैं क्योंकि उनमें उत्तर काल में (शास्त्राव्ययन के अनन्तर) कव्य में मन लगाया जाता है । किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता । अतः कव्य अलौकिक हात है । काव्य में विभाव इत्यादि का चरणा इन्द्रजाल में दिखलाने हुए पुष्प के समान वाचराधवाध समकाल में ही होती है । पहले घोल का इसमें कोई नियम नहीं होता । इसीलिये लौकिक आत्मा तया वागियों के विषय से रसास्ताद एक बिन्दुल मित्र वस्तु है । इसीलिये विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण शिखरिणि ननु नाम । इत्यादि में भी वाचराधवाध इत्यादि कन की बिना ही अपेक्षा किये हुए सहृदय लोग चतुस्तोत्र और प्रसन्नता रूप वास्तव्य को सम्य लेते हैं । यही कारण है कि ग्रन्थकार ने सामान्य रूप से विवक्षितान्य

धारावती

॥ चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समर्थ भी उसकी उपस्थिति कितनी दूरे मानाप से नहीं हाठी। क्योंकि अलौकिक तत्त्व के ग्रहण करने के लिये मत्पक्ष इत्यादि को किया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात मरत मुनि ने माध्यमाख्य में कहा है— विभाव वा अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और अविचार्य भाव जिनके द्वारा विशय रूप से सात (भावित) किये जाते हैं वही विभाव कहते हैं। लोक में कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उद्यान इत्यादि को कारणार्थ विभाव शब्द लिये मानते हैं कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अभुपादादि के द्वारा भी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उद्यान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विशेष रूप से उनका परिणत होता है। क्योंकि अभुपादादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसकी अनुभाव शब्द लिये करते हैं क्योंकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस भाषी में आते हैं दार्शनिक, वैदिक, सांख्यिक इत्यादि अमिनयः। अनुभव यात्रा बनाने का अर्थ यही है कि जिसी भावना से भावित चित्तवृत्तिके अनुकूल ध्वन्यता उत्पन्न कर देता। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे को चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नहीं करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही उदात्त रूप में परिणत हो जाती है। इसीलिये— विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के सबेग से सम्बन्धित होती है' इस मरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। वरतुत कहना यह चाहिये कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर इस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यही पर आनन्दप्रद स्थायी शब्द को अवधारणा को यह है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी प्रत्यक्ष अवस्थिति की अवश्यकता ही नहीं पड़ती। (यदि यहाँपर विभावादिकों का संयोग स्थायीभाव के साथ बलवत्ता गया होता तो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि परकीय चित्तवृत्ति का अनुमान कर लिया जाता है।) इस प्रकार अर्थमतीति में यह एक अमिष्ट तत्त्व हो जाता। यह कहना उचित ही है कि स्थायी भाव ही रसरूपता को धारण करता है। कारण यह है कि दूसरे व्यक्तियों (नायक इत्यादिकों) में जो रसि इत्यादि स्थायीभाव रहता है उससे सम्भव रखनेवाले विभाव अनुभाव के अनुकूल जो चित्तवृत्ति बनती है उसके सञ्चारी से जब सहृदयों की चित्तवृत्तियों भी सरस हो जाती हैं तब रसस्वादन का उदय होता है। इस प्रकार स्थायी चित्तवृत्ति ही

बोधवम्

मुखेन च ध्वनिमपि समग्रमेव लक्षयिष्यन्ति प्रस्थान्ति च । किं तदुक्तमेनेत्या-
शङ्क्याह—यदि चेति । अभिधानाभिधेयभावो ब्रह्मद्वाराणां व्यापक, तद्व्या-
भिधावृत्ते वैव्याकरणमीमांसकैरनिरूपिते कुत्रेदावीमलङ्कारकारणा व्यापार । तथा
हेतुवत्त्वात्कायं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तृणा ज्ञानाणां
या कल्पमयत्वं स्यादिति भवो निरास्य स्यात् । तदाह—लक्षणकरणवैयर्थ्य-
प्रसङ्ग इति ।

बाणी ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और जान जावेंगे । फिर उसके लक्षण बनाने को क्या
आवश्यकता ? यह शङ्का करके कहते हैं—यदि च इत्यादि । अभिधान और अभिधेयभाव ब्रह्म-
द्वारों का व्यापक है फिर अभिधाव्यापार के वैव्याकरण और भीमासकों द्वारा निरूपित कर
दिये जाने पर बलद्वार (वाच) द्वारों का व्यापारक्षेत्र कहाँ होगा ? उसी प्रकार हेतु के बल
से कार्य होता है यह तार्किकों के द्वारा कह दिये जाने पर इश्वरप्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं
का अद्वैतरूप क्या होगा ? इस प्रकार सभी कुछ आरम्भ हो जावेगा । यह कहते हैं—
'लक्षणकारणवैयर्थ्यप्रसङ्ग' यह ।

सारावली

(लक्षणारण्य के शब्दान में तीन विवरणों का कल्पना की यो (१) लक्षण ध्वनि का
स्वरूप हो सकता है । (२) लक्षणा ध्वनि का लक्षण हो सकता है । (३) लक्षणा ध्वनि
का ब्रह्मलक्षण हो सकता है । निम्नलिखित प्रकरण में दो पक्षों का विस्तारपूर्वक निराकरण कर दिया
गया । अब तीसरे पक्ष को लीजिये—सायं ऐसा होता है कि लक्षणकार सनत्त समूह में किसी
एक लक्षण का परिचय दे दते हैं । उसी के आधार पर सब समूह भी समझ लिया जाता करता
है । इसे ब्रह्मलक्षण कहते हैं । ब्रह्मलक्षणधारियों का आशय यह है कि ध्वनि का कार्य एक
भेद ही ऐसा होता ही है जिसमें लक्षणा विद्यमान हो । तब उसे उपलक्षण मानकर सब भेदों
का उसी में समाहार हो जावेगा, ध्वनि के पृथक् लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? अब
इसी पक्ष पर विचार किया जा रहा है ।) (प्रश्न) ध्वनि और मर्त्तिकी पदरूपता न मानो
जावे, ध्वनि का लक्षण या मर्त्तिकी न हो किन्तु पदरूपता ही हो ही सकती है । कुछ ऐसे मा-
न्य होते हैं जहाँ ध्वनि होता है और वही मर्त्तिकी होती है, सब इतना ही पर्याप्त है,
मर्त्तिकी के द्वारा ध्वनि उपलब्ध हो जावेगा । ध्वनि के समस्त भेदों में मर्त्तिकी नहीं होती इससे
हमारे प्रतिपक्षियों का क्या कथन बन जाता है या हमारा क्या विपक्ष जाता है ? इसी का उत्तर
देने के लिये यह कारिका लिखी गई है कि लक्षणा 'ब्रह्म भेद का उपलक्षण हो सकता है ।
जब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चिरन्तन आत्माओं ने मर्त्तिकी का पदरूप से
निरूपण कर दिया । उसी को उपलक्षण मानकर सनत्त नेदराहो ध्वनि का लक्षित भा बन लेंगे
और जान भी जावेगा । फिर ध्वनि का लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? इसी अर्थ का

लोचनम्

कौटिकमित्युक्तम् । नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात् ; अस्तु किं ततः ? तच्चर्वणात् एव प्रीतिरन्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत् ; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । ज्ञानविशेषस्येव चर्वणात्मत्वादित्युक्तं बहुना । अतश्च रसोऽपमकौटिकः । येन छलितपरुषानुप्रासस्याथामिवानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्, का सत्र वक्षणायाः शब्दापि ? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा वृद्ध्यते । वृद्ध्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठेत्तदर्थमात्रं सद्द्वयो लोकः, न तु काव्यस्य, सत्र 'उपादायापि ये हेयाः' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुयोग एवेति शब्द-
(मन) यह अन्यत्र कहीं देखा गया ? (उत्तर) क्योंकि नहीं देखा गया रसालिये अलौकिक है यह कहा गया । (मन) इस प्रकार तो यह रस अप्रामाणिक ही जानना ? (उत्तर) हो जाने तो उससे क्या ? उसकी चर्चणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति के सिद्ध हो जाने पर और क्या मार्थनीय है । (मन) यह तो अप्रमाणावस्था है ? (उत्तर) ऐसा नहीं है क्योंकि यह स्वसंवेदन सिद्ध है । क्योंकि ज्ञानविशेष ही चर्चणात्मक होता है, रस अधिक की क्या आवश्यकता ? इसलिये यह रस अलौकिक है । क्योंकि अर्थाभिधान में अनुपयुक्त छलित और परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति अभिव्यञ्जकत्व होता है उसमें छलना का शक्यता भी क्या ? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही यह चर्चणा देखी जाती है । सद्द्वय लोक उसी काव्य की बार बार पढ़ते हुए और चर्चण करते हुए देखा जाता है । काव्य क

सारावर्ती

साधक ही किन्तु चर्चणोपयोगी नये ही प्रकार का हेतु होता है । (मन) अन्यत्र यह बात कहीं देखी गई है कि कोई इतना न बारक हो न साधक ? (उत्तर) कही अन्यत्र नहीं देखी गई है इसलिये तो रस अलौकिक होता है । (मन) यदि कोई भी लौकिक दृष्टान्त नहीं मिलता तो रस तो अप्रामाणिक ही जानना ? (उत्तर) हो जानना उससे क्या ? (अप्रामाणिक होकर भी उसकी रसनीयता रूप कार्यकारिता तो बना हुआ रहनी ।) उसकी चर्चणा से द्वारा हृदय में जो आनन्दन का आविर्भाव होता है उसी से प्रीति और व्युत्पत्ति (आनन्दानन्दन के द्वारा व्युत्पत्ति) सिद्ध हो जाता है उससे बढ़कर आपकी और कौन सा प्रमाण चाहिये ? (मन) इसमें कोई प्रमाण तो फिर भी प्राप्त नहीं हो सका ? (उत्तर) इसका स्वप्रकाशरूप और स्वसंवेदन सिद्ध होना सबसे बड़ा प्रमाण है । (मन) जब रस निष्पत्ति के लिये एक विशेष प्रकार की चर्चणा अभाव होती है तब आप उसे स्वसंवेदन सिद्ध किस प्रकार कह सकते हैं ? (उत्तर) चर्चणा और कुछ भी नहीं एक प्रकार का शान ही है । अतः रस की स्वसंवेदनसिद्धता में कोई श्रुति नहीं आती । अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? (इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस चर्चणा अलौकिक होता है ।)

लोचनम्

दिना । उक्तया नोत्था 'यश्चायंः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम् । यक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं मविष्यति—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना । यत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् । द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुद्येन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान् । तदाशयानुसारेण तु वृत्तिरुद्गरोद्योते मूल-विभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति । सर्वेषामिवि—लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः । अतिशयोक्त्येति । यथा—'साम्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इति यदतिशयोक्त्यानाद्येयतोत्ता साररूपता प्रतिपादयितुमितिदृष्टिसमितिनिवन् १९

किं लोचनं विनालोको माति चन्द्रिकयापि हि ।

तन्नामिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥

यदुन्मीलनसत्कृत्यं विश्वमुन्मीलति क्षणान् ।

स्यामापतनविधान्तां ता वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यपर्यामिनवगुप्तोन्मीलिते

सहृदयलोकोलोचने चनिसङ्केतो नाम

प्रथम उद्योतः ।

शब्दो वा' इति सामान्य लक्षण का प्रतिपादन कर दिया । आगे चलकर वही जानेवाली नीति से 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादि के द्वारा विशेष लक्षण हो जानेवा । वृत्तमें प्रथम उद्योत में कारिकाकार ने सामान्य लक्षण ही किया । द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने अवान्तरविभाग और विशेष लक्षण को बनाते हुए अनुवाद मुच से दो प्रकार के मूल विभाग की सूचना दी । उसके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में मूल विभाग को कह दिया—'यह दो प्रकार का है' यही 'सभी का' अर्थात् लौकिकों का और शास्त्रीयों का । 'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह । जैसे 'वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित कर रहे हैं' इसके समान अतिशयोक्ति के द्वारा साररूपता के प्रतिपादन के लिये कवन की अराक्यता दिखलाई गई । इस प्रकार सब कल्याणकारक हो ॥ १९ ॥

क्या लोचन के बिना चन्द्रिका से भी आलोक शोभित होता है ? इससे अविनवगुप्त ने यहाँ पर लोचनोन्मीलन कर दिया ।

जिसकी उन्मीलनी शक्ति के द्वारा ही विश्व समयमें उन्मीलित हो जात है, अपने आमारूपी भावतन में विभाग करनेवाली उस कल्याणकारिणी प्रतिभा की हम वन्दना करते हैं । अथवा प्रतिभा अर्थात् प्रानरूपिणी शिवा (पार्वती) की हम वन्दना करते हैं ।

यह है महामाहेश्वर आचार्यवर अभिनव गुप्त द्वारा उन्मीलित

सहृदयलोकोलोचन में चनिसङ्केत नामक

प्रथम उद्योतः ।

तारावती

यद छलित और परब धनुषास मी रस के अभिव्यक्त होते हैं तिनमें अर्थाभिधान तक की आवश्यकता नहीं होती तब लक्षणा के द्वारा रसमिव्यक्ति के गताय होने की कोई सम्भारना ही नहीं रह जाती। काव्यात्मक शब्दों के निष्कोटन से ही रसवर्णना देखी जाती है। माय-दखा जाता है कि सहृदय छोग उसी काव्य की बार-बार पड़ते हैं और उसका स्वाद छैठ है। काव्य के शब्द (तथा वाच्यार्थ) में आस्वाद नहीं होता (अपितु अभिव्यज्यमान ॥) की चर्चणा में ही आनन्द होता है)। चर्चणा के विषय में काव्य शब्द उपायमूर्त होते हैं, किन्तु उनके विषय में उपाय की यह परिभाषा लागू होती है कि 'अनादान करके भी जितना परित्याग कर दिया जाय उन्हें उपाय कहते हैं।' अतएव तिन काव्य शब्दों की प्रतीति हो चुकती है उनका उपयोग हो जाता है। अतः काव्य क लिये भी ध्वनन-द्वारा शब्द का प्रयोग होता है। अलक्ष्यरूप कहने का भी यही अभिप्राय है कि शब्द से रसमिव्यक्ति हो जाती है। यदि शेष में अर्थ अवधान अनिवार्य हो तो अलक्ष्यरूप कहना सर्वथा असङ्गत हो जावे। कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि व्यंग्याय की सत्ता मानी जायगी तो वाक्यभेद मानना प्रयोग' यह कथन सर्वथा अनभिप्राय का परिवारक है। अब कोई वाक्य एकवार बोलता जाता है तब अब वह सकेत के बल पर अर्थ प्रतिपादित करने लगता है तब प्रस्ताप दा अर्थों की किस प्रकार कह सकता है? यदि वे दोनों अर्थ एक दूसरे से परस्पर विरुद्ध हैं तो एक साथ अनेक विरोधा सकेतों का स्मरण असम्भव है, यदि वे दोनों अर्थ परस्पर विरोधी न हों अर्थात् एक क्रिया में दोनों का अन्वय हो सकता सम्भव हो तो जितना भी बोध होता है उतना सम्पूर्ण एक ॥ वाक्यार्थ माना जावेगा (जैसे 'बैठा थावति' में 'बैठ.' के दो अर्थ हैं 'आ + बैठ.' अर्थात् 'कुछा बपर से' तथा 'बैठ बगवाठा' दोनों में विरोध नहीं है, अतः दोनों का एक क्रिया में अन्वय हो जाता है। इसी प्रकार 'सर्वदोमाधव' वाक्यात् 'सर्वदोमाधव' का दो अर्थ हैं 'सब कुछ देनेवाले भगवान् शृंग' तथा 'सर्वदा + उपाधव.' अर्थात् 'सर्वदा भगवान् साधु' यही पर शृंग और शिव दोनों का एक क्रिया में अन्वय सम्भव है, अतः दोनों का निष्ठाकर एक ही वाक्यार्थ माना जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।) एक अर्थ के बाद दूसरा अर्थ निवृत्त नहीं सकता क्योंकि शब्दों की क्रिया एक एककर होता नहीं। यदि दो बार भा वाक्य बोलता जाय तो प्रकरण सामग्री इत्यादि तो वही बनी रहेगा। अतः दो विभिन्न अर्थ तो निवृत्त हो नहीं सकेगे। ऐसा कह निश्चय नहीं कि प्रकरण आर सकेत के आधार पर मात्र होनेवाले अर्थ का विरहकार करके निवृत्त तथा ही अर्थ छ छिदा जावे। यदि ऐसा माना जावेगा ॥ 'सर्व' की कल्पना से अग्निहोत्र करना चाहिये।' इस वाक्य का 'उत्ते का मांस छाना चाहिये' यह अर्थ भी निकलने लगेगा और कोई व्यवस्था नहीं रह जायगी। क्योंकि यह अर्थ नहीं होता इसमें प्रमाण ही क्या होगा? छनन भा किट अर्थों की कोई सीमित संख्या नहीं रहेगी। अतः अर्थों की वास्तविकता पर विश्वास कम ही नहीं सकेगा। इस प्रकार वाक्यभेद एक दोष माना जाता है। यह तो डर छात्रों की बात।

तारावती

हो जावेगी।' यही पर कहा हुआ नीति का आशय है ध्वनि परिभाषा की कारिका—'यथायं नन्दो वा' इत्यादि।' कही जानेवाली नीति का आशय है—'अन्यत्रे सकमितम्' इत्यादि कारिका के द्वारा उसके विशेषभेद किया जाना। प्रथम उद्योत में कारिकाकार ने मानन्द छापन ही किया है। दूसरे उद्योत में विशेष छापन तथा अवान्तर भेद किये गये हैं। किन्तु कारिकाकार ने यह नहीं कहा कि उसके भेद कितने होते हैं? केवल अवान्तर भेदों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। विशेष छापन तथा अवान्तर भेदों का परिचय देते हुए ध्वनिकार ने यह सूचित कर दिया कि ध्वनि मूळ रूप में दो प्रकार की होती है। इस आशय के अनुसार वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में ही लिख दिया कि 'वह ध्वनि दो प्रकार की होती है'। सभी के विषय में छाया हो जावेगी' इस कथन में सभी का अर्थ है सभी लौकिक तथा पाल्कीय विषयों में। (आशय यह है कि इस ग्रन्थ ध्वन्यालोक में ध्वनि का सामान्य छापन भी दिया दिया गया और विशेष भी। अतः इस बात का स्वतः निराकरण हो गया कि ध्वनि का छापन दो ही नहीं सकता।) अथवा 'ध्वनि का छापन नहीं बनाया जा सकता इस कथन में अतिशयोक्ति मानी जा सकती है और इसका आशय यह माना जा सकता है कि ध्वनि काश्चित्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका महत्त्व इतना अधिक है कि वह सभी कल्पनशीलों का अतिक्रमण करनेवाला होता है। यही पर अतिशयोक्ति का आशय है कि उसका प्रकथन किया ही नहीं जा सकता यह कथन उस ध्वनि का महासापेक्ष मान है। जैसे—

निद्रानिमोहितदृशो मदमन्वरावा

नाप्यमवन्ति न च वानि निर्वचनानि ।

अथापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या

तान्दश्याणि हृदये कियपि स्फुरन्ति ॥

'निद्रा के कारण आधी आँखों को बन्द किये हुए उस मृगवती ने मद से भ्रम्यर कुछ ऐसे मधुर अंशों का उच्चारण किया जो न तो सार्वक हो ये न निर्वचक हो। आज भी वे अक्षर मेरे हृदय में किसी भावना का स्फुरण कर रहे हैं।' यहाँ किसी नई भावना का अर्थ है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि जो महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार ध्वनि का भ्रम्यरान नहीं किया जा सकता इन शब्दों का यह अर्थ हो सकता है कि ध्वनि एक सारगर्भित पदार्थ है। वम ध्वनि स्थापना के विषय में मुझे (अमिनन गुप्त को) यही कहना है। (तृतीय उद्योत में अनिर्वचनीय पदों को विशेष मोर्मासा को यह है वही देखी जानी चाहिये।) यह मरी व्याख्या मेरे समस्त पाठकों को शिररूपिया हो।

क्या छापन के न होने पर चन्द्रिका से भी आलोक की शोभा हो सकती है? इसीलिए अमिनन गुप्त ने छात्रानुमीलन किया है। (आशय यह है कि यदि चन्द्रिका छिटी हुई हो प्रकाश फैल रहा हो तो भी जिसके अंश नहीं हैं वह प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता।

ध्वन्यालोक

कस्यचिद्व्यनिर्भेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्यद्यमानप्रमदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्मान्येत, यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यत तदभिधाय्यापारण तदिदोऽलङ्कारवर्गं समग्रं पृथक् लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्य-प्रसङ्गः ।

(अनु०) वह लक्षणा सम्भवत किसी ध्वनिभेद का उपलक्षण हो जावे ।

आगे चलकर ध्वनि का भावभेद बतलावे जावेगा उनमें किसी एक भेद का उपलक्षण सम्भवत लक्षणा हो जावे । यदि कहो कि सारा ध्वनि (उपलक्षण के रूप में) गुणवृत्ति के द्वारा ही लक्षित हो जावेगा तो तब तो बतलाना पड़े कि आभाषा व्यापार के द्वारा उससे निम्न सारा अलङ्कारवर्ग लक्षित ही हो जावेगा फिर प्रत्येक अलङ्कार का पदम् पदम् लक्षण बनाना व्यर्थ हो ही जावेगा ।

लोचनम्

ननु मा भूद्व्यनिरिति भक्तिरिति चैकरूपम् । मा च भूज्जनिध्वनिलक्षणम् । उपलक्षणं तु भावप्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्तीति भवत्युपलक्षितो ध्वनिः । न तावदतस्यैवास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम् ? किंवा न भुक्ति-तम् ? इति उदाह कस्याचदित्यादि । ननु भक्तिस्तावद्विरन्तनैरुक्ता उपलक्षण-

(मदन) ध्वनि और मक्ति ये दोनों एक-रूप नहीं हैं, ध्वनि मक्ति का लक्षण भी नहीं है, उपलक्षण तो हो नावर्गा—जहाँ ध्वनि होती है वहाँ मक्ति भी होती है इस प्रकार ध्वनि मक्ति से उपलक्षित होता है । यह सब नहीं होता इससे क्या दूसरे (विरोधी) का बन गया और क्या हमारा सिद्ध गया ? (उत्तर) इसी का उत्तर देते हैं—कस्यचिद्व्यनिर्भेद इत्यादि ।

(मदन) मक्ति का भाषाओं के द्वारा कही गई है । उसका उपलक्षण के द्वारा समग्रभेदों

वाराचता

परवाच्य ध्वनि में लक्षणा का नहीं होता ही स्वीकार कर लिया है । मैंने केवल विराधियों की टट्टाहट का घान्त करने के लिये (दुर्जनताप न्याय से) यह कह दिया कि विशिष्टान्वयर वाच्य के सत्त्वयकमन्थ्य के उदाहरण (शिखरिणि चनुनाम इत्यादि) में जैसे तैल बाच में लगाया मान भाँटा जावे फिर भी तुम अत-लक्ष्यकमन्थ्य रसध्वनि में क्या करोगे ? (उसका लिये ठा-न्यज्जनाश्रुत मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । अरे माह काफ का क्या बाम सच्ची बात कहना चाहिये ।) यदि बोध का काम नहीं और तुम दुर्गत न हो आशा हम का यहाँ तक कहने का उद्योग है कि अतिविश्रुत वाच्य के उदाहरण 'मुग्धपुण्या इत्यादि' इत्यादि में भाँटाया की सामग्री सज्जित होती हुए भी उसकी बिना ही अपेक्षा किये व्याख्यान की विधान्विष्ट हो जाता है । वस, इस विषय में मुझ रत्ना ही कहना है, अधिक का क्या आनन्दकटा ? रत्नालये कहा गया है कि ध्वनि का लक्षण मक्ति कभी नहीं हो सकती ।

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

लक्षणोऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्वैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययलमप्यसमीहितार्थः । सवृत्ताः स्मः । येऽपि सहृदयद्वयसवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमात्मनासिपुस्तेऽपि न परीक्ष्य-
वादिनः । यत उक्त्या नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यदनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तुनां तत्प्रसक्तम् । यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काम्यान्तरातिशायितैः स्वरूपमाप्यायते तत्तेऽपि युक्तमिवायिन एव ।

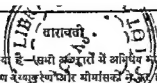
(अनु०) और भी—यदि अन्य आचार्यों ने इस ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे तो हमारे हो पक्ष की सिद्धि होती है ।

यदि पहले कुछ आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है । क्योंकि हमारा पक्ष है कि ध्वनि है । वह पहले ही सिद्ध होगया, इस प्रकार हमारा समी हत अर्थ तो बिना ही प्रत्यक्ष के सम्मान हा गया । जिन लोगों ने यह कहा कि 'ध्वनि की आत्मा (तत्त्व) सहृदयद्वयसवेद्य ही है उसका आस्वादन ही ही नहीं सकता ।' वे भी सोच-समझकर कहनेवाले नहीं हैं । क्योंकि जो नाति हम बड़का चुके हैं या जो भागे चलकर बड़का जायेगा उससे ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों के प्रतिपादित कर देनेपर भी यदि यही कहा जायेगा कि ध्वनि का प्रकटन हो ही नहीं सकता तो यह बात तो सभी के विषय में लागू हो जायेगी । यदि हम अतिशयोक्ति के द्वारा वे लोग ध्वनि के विषय में यह कह रहे हैं कि ध्वनि दूसरे का यों का अलङ्करण करती है तो वे भी ठीक ही बड़बुत हैं ।

लक्षणम्

माभूद्वाऽपूर्वोन्मीलन पूर्वोन्मीलितमेवास्मानिः सम्पद्य निरूपित तयापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह—किञ्चेत्यादि । प्रागेवति । अस्मध्वन्यादिति शेषः । एव निप्रकारमभाववाद, नकरयन्तर्भूतता च निराकुर्वता भल्लक्षणोपलब्धमेतन्मध्य निराकृतमेव । अत एव मूलकारिका साक्षात्चिराकरणाया न धूयते । घुसिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कष्टेन तत्पक्षमनूय निराकरोति—येषांत्या-

अथवा अर्बुब उन्मीलन न हो पूर्वोन्मीलन को हा हय लोगों ने ठीक रूप में निरूपित कर दिया है फिर भी क्या दोष है । इस अभिप्राय से कह्य है—'किञ्च' यह । 'प्रागेव' यह । 'हमारे मत से' यह शेष है (अर्थात् हमारे मत से पहले) । इस प्रकार दोष प्रकार के अभाववाद और भक्ति के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए इसके बाव में अलङ्करीयत्व का निराकरण कर ही दिया । अतएव इसके साक्षात् निराकरण के अर्थवादी मूलकारिका नहीं मनाई देता है । शक्तिकर तो निराकरण किये दूखे को भी प्रमेयशय्या की पूर्ति के निमित्त कष्ट से उस पक्ष का अनुवाद कर दूखित कर रहे हैं—'येषांत्यादि' । उक्त नाति से 'दशार्थः



उत्तर वृत्तिवार ने इस प्रकार दिया है—सभी अर्थद्वारों में अभिप्रेत भव्य व्यापक रूप में रहता है। अभिभावृत्ति का पूर्ण निरूपण वैयर्थ्यपूर्ण और सीमासक्तों में हो दिया था। फिर अलक्ष्य शब्द का प्रयोजन करनेवाले आचार्यों का नाम ही पूर्ण हो रहा गया। इसी प्रकार तात्त्विकों ने जब यह कह ही दिया कि हेतु के द्वारा भावों की उत्पत्ति होती है तब फिर ईश्वर इत्यादि विभिन्न कारणों छाटाओं इत्यादि का निरूपण क्यों कार्य रह जावेगा? इस प्रकार शास्त्रों का सारा उपयोग ही व्यर्थ हो जावेगा। (आगे यह है कि किसी सामान्य बात को कह देने के बाद उसके विशेष प्रतिपादन की आवश्यकता होती ही है। अतः छान्दा की उपलब्ध मान लेने पर भी ध्वनि का समस्त प्रपञ्च तथा उसका निरूपण व्यर्थ नहीं हो जाता।)

अथवा यह भी माना जा सकता है कि ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं। पुराने आचार्यों ने जिसका उन्मीलन कर दिया है उसी का सम्यक् निरूपण हमने कर दिया है। ऐसा मानने में भी क्या दोष? इसी अभिप्राय से उन्नासवीं शताब्दी का उत्तरार्ध लिखा गया है। इसका आशय यह है कि यदि पहले हा और लोका ने ध्वनि का निरूपण कर दिया है तो इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है कि ध्वनि विद्यमान है (और वह काव्य की आत्मा भी है)। पहले ही लिखने का आशय है हमारे लिखने के पहले। (आगे यह है कि यदि प्रतिपत्नी यह कहें कि ध्वनिकार से पहले ही अन्य आचार्यों ने छान्दा का प्रतिपादन किया था। छान्दा की व्याख्या उपलब्धकरक करने से ध्वनि का छान्दा स्वतः ही जाता है। अतः ध्वनि का प्रतिपादन कोई नई वस्तु नहीं। प्रतिपत्तियों का यह कथन तो ध्वनिवार के दावे को ही सिद्ध करता है कि ध्वनि होती है। अतः प्रतिपत्तियों के इस कथन से ध्वनिकार का कुछ नहीं बिगड़ता।) ध्वनि प्रस्तावना में विराधियों के प्रस्तावों का उल्लेख किया गया था—इ अभाववाद सम्प्रदाय १ छान्दा में अन्तर्भाव और १ अभाववक्तव्य वदारी। इस उद्योग में अभाववाद के दोनों पक्षों का निराकरण कर दिया गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया कि ध्वनि का छान्दा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अब अभाववक्तव्यवाद का निराकरण दोष रह गया। इसके लिये ध्वनिकार का एक आध बारिवा हानी चाहिये थी। किन्तु अब तीन प्रकार के अभाववाद का निराकरण हो गया और ध्वनि की छान्दावृत्ति गम्यता भी निराकृत कर दी गई तब अभाववक्तव्यवाद का निराकरण भी स्वाभाविक रूप में हो ही गया। अतएव उसके निराकरण के लिये कोई मूल बारिवा मुन ई नहीं देती। किन्तु वृत्तिकार ने प्रमेय सन्निवृत्ति का पूरा करने के लिये अभिप्राय में ही उसका अनूचित कर निगूह कर दिया है। वह इस प्रकार है—“ओ छान्दा ध्वनि को सद्व्यवस्थितव्यवस्थात्र व्यवस्थात्र चमको निर्बचनानर्हता का प्रतिपादन करते हैं वे भा सोच समझकर नहीं बाह्य, क्योंकि वही दूर तथा बड़ी ज्ञानवाणी नीति से ध्वनि का सामान्य विभिन्न छान्दों का प्रतिपादन कर दन पर भी यदि उसको अनावश्यक कहा जावेगा तो यह बात तो सभी के विषय में घटित

इसोश्रवार ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम की एक टीका लिखी जा चुकी थी। यह इतनी अपूर्ण तथा अस्पष्ट थी कि साधारण पाठक ध्वन्यालोक के रहस्य को इस टीका के द्वारा इस प्रकार नहीं समझ सकता था जिस प्रकार चंद्रिका का सहारा लेकर कोई नेत्रहीन व्यक्ति आलोक का आनन्द नहीं ले सकता। इसीलिए अमनब गुप्त ने छोचन टीका में पाठकों को आँखें खोलने की चेष्टा की है।)

जिन भगवती पार्वती जो की प्रकाशन शक्ति से ही सारा विश्व क्षणभर में प्रकाशित हो जाता है। (अर्थात् जैसे ही भगवती पार्वती अपने कृपा कटाक्ष से हृदय तत्व को उन्मीलित कर देती है वैसे ही सारा विश्व करतलामल्लकम् बिना किसी अन्य उपकरण के हमारे अन्तःकरणों में एकदम उद्घातित होने लगता है।) जो केवल अपने स्वरूप में ही अवस्थित है। अथवा ब्रह्मचिन्मय रूपी आश्रय में जिनका स्वरूप निवास है जो आनन्दस्वरूपिणी है जिनका नाम शिवा है उस आदिशक्ति को हम वन्दना करते हैं।

अथवा जिस प्रतिभा के प्रकाशन से ही सारा विश्व क्षणभर में प्रदीप्त होने लगता है। (अर्थात् यदि प्रतिभा के अन्तःकरण में आगस्क होते ही कवि चितोद्गतां बन जाता है। पुरानी से पुरानी वस्तुएँ उसे चिर नवीन और चिर सुन्दर प्रतीत होती हैं तथा कवि प्रतिभा के सहचार से कार्यगुरुत्व से गुरुत्व वस्तु रमणीय बन जाती है। जो आदिभा निरन्तर अपनी आभा में ही वासना रूप में विद्यमान रहती है, जो शिवा है अर्थात् रसावेश के कारण विनाश भी है, क्षय भी है और आनन्द विधाविनी भी है तथा कोकमद्वय का सम्पादन करनेवाली है। उस कविप्रथा को हम वन्दना करते हैं।

इति सारायता समाप्तोऽर्थः अथ अपोठ ।